1/58
2814

श्री देवेन्द्र सूरि-विरचित

'षडशीति'-अपरनामक

# कर्मग्रन्थ भाग-चार

(आचार्य सम्राट पूज्य श्री १००८ श्री आनन्द ऋषि जी महाराज की ७५वीं दीक्षा जयन्ती पर प्रकाशित)

विवेचक—

पं० सुखलाल जी संघवी

भूतपूर्व प्रोफेसर—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

प्रकाशक:—

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन धार्मिक शिक्षा समिति,

बड़ौत (मेरठ) २५० ६११

# प्रकाशकीय

प्रस्तुत कर्मग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुये हमें परम हर्ष का अनुभव हो रहा है क्योंकि काफी लम्बे समय से यह कर्मग्रन्थ माला जिसके व्याख्याकार श्रद्धेय श्री प० श्री सुखलाल जी संघवी हैं, उपलब्ध नही हो रही थी इस कमी को पूरी करने के लिये हमारी संस्था ने कर्मग्रथ के सम्पूर्ण ६ ही भागों को प्रकाशित करने का निश्चय किया। तदउपरान्त अनेक सहयोगी बंधुओं के सहयोग से इस गुरूत्तर कार्य को पूर्ण भी किया ताकि कर्म सिद्धान्तों के ज्ञान पिपासुओं की तृप्ति हो सके।

प्रस्तुत चौथा कर्मग्रन्थ जो तीसरे कर्म ग्रन्थ को पढ़ने के पश्चात पढ़ना अनिवार्य हो जाता है और इसके पढने के पश्चात पंचसंग्रह व कम्मपयडी आदि ग्रन्थों को समझना सरल हो जाता है इसके प्रकाशन के लिये हम श्री वर्द्धमान जैन पोलीक्लीनक,बड़ौत के पदाधिकारी व सदस्यों को हार्दिक बधाई देते हैं।जिन्होंने परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट पूज्य गुरुदेव श्रीश्री१००८ श्री आनन्द ऋषि जी महाराज की ८८वीं जन्म जयन्ती के पावन अवसर पर इस पुस्तक का सम्पूर्ण व्यय अपने ऊपर लेकर प्रकाशित कराया और अपनी श्रद्धा आचार्य देव के प्रति प्रस्तुत करी।

इस चौथे कर्मग्रथ के प्रकाशन में भी श्री वकील चन्द जी जैन कोषाध्यक्ष की प्रेरणा मुख्य कारण है। उन्होने इस ग्रन्थ को छपवाने व प्रकाशन कराने में भी अथक परिश्रम कर धर्म भावना का परिचय दिया है।

काफी समय पश्चात प्रकाशन होने व मूल साहित्य के उपलब्ध न होने के कारण मुद्रण में अशुद्धिया रहना सम्भव है इसके लिए क्षमा प्रार्थी है आगामी संस्करण हेतु त्रूटियों के सुधार एवं सुझाव सदैव आमन्त्रित है।

धन्यवाद सहित

विनीत :

कैलाश चन्द जैन
अध्यक्ष

**श्री वद्धमान स्था० जैन धार्मिक शिक्षा समिति**
**बड़ौत (मेरठ) 250 611**

# प्रस्तावना का विषयक्रम ।

| विषय । | पृष्ठ । |
|---|---|
| नाम ..... ..... ..... ..... | १ |
| संगति ..... ..... ..... ..... | २ |
| प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ ..... ..... | ३ |
| चौथा कर्मग्रन्थ और आगम पंचसंग्रह तथा गोम्मटसार | ४ |
| विषय-प्रवेश ..... ..... ..... | ६ |
| गुणस्थानका विशेष स्वरूप ..... ..... ..... | १० |
| दर्शनान्तरके साथ जैनदर्शनका साम्य ..... ..... | ३२ |
| योग सम्बन्धी विचार ..... ..... ..... | ४५ |
| योगके भेद और उनका आधार ..... ..... | ४८ |
| योगके उपाय और गुणस्थानों में योगावतार ..... ..... | ४९ |
| पूर्व सेवा आदि शब्दों की व्याख्या ..... ..... | ५२ |
| योगजन्य विभूतियाँ ..... ..... ..... ..... | ५३ |
| गुणस्थान जैसा बौद्ध शास्त्रगत विचार ..... ..... ..... | ५३ |

# विषयानुक्रमणिका ।


| विषय । | पृष्ठ । |
|---|---|
| मङ्गल और विषय ... ... ... ... | १ |
| जीवस्थान आदि विषयों की व्याख्या ... ... ... .. | ३ |
| विषयों के क्रम का अभिप्राय ... ... | ७ |
| [१] जीवस्थान-अधिकार ... — ... ... .. | ९ |
| जीवस्थान ... .. ... ... ... | ९ |
| जीवस्थानों में गुणस्थान ... ... .. .. | ११ |
| जीवस्थानों में योग ... ... ... ... | १५ |
| जीवस्थानों में उपयोग ... ... ... ... | २० |
| जीवस्थानों में लेश्या-बन्ध आदि ... ... ... ... | २४ |
| प्रथमाधिकार के परिशिष्ट ... ... ... ... | ३३ |
| परिशिष्ट "क" ... ... ... | ३३ |
| परिशिष्ट "ख" ... ... ... | ३६ |
| परिशिष्ट "ग" ... ... .. | ३८ |
| परिशिष्ट "घ" ... ... ... | ४० |
| परिशिष्ट "च" ... ... ... | ४३ |
| परिशिष्ट "छ" ... ... .. ... ... | ४५ |
| [२] मार्गणास्थान-अधिकार ... .. ... ... | ४७ |
| मार्गणाके मूल भेद ... ... ... ... | ४७ |
| मार्गणाओं की व्याख्या ... ... ... ... ... | ४७ |
| मार्गणास्थानके अवान्तर भेद .. ... .. ... | ५१ |

विषय


| | |
|---|---|
| गतिमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ५१ |
| इन्द्रियमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ५२ |
| कायमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ५२ |
| योगमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ५२ |
| वेदमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ५३ |
| कषायमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ५५ |
| ज्ञानमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ५६ |
| संयममार्गणा के भेदों का स्वरूप | ५७ |
| दर्शनमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ६२ |
| लेश्यामार्गणा के भेदों का स्वरूप | ६३ |
| भव्यत्वमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ६५ |
| सम्यक्त्वमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ६५ |
| संज्ञीमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ६७ |
| मार्गणाओं में जीवस्थान | ६८ |
| आहारमार्गणा के भेदों का स्वरूप | ६८ |
| मार्गणाओं में गुणस्थान | ८० |
| मार्गणाओं में योग | ९० |
| मनोयोग के भेदों का स्वरूप | ९० |
| वचनयोग के भेदों का स्वरूप | ९१ |
| काययोग के भेदों का स्वरूप | ९२ |
| मार्गणाओं में योग का विचार | ९४ |
| मार्गणाओं में उपयोग | १०५ |
| मार्गणाओं में लेश्या | ११४ |
| मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व | ११५ |
| गतिमार्गणा का अल्प-बहुत्व | ११५ |


मार्गदर्शक :- आचार्य श्रीसुविधिसागर जी महाराज

| विषय | | | | | पृष्ठ |
|---|---|---|---|---|---|
| इन्द्रिय और काय-मार्गणा का अल्प-बहुत्व | | | ... | ... | १२२ |
| योग और वेद-मार्गणा का अल्प बहुत्व | | | ... | — | १२४ |
| कषाय, ज्ञान संयम और दर्शन-मार्गणा का अल्प बहुत्व | | | | | १२५ |
| लेश्या आदि पाँच मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व | | | | ... | १२८ |
| द्वितीयाधिकार के परिशिष्ट | ... | ... | ... | ... | १३४ |
| परिशिष्ट "ज" | ... | ... | ... | ... | १३४ |
| परिशिष्ट "झ" | ... | .. | ... | ... | १३६ |
| परिशिष्ट "ट" | ... | ... | ... | ... | १४१ |
| परिशिष्ट "ठ" | ... | ... | ... | ... | १४३ |
| परिशिष्ट "ड" | | ... | ... | ... | १४६ |
| परिशिष्ट "ढ" | ... | ... | ... | ... | १४८ |
| परिशिष्ट "त" | ... | .. | | ... | १४९ |
| परिशिष्ट "थ" | | ... | ... | ... | १५४ |
| परिशिष्ट "द" | ... | ... | ... | ... | १५५ |
| परिशिष्ट "ध" | ... | ... | ... | — | १५७ |
| [ ३ ] गुणस्थान के अधिकार | | ... | ... | ... | १६१ |
| गुणस्थानों में जीवस्थान | | ... | — | — | १६१ |
| गुणस्थानों में योग | | ... | ... | ... | १६३ |
| गुणस्थानों में उपयोग | | | ... | ... | १६७ |
| सिद्धान्त के कुछ मन्तव्य | | ... | ... | ... | १६८ |
| गुणस्थानों में लेश्या तथा बन्ध-हेतु | | ... | ... | ... | १७२ |
| बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद तथा गुणस्थानों में मूल बन्ध-हेतु | | | | | १७५ |
| एक सौ बीस प्रकृतियों के यथा संभव मूल बन्ध-हेतु | | | | ... | १७९ |


मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| गुणस्थानों में उत्तर बन्ध-हेतुओं का सामान्य तथा विशेष वर्णन ... ... ... ... ... | १८१ |
| गुणस्थानों में बन्ध ... ... ... — | १८७ |
| गुणस्थानों में सत्ता तथा उदय ... ... ... | १८९ |
| गुणस्थानों में उदीरणा ... ... ... ... | १९० |
| गुणस्थानों में अल्प बहुत्व ... ... ... ... | १९२ |
| छह भाव और उनके भेद ... ... ... ... | १९६ |
| कर्म के और धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्यों के भाव | २०४ |
| गुणस्थानों में मूल भाव ... ... ... ... | २०६ |
| संख्या का विचार ... ... ... | २०८ |
| संख्या के भेद-प्रभेद ... — ... ... | २०८ |
| संख्या के तीन भेदों का स्वरूप ... ... ... | २०९ |
| पल्यों के नाम तथा प्रमाण ... ... ... ... | २१० |
| पल्यों के भरने आदि की विधि ... ... ... | २१२ |
| सर्षप-परिपूर्ण पल्यों का उपयोग ... ... ... | २१७ |
| असंख्यात और अनन्त का स्वरूप ... ... | २१८ |
| असंख्यात तथा अनन्त के भेदो के विषय में कार्मग्रन्थिक मत | २२१ |
| तृतीयाधिकार के परिशिष्ट ... — ... ... | २२७ |
| परिशिष्ट "ए" ... ... ... ... ... | २२७ |
| परिशिष्ट "क" ... ... ... ... ... | २२९ |
| परिशिष्ट "ब" ... ... ... ... ... | २३१ |
| परिशिष्ट नं० १ ... — ... ... — | २३३ |
| परिशिष्ट नं० २ ... ... ... ... ... | २३९ |
| परिशिष्ट नं० ३ ... ... — ... — | २४० |

# चौथा कर्मग्रन्थ मूल ।

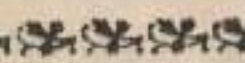

नमियजिणं जिअमग्गण,-गुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥
इह सुहुमबायरेगिं, दिबितिचउअसंनिसंनिपंचिंदी ।
अपजत्ता पज्जत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥२॥
बायरअसंनिविगले, अपज्जि पढमबिय संनि अपजत्ते ।
अजयजुअ संनि पज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥३॥
अपजत्तछक्कि कम्मुर, लमोसजोगा अपज्जसंनीसु ।
ते सविउवमीस एसु तणुपज्जेसु उरलमन्ने ॥४॥
सव्वे संनि पजत्ते, उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु ।
बायरि सविउव्विदुगं, पजसंनिसु बार उवओगा ॥५॥
पजचउरिंदिअसंनिसु, दुदंस दु अनाण दससु चक्खुविणा
संनिअपज्जे मणना,-णचक्खुकेवलदुगविहुणा ॥६॥
संनिदुगे छलेसअप,-ज्जबायरे पढम चउ ति सेसेसु ।
सत्तट्ठ बन्धुदीरण, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥ ७ ॥
सत्तट्ठछछेगबंधा, संतुदया सत्तअट्ठचत्तारि ।
सत्तट्ठछपंचदुगं, उदीरणा संनिपज्जत्ते ॥८॥
गइइंदिए य काये, जोए वेए कसायनाणेसु ।
संजमदंसणलेसा,-भवसम्मे संनिआहारे ॥ ९ ॥

सुरनरतिरिनिरयगई, इगबियतियचउपणिंदि छक्काया ।
भूजलजलणानिलवण,-तसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०॥
वेय नरित्थिनपुंसा, कसाय कोहमयमायलोभ त्ति ।
मइसुयवहिमणकेवल -विहंगमइसुअनाण सागारा ॥११॥
सामाइछेयपरिहा, रसुहमअहखायदेसजयअजया ।
चक्खुअचक्खूओही,-केवलदंसण अणागारा ॥ १२ ॥
किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा ।
वेयगखइगुवसमि,-च्छमीससासाण संनियरे ॥१३॥
अहारेयर भेया, सुरनरयविभगमइसुओहिदुगे ।
सम्मत्ततिगे पम्हा,--सुक्कासन्नीसु सन्निदुगं ॥१४॥
तमसंखिअपज्जजुयं,--नरे सबायरअपज्ज तेऊए ।
थावर इगिंदि पढमा, चउ बार असन्नि दुदुविगले ॥१५॥
दस चरम तसे अजया,-हारगतिरितणुकसायदुअनाणे ।
पढमतिजे ताभवियर,-अचक्खुनपुमिच्छि सव्वे वि ॥१६॥
पजसन्नी केवलदुग,-संजयमणनाणदेसमणमीसे ।
पण चरमपज्ज वयणे, तिय छ व पज्जियर चक्खुंमि ॥१७॥
थीनरपणिंदि चरमा, चउ अणहारे दु संनि छ अपज्जा ।
ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥
पणतिरि चउ सुरनरए, नरसंनिपणिंदिभव्वतसि सव्वे ।
इगविगलभूदगवणे, दु दु एगं गइतसअभव्वे ॥ १९ ॥
वेयतिकसाय नव दस, लोभेचउ अजय दुति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खु चक्खुसु, पढमा अहखाइ चरम चउ ॥२०॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी



मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमा, जयाइ नव मइ सुओहिदुगे ॥२१॥
अड उवसमि चउ वेयगि, खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमे य सठाणं तेर-ऽ जोग आहार सुक्काए ॥ २२ ॥
अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छ च्च दुसु सत्त ।
पढमंतिदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥
सच्चयरमीसअस,-च्चमोसमणवइविउव्वियाहारा ।
उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥
नरगइपणिंदितसतणु-अचक्खुनरनपुकसायसंदुमगे ।
संनिछलेसाहारग,-भवमइसुओहिदुगे सव्वे ॥२५॥
तिरिइत्थिअजयसासण,-अनाणउवसमअभव्वमिच्छेसु ।
तेराहारदुगूणा, ते उरलदुगूण सुरनरए ॥२६॥
कम्मुरलदुगं थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।
छ असंनि चरमवइजुय, ते विउवदुगुण चउ विगले ॥२७॥
कम्मुरलमोसविणु मण,-वइसमइयछेयचक्खुमणनाणे ।
उरलदुगकम्म पढमं,-तिममणवइ केवलदुगंमि ॥ २८ ॥
मणवइउरला परिहा,-रिसुहुमि नवते उमीसि सविउव्वा ।
देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमीस अहखाए ॥२९॥
तिअनाण नाण पण च उ, दंसण बार जियलक्खणुवओगा ।
विणु मणनाणदुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥
तसजोयवेयसुक्का,-हारनरपणिंदिसंनिभवि सव्वे ।
नयणेयरपणलेसा,-कसाइ दस केवलदुगूणा ॥३१॥

चउरिंदिअसंनि दुअना,- णदंसण इगिवितियावरि अचक्खु ।
तिअनाण दंसणदुगं,- अनाणतिगअभवि मिच्छदुगं ॥३२॥
केवलदुगे नियदुगं, नव तिअनाण विणु खइय अहखाये ।
दंसणनाणतिगं दे,-सि मीसि अन्नाणमीसं तं ॥ ३३ ॥
मणनाणचक्खुवज्जा, अणहारि तिन्नि दंसण चउ नाणा ।
चउनाणसंजमोवस,-मवेयगे ओहिदंसे य ॥ ३४ ॥
दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे ।
चउ दु पण तिन्नि काये, जियगुणजोगोवओगन्ने ॥ ३५ ॥
छसु लेसासु सठाणं, एगिदिअसंनिभूदगवणेसु ।
पढमा चउरो तिन्नि उ, नारयविगलग्गिपवणेसु ॥३६॥
अहखायसुहुमकेवल,- दुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।
नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असंखणंतगुणा ॥३७॥
पणचउतिदुएगिंदि, थोवा तिन्निअहिया अणंतगुणा ।
तस थोव असंखग्गी, भूजलानिल अहिय वण णंता ॥३८॥
मणवयणकायजोगा, थोवा असंखगुण अणंतगुणा ।
पुरिसा थोवा इत्थी संखगुणाणंतगुण कीवा ॥३९॥
माणी कोही माई, लोही अहिय मणनाणिणो थोवा ।
ओहि असंखा मइसुय, अहियसम असंख विब्भंगा ॥४०॥
केवलिणो णंतगुणा, मइसुयअन्नाणि णंतगुण तुल्ला ।
सुहुमा थोवा परिहा-र संख अहखाय संखगुणा ॥४१॥
छेयसमईय संखा, देस असंखगुण णंतगुण अजया ।
थोवअसंखदुणंता, ओहिनयणकेवलअचक्खू ॥४२॥

पज्जाणुपुव्विलेसा, थोवा दो संख णंत दो अहिया ।
अभवियर थोवणंता, सासण थोवोवसम संखा ॥४३॥
मीसा संखा वेयग, असंखगुण खइयमिच्छ दु अणंता ।
संनियर थोव णंता,-णहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥
सव्वजियठाण मिच्छे,सग सासणि पण अपज्जसन्निदुगं ।
संमे सन्नी दुविहो, सेसेसुं संनिपज्जत्तो ॥ ४५ ॥
मिच्छदुगअजइ जोगा,-हारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइ उरलं [illegible],-वद मीसि न विउव्वहुग देसे ॥४६॥
साहारदुग पमत्ते, ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगंताइम,- मणवयण सयोगि न अजोगी ॥४७॥
तिअनाणदुदंसाइम,- दुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं ।
ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केवलदु अंतदुगे ॥ ४८ ॥
सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं ।
नेगिदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४९॥
छसु सव्वां तेउतिगं,इगि छसु सुक्का अयोगि अल्लेसा ।
बंधस्स मिच्छ अविरइ,-कसायजोगत्ति च उ हेऊ ॥५०॥

अभिगहियमणभिगहिया,-भिनिवसियसंसइयमणाभोगं ।
पणमिच्छ बार अविरइ,मणकरणानियमुछजियवहो ॥५१॥
नव सोल कसाया पन,-र जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना ।

इगचउपणतिगुणेसु, चउतिदुइगपञ्चओ बंधो ॥५२॥
चउमिच्छमिच्छअविरइ,-पच्चइया सायसोलपणतीसा ।
जोग विणु तिपच्चइया,-हारगजिणवज्जसेसाओ ॥५३॥

पणपन्न पन्न तियछहि,-अचत्त गुणचत्तछचउदुगवीसा।
सोलस कस नव नव स,-त्तहेऊणा न उ अजोगिमि ॥५४॥
पणपन्न मिच्छि हारग,-दुगूण सासाणि पन्नमिच्छ विणा।
मिस्सदुगकंमअणविणु,-तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥
संदुमिस्सकंम अजए, अविरइकम्मूर लमीसबिकसाये।
मुत्तु गुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमत्त ॥५६॥
अविरइइगारतिकसा,-यवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण, बुवीस अविउव्वियाहारा ॥५७॥
अछहास सोल बायरि,सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुव्वुत्त सगजोगा ॥५८॥
अपरमत्त ता सत्त,-दु॰ मीसअप्पुव्वबायरा सत्त।
बंधइ छस्सुहुमो ए,-गमुवरिमा बंधगाऽजोगी ॥५९॥
आसुहुमं संतुदये, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणंमि।
चउ चरिमदुग अट्ठ उ, संते उवसंति सत्त दए ॥६०॥
उइरंति पमत्त ता, सगट्ठ मोसट्ठ वेयआउ विणा।
छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥६१॥
पण दो खीण दु जोगो,-णुदीरगु अजोगि थोव उवसंता।
संखगुण खीण सुहुमा,-नियट्टिअप्पुव्व सम अहिया ॥६२॥
जोगिअपमत्तइयरे, संखगुणा देससासणामीसा।
अविरय अजोगिमिच्छा असंखचउरो दुवे पंता ॥६३॥
उवसमखयमीसोदय, परिणामा दुनवट्ठारइगवीसा।
तिय भेय संनिवाइय संमं चरणं पढमभावे ॥६४॥

बीए केवलजुयलं, संमं दाणाइलद्धि पण चरणं ।
तइए सेसुवओगा, पण लद्धी सम्मविरइदुगं ॥ ६५ ॥
अन्नाणमसिद्धत्ता,-संजमलेसाकसायइवेया ।
मिच्छं तुरिए भव्वा,-भव्वत्तजियत्त परिणामे ॥ ६६ ॥
चउ चउगईसु मीसग,-परिणामुदएहिं चउ सन्नइएहिं ।
उवसमजुएहिं वा चउ, केवलि परिणामुदयखइए ॥ ६७ ॥
खयपरिणामे सिद्धा, नराण पणजोगुवसमसेढीए ।
इय पनर संनिवाइय,-भेया बीसं असंभविणो ॥ ६८ ॥
मोहेव समो मीसो, चउघाइसु अट्ठकम्मसु च सेसा ।
धम्माइपारिणामिय,-भावे खंधा उदइए वि ॥ ६९ ॥
संभाइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुव सामगुवसंते ।
चउ खीणापुव्व तिन्नि, सेसगुणट्ठाणगगजिए ॥ ७० ॥
संखिज्जेगमसंखं, परित्तजुत्तनियपयजुयं तिविहं ।
एवमणंतं पि तिहा, जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥ ७१ ॥
लहुसंखिज्जं दुचियं, अओ परं मज्झिम जा गुरुअं ।
जंबूदीवपमाणय,-चउपल्लपरूवणाइ इमं ॥ ७२ ॥
पल्लाणवट्ठियसला,-ग पडिसलागामहासलागक्खा ।
जोयणसहसोगाढा, सवेइयंता ससिहभरिया ॥ ७३ ॥
ता दीवुदहिसु इक्कि-क्कसरिसवं खिविय निट्ठए पढमे ।
पढमं व तदन्तं चिय पुण भरिय तंमि तह खीणे ॥ ७४ ॥
खिप्पइ सलागपल्ले,-गु सरिसवो इय सलागखवणेणं ।
पुन्ना बीयो य तओ, पुव्विव पि व तमि उद्धरिए ॥ ७५ ॥

खीणे सलाग तइए, एवं पढमेहिं बीययं भरसु ।
तेहिं तइयं तेहि य, तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६॥
पढमतिपल्लुद्धरिया, दीवुदही पल्लचउसरिसवा य ।
सव्वो वि एगरासी, रूवूणो परमसंखिज्जं ॥ ७७ ॥
रूवजुयं तु परित्ता,-संखं लहु अस्स रासि अब्भासे ।
जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिणामं ॥ ७८ ॥
बितिचउपंचभगुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्ता ।
णंता ते रूवजुया, मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥ ७९ ॥
इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं ।
होइ असंखासंख लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥
रूवूणमाइम गुरु, तिवग्गिउ तं इमे दस छखेवे ।
लोगाकासपएसा, धम्माधम्मेगजियदेसा ॥ ८१ ॥
ठिइबंधज्झवसाया, अणुभागा जोगछेयपलिभागा ।
दुण्ह य समाण समया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥ ८२ ॥
पुणरवि तंमि तिवग्गिय, परित्तणंत लहु तस्सरामीणं ।
अब्भा से लहु जुत्ता, णंतं अभव्वजियपमाणं ॥ ८३ ॥
तव्वग्गे पुण जायइ, णंताणंत लहु तं च तिवखुत्तो ।
वग्गसु तह विनतंहो,-इणंतखेवे खिवसु छ इमे ॥ ८४ ॥
सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई कालपुग्गला चेव ।
सव्वमलोगनहं पुण, तिवरिगउं केवलदुगंमि ॥ ८५ ॥
खित्ते णंताणंतं, हवेइ जिट्ठं तु ववहरइ मज्झं ।
इय सुहुमत्थवियारो, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥ ८६ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

# प्रस्तावना ।

ॐ

## नाम ।

प्रस्तुत प्रकरण का 'चौथा कर्मग्रन्थ' यह नाम प्रसिद्ध है, किन्तु इसका असली नाम षडशीतिक है । यह 'चौथा कर्मग्रन्थ' इसलिये कहा गया है कि छह कर्मग्रन्थों में इसका नम्बर चौथा है; और 'षडशीतिक' नाम इसलिये नियत है कि इसमें मूल गाथाएँ छियासी हैं । इसके सिवाय इस प्रकरण को 'सूक्ष्मार्थ विचार' भी कहते हैं, सो इसलिये कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में "सुहुमत्थ वियारो" शब्द-का उल्लेख किया है । इस प्रकार देखने से यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि प्रस्तुत प्रकरण के उक्त तीनों नाम अन्वर्थ–सार्थक हैं ।

यद्यपि टबावाली प्रति जो श्रीयुत् भीमसी माणिक द्वारा 'निर्णय-सागर प्रेस बम्बई' से प्रकाशित 'प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग' में छपी है, उसमें मूल गाथाओं की संख्या नवासी है, किन्तु वह प्रका-शक की भूल है । क्योंकि उसमें जो तीन गाथाएँ दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर मूल रूप में छपी हैं, वे वस्तुतः मूल रूप नहीं हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण की विषय-संग्रह गाथाएँ हैं । अर्थात् इस प्रक-रण में मुख्य क्या क्या विषय हैं और प्रत्येक मुख्य विषय से सम्बन्ध रखने वाले अन्य कितने विषय हैं, इसका प्रदर्शन कराने वाली वे गाथाएँ हैं । अतएव ग्रन्थकार ने उक्त तीन गाथाएँ स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत की हैं, मूल रूप से नहीं ली हैं और न उन पर टीका की है।

# संगति

पहले तीन कर्मग्रन्थों के विषयों की संगति स्पष्ट है। अर्थात् पहले कर्म ग्रन्थ में मूल तथा उत्तर कर्म प्रकृतियों की संख्या और उनका विपाक वर्णन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थ में प्रत्येक गुणस्थान को लेकर उसमें यथासम्भव बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तागत उत्तर प्रकृतियों की संख्या बतलाई गई है और तीसरे कर्मग्रन्थ में प्रत्येक मार्गणास्थान को लेकर उसमें यथा सम्भव गुणस्थानों के विषय में उत्तर कर्मप्रकृतियों का बन्धस्वामित्व वर्णन किया है। तीसरे कर्म-ग्रन्थ में मार्गणास्थानों में गुणस्थानों को लेकर बन्धस्वामित्व वर्णन किया है सही किन्तु मूल में कहीं भी यह विषय स्वतन्त्र रूप से नहीं कहा गया है कि किस किस मार्गणास्थान में कितने कितने और किन-किन गुणस्थानों का सम्भव है।

अतएव चतुर्थ कर्मग्रन्थ में इस विषय का प्रतिपादन किया है और उक्त जिज्ञासा की पूर्ति की गई है। जैसे मार्गणास्थानों में गुण स्थानों की जिज्ञासा होती है, वैसे ही जीवस्थानों में गुणस्थानों की और गुणस्थानों में जीवस्थानों की भी जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं बल्कि जीवस्थानों में योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की और मार्गणास्थानों में जीवस्थान, योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की तथा गुणस्थानों में योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की भी जिज्ञासा होती है। इन सब जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिये चतुर्थ कर्मग्रन्थ की रचना हुई है। इसी से इसमें मुख्यतया जीवस्थान मार्गणास्थान, और गुणस्थान, ये तीन अधिकार रक्खे गये हैं। और प्रत्येक अधिकार में क्रमशः आठ, छह दस विषय वर्णित हैं, जिनका निर्देश पहली गाथा के भावार्थ में पृष्ठ २ पर तथा स्फुट नोट में संग्रह गाथाओं के द्वारा किया गया है। इसके सिवाय प्रसंग

वश इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने भावों का और संख्या का भी विचार किया है ।

यह प्रश्न हो ही नहीं सकता कि तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति के अनुसार मार्गणास्थानों में गुणस्थानों मात्र का प्रतिपादन करना आवश्यक होने पर भी, जैसे अन्य-अन्य विषयों का इस ग्रन्थ में अधिक वर्णन किया है, वैसे और भी नये-नये कई विषयों का वर्णन इसी ग्रन्थ में क्यों नहीं किया गया ? क्योंकि किसी भी एक ग्रन्थ में सब विषयों का वर्णन असम्भव है । अतएव कितने और किन विषयों-का किस क्रम से वर्णन करना, यह ग्रन्थकार की इच्छा पर निर्भर है; अर्थात् इस बात में ग्रन्थकार स्वतन्त्र है । इस विषय में नियोग-पर्यनुयोग करने का किसी को अधिकार नहीं है ।

## प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

'षडशीतिक' यह मुख्य नाम दोनों का समान है, क्योंकि गाथाओं की संख्या दोनों में बराबर छियासी ही है । परन्तु नवीन ग्रन्थकार ने 'सूक्ष्मार्थ विचार' ऐसा नाम दिया है और प्राचीन की टीका के अन्त में टीकाकार ने उसका नाम 'आगमिक वस्तु विचारसार' दिया है । नवीन की तरह प्राचीन में भी मुख्य अधिकार जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये तीन ही हैं । गौण अधिकार भी जैसे नवीन क्रमशः आठ, छह तथा दस हैं, वैसे ही प्राचीन में भी हैं । गाथाओं की संख्या समान होते हुए भी नवीन में यह विशेषता है कि उसमें वर्णन शैली संक्षिप्त करके ग्रन्थकार ने दो और विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं । पहला विषय 'भाव' और दूसरा 'संख्या' है । इन दोनों का स्वरूप नवीन में सविस्तार है और प्राचीन में बिलकुल नहीं है । इसके सिवाय प्राचीन और नवीन का विषय-साम्य तथा क्रम-साम्य बराबर है । प्राचीन पर टीका, टिप्पणी,

विवरण, उद्धार, भाष्य आदि [illegible] अपेक्षा अधिक हैं। हां, नवीन पर, जैसे गुजराती टबे हैं, वैसे प्राचीन पर नहीं हैं।

इस सम्बन्ध की विशेष जानकारी के लिये अर्थात् प्राचीन और नवीन पर कौन-कौन सी व्याख्या किस-किस भाषा में और किस किस की बनाई हुई है, इत्यादि जानने के लिये पहले कर्मग्रन्थ के आरम्भ में जो कर्मविषयक साहित्य की तालिका दी है, उसे देख लेना चाहिये।

## चौथा कर्मग्रन्थ और आगम, पंचसंग्रह तथा गोम्मटसार।

यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थ का कोई-कोई (जैसे गुणस्थान आदि) वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में नामान्तर तथा प्रकारान्तर से वर्णन किया हुआ मिलता है, तथापि उसकी समान कोटिका कोई खास ग्रन्थ उक्त दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

जैन-साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर, दो सम्प्रदायों में विभक्त है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य में विशिष्ट विद्वानों की कृति स्वरूप 'आगम' और 'पञ्चसंग्रह' ये प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें कि चौथे कर्मग्रन्थ का सम्पूर्ण विषय पाया जाता है, या यों कहिये कि जिनके आधार पर चौथे कर्मग्रन्थ की रचना ही की गई है।

यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थ में और जितने विषय जिस क्रम से वर्णित हैं, वे सब उसी क्रम से किसी एक आगम तथा पञ्चसंग्रह किसी एक भाग में वर्णित नहीं हैं; तथापि भिन्न-भिन्न आगम और पञ्च-संग्रह के भिन्न-भिन्न भाग में उसके सभी विषय लगभग मिल जाते हैं। चौथे कर्मग्रन्थ का कौन सा विषय किस आगम में और पञ्च संग्रह के किस भाग में आता है। इसकी सूचना प्रस्तुत अनुवाद में

उस उस विषय के प्रसंग में टिप्पणी के तौर पर यथासम्भव कर दी गई है, जिससे कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अभ्यासियों को आगम और पञ्चसंग्रह के कुछ उपयुक्त स्थल मालूम हों तथा मतभेद और विशेषताएँ ज्ञात हों ,

प्रस्तुत ग्रन्थ के अभ्यासियों के लिये आगम और पञ्चसंग्रह का परिचय करना लाभदायक है; क्योंकि उन ग्रन्थों के गौरव का कारण सिर्फ उनकी प्राचीनता ही नहीं है, बल्कि उनकी विषय-गम्भीरता तथा विषयस्फुटता भी उनके गौरव का कारण है।

'गोम्मटसार' यह दिगम्बर सम्प्रदाय का कर्म-विषयक एक प्रतिष्ठित ग्रन्थ है, जो कि इस समय उपलब्ध है। यद्यपि वह श्वेताम्बरीय आगम तथा पञ्चसंग्रह की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है, फिर भी उसमें विषय-वर्णन, विषय-विभाग और प्रत्येक विषय के लक्षण बहुत स्फुट हैं । गोम्मटसार के 'जीवकाण्ड' और 'कर्मकाण्ड' ये मुख्य दो विभाग हैं । चौथे कर्मग्रन्थ का विषय जीवकाण्ड में ही है और वह इससे बहुत बड़ा है यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थ के सब विषय प्रायः जीवकाण्ड में वर्णित हैं, तथापि दोनों की वर्णनशैली बहुत अंशों में भिन्न है।

जीवकाण्ड में मुख्य बीस प्ररूपणाएँ हैं:—१ गुणस्थान, १ जीव स्थान, १ पर्याप्ति, १ प्राण, १ संज्ञा, १४ मार्गणाएँ और १ उपयोग, कुल बीस । प्रत्येक प्ररूपण का उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। अनेक स्थलों में चौथे कर्मग्रन्थ के साथ उसका मतभेद भी है।

इसमें सन्देह नहीं कि चौथे कर्मग्रन्थ के पाठियों के लिये जीवकाण्ड एक खास देखने की वस्तु है; क्योंकि इससे अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती हैं । कर्मविषयक अनेक विशेष बातें जैसे श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में लभ्य हैं, वैसे ही अनेक विशेष बातें, दिगम्बरीय ग्रन्थों में भी लभ्य हैं । इस कारण दोनों सम्प्रदाय के

विशेष जिज्ञासुओं को एक दूसरे के समान विषयक ग्रन्थ अवश्य देखने चाहिएँ। इसी अभिप्राय से अनुवाद में उस उस विषय का साम्य और वैषम्य दिखाने के लिये जगह जगह गोम्मटसार के अनेक उपयुक्त स्थल उद्धृत तथा निर्दिष्ट किये हैं।

## विषय-प्रवेश

जिज्ञासु लोग जब तक किसी भी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय नहीं कर लेते तब तक उस ग्रन्थ के अध्ययन के लिये प्रवृत्ति नहीं करते। इस नियम के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के निमित्त योग्य अधिकारियों की प्रवृत्ति कराने के लिये यह आवश्यक है कि शुरू में प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का परिचय कराया जाय। इसी को "विषय-प्रवेश" कहते हैं।

विषय का परिचय सामान्य और विशेष दो प्रकार से कराया जा सकता है।

(क) ग्रन्थ किस तात्पर्य से बनाया गया है; उसका मुख्य विषय क्या है और वह कितने विभागों में विभाजित है; प्रत्येक विभाग से सम्बन्ध रखने वाले अन्य कितने-कितने और कौन-कौन विषय हैं; इत्यादि वर्णन करके ग्रन्थ के शब्दात्मक कलेवर के साथ विषय-रूप आत्मा के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण कर देना अर्थात् ग्रन्थ का प्रधान और गौण विषय क्या-क्या है तथा वह किस-किस क्रम से वर्णित है, इसका निर्देश कर देना, यह विषय का सामान्य परिचय है।

(ख) लक्षण द्वारा प्रत्येक विषय का स्वरूप बतलाना यह उसका विशेष परिचय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का विशेष परिचय तो उस-उस विषय का वर्णन-स्थान में ही यथासम्भव मूल में किंवा विवेचन में करा दिया

गया है। अतएव इस जगह विषय का सामान्य परिचय कराना ही आवश्यक एवं उपयुक्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ बनाने का तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करके यह बतलाया जाय कि अमुक-अमुक अवस्थायें औपाधिक, वैभाविक किंवा कर्म-कृत होने से अस्थायी तथा हेय हैं; और अमुक-अमुक अवस्था स्वाभाविक होने के कारण स्थायी तथा उपादेय है। इसके सिवा यह भी बतलाना है कि, जीव का स्वभाव प्राय विकाश करने का है। अतएव वह अपने स्वभाव के अनुसार किस प्रकार विकास करता है और तद्द्वारा औपाधिक अवस्थाओं को त्याग कर किस प्रकार स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव करता है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्यतया पाँच विषय वर्णन किये हैं। श्री सुविधिसागर जी महाराज

(१) जीव स्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) भाव और (५) संख्या।

इनमें से प्रथम मुख्य तीन विषयों के साथ अन्य विषय भी वर्णित हैं :—जीवस्थान में (१) गुणस्थान, (२ योग (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता ये आठ विषय वर्णित हैं। मार्गणास्थान में (१) जीवस्थान (२) गुण-स्थान, (३ योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प-बहुत्व, ये छः विषय वर्णित हैं। तथा गुणस्थान में (१) जीवस्थान, (२) योग (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध-हेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता और (१०) अल्प-बहुत्व, ये दस विषय वर्णित हैं। पिछले दो विषयों का अर्थात् भाव और संख्या का वर्णन अन्य अन्य विषय के वर्णन से मिश्रित नहीं है, अर्थात् उन्हें लेकर अन्य कोई विषय वर्णन नहीं किया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



इस तरह देखा जाय तो प्रस्तुत ग्रन्थ के शास्त्रात्मक कलेवर के मुख्य पाँच हिस्से हो जाते हैं।

पहिला हिस्सा दूसरी गाथा से आठवीं गाथा तक का है, जिसमें जीवस्थान का मुख्य वर्णन करके उसके सम्बन्धी उक्त आठ विषयों का वर्णन किया गया है। दूसरा हिस्सा नवीं गाथा से लेकर चौवालिसवीं गाथा तक का है, जिसमें मुख्यतया मार्गणास्थान को लेकर उसके सम्बन्ध से छः विषयों का वर्णन किया गया है। तीसरा हिस्सा पैंतालिसवीं गाथा से लेकर त्रेसठवीं गाथा तक का है, जिसमें मुख्यतया गुणस्थान को लेकर उसके आश्रय से उक्त दस विषयों का वर्णन किया गया है। चौथा हिस्सा चौसठवीं गाथा से लेकर सत्तरवीं गाथा तक का है, जिसमें केवल भावों का वर्णन है। पाँचवाँ हिस्सा इकहत्तरवीं गाथा से छियासीवीं गाथा तक की है, जिसमें सिर्फ संख्या का वर्णन है। संख्या के वर्णन के साथ ही ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

जीवस्थान आदि उक्त मुख्य तथा गौण विषयों का स्वरूप पहली गाथा के भावार्थ में लिख दिया गया है; इसलिये फिर से यहाँ लिखने की जरूरत नहीं है। यथापि यह लिख देना आवश्यक है कि प्रस्तुत ग्रन्थ बनाने का उद्देश्य जो ऊपर लिखा गया है, उसकी सिद्धि जीवस्थान आदि उक्त विषयों के वर्णन से किस प्रकार हो सकती है।

जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान और भाव ये सांसारिक जीवों की विविध अवस्थाएँ हैं। जीवस्थान के वर्णन से यह मालूम किया जा सकता है कि जीवस्थान रूप चौदह अवस्थाएँ जाति-सापेक्ष हैं किंवा शारीरिक रचना के विकास या इन्द्रियों की न्यूनाधिक संख्या पर निर्भर हैं। इसी से सब कर्मकृत या वैभाविक होने के कारण अन्त में हेय हैं। मार्गणास्थान के बोध से यह विदित हो जाता है कि सभी मार्गणाएँ जीव की स्वाभाविक अवस्था-रूप

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



नहीं हैं । केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र और अनाहारकत्व के सिवाय अन्य सब मार्गणाएँ न्यूनाधिक रूप में अस्वाभाविक हैं । अतएव स्वरूप की पूर्णता के इच्छुक जीवों के लिये अन्त में वे हेय ही हैं । गुण स्थान के परिज्ञान से यह ज्ञात हो जाता है कि गुणस्थान यह आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने वाले आत्मा की उत्तर-उत्तर-विकास-सूचक भूमिकाएँ हैं । पूर्व-पूर्व भूमिका के समय उत्तरोत्तर भूमिका उपादेय होने पर भी परिपूर्ण विकास हो जाने से वे सभी भूमिकाएँ आप ही आप छूट जाती हैं । भावों की जानकारी से यह निश्चय हो जाता है कि क्षायिक भावों को छोड़ कर अन्य सब भाव चाहे वे उत्क्रान्ति काल में उपादेय क्यों न हों, पर अन्त में हेय ही हैं । इस प्रकार जीवका स्वाभाविक स्वरूप क्या है और अस्वाभाविक क्या है, इसका विवेक करने के लिए जीवस्थान आदि उक्त विचार जो प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है, वह आध्यात्मिक विद्या के अभ्यासियों के लिए अतीव उपयोगी है ।

आध्यात्मिक ग्रन्थ दो प्रकार के हैं । एक तो ऐसे हैं जो सिर्फ आत्मा के शुद्ध, स्वरूप और दूसरे अशुद्ध तथा मिश्रित स्वरूप का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ दूसरी कोटि का है । अध्यात्म-विद्या के प्राथमिक और माध्यमिक अभ्यासियों के लिये ऐसे ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं, क्योंकि उन अभ्यासियों की दृष्टि व्यवहार-परायण होने के कारण ऐसे ग्रन्थों के द्वारा ही क्रमशः केवल पारमार्थिक स्वरूप-ग्राहिणी बनाई जा सकती है ।

अध्यात्मिक-विद्या के प्रत्येक अभ्यासी की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आत्मा किस प्रकार और किस क्रम से आध्यात्मिक विकास करता है, तथा उसे विकास के समय कैसी-कैसी अवस्था का अनुभव होता है । इस जिज्ञासा की पूर्ति की दृष्टि से देखा जाय तो अन्य विषयों की अपेक्षा गुणस्थान का महत्त्व अधिक है । इस

खयाल से इस जगह गुणस्थान का स्वरूप कुछ विस्तार के साथ लिखा जाता है। साथ ही यह भी बतलाया जायगा कि जैन शास्त्र की तरह वैदिक तथा बौद्ध-शास्त्र में भी आध्यात्मिक विकास का कैसा वर्णन है। यद्यपि ऐसा करने में कुछ विस्तार अवश्य हो जायगा, तथापि नीचे लिखे जाने वाले विचार से जिज्ञासुओं की यदि कुछ भी ज्ञान-वृद्धि तथा रुचि-शुद्धि हुई तो यह विचार अनुपयोगी न समझा जायगा।

## गुणस्थान का विशेष स्वरूप।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों को अर्थात् विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैन शास्त्र में गुणस्थान इस पारिभाषिक शब्द का मतलब आत्मिक शक्तियों के आविर्भावकी—उनके शुद्ध कार्यरुप में परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्थाओं से है। आत्मा का वास्तविक स्वरुप शुद्ध-चेतना और पूर्णानन्दमय है। पर उसके ऊपर जब तक तीव्र आवरणों के घने बादलों की घटा छाई हो, तब तक उसका असली स्वरुप दिखाई नहीं देता। किन्तु आवरणों के क्रमशः शिथिल या नष्ट होते ही उसका असली स्वरूप प्रकट होता है। जब आवरणों की तीव्रता आखरी हद्द की हो, तब आत्मा प्राथमिक अवस्था में—अविकसित अवस्था में पड़ा रहता है। और जब आवरण बिलकुल ही नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा चरम अवस्था—शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में वर्तमान हो जाता है। जैसे-जैसे आवरणों की तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्था को छोड़कर धीरे धीरे शुद्ध स्वरूप का लाभ करता हुआ चरम अवस्था की ओर प्रस्थान करता है। प्रस्थान के समय इन दो अवस्थाओं के बीच उसे अनेक नीची-ऊँची अव-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



स्थाओं का अनुभव करना पड़ता है । प्रथम अवस्था को अविकास-की अथवा अधःपतन की पराकाष्ठा और चरम अवस्था को विकास-की अथवा उत्कान्ति की पराकाष्ठा समझना चाहिये । इस विकास-क्रम की मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओं को अपेक्षा से उच्च भी कह सकते हैं और नीच भी। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपने से ऊपर वाली अवस्था की अपेक्षा नीच और नीचे वाली अवस्था की अपेक्षा उच्च कही जा सकती है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करता है । पर जैन शास्त्र में संक्षेप में वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग किये हैं, जो "चौदह गुणस्थान" कहलाते हैं।

सब आवरणों में मोह का आवरण प्रधान है। अर्थात् जब तक मोह बलवान् और तीव्र हो, तब तक अन्य सभी आवरण बलवान् और तीव्र बने रहते हैं। इसके विपरीत मोह के निर्बल होते ही अन्य आवरणों की वैसी ही दशा हो जाती है। इसलिए आत्मा के विकास करने में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता समझनी चाहिये। इसी कारण गुणस्थानों की—विकास-क्रम-गत अवस्थाओं की कल्पना मोह-शक्ति की उत्कटता, मन्दता तथा अभाव पर अवलम्बित है।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं। इनमें से पहली शक्ति, आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप पररूपका निर्णय किंवा जड़-चेतन का विभाग या विवेक करने नहीं देती; और दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अध्यास—पर परिणति से छुटकर स्वरूप लाभ नहीं करने देती। व्यवहार में पैर-पैर पर यह देखा जाता है कि किसी वस्तु का यथार्थ दर्शन—बोध कर लेने पर ही उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है। आध्यात्मिक-विकास-गामी आत्मा के लिये भी मुख्य दो ही

कार्य हैं। पहला स्वरूप तथा पररूपका यथार्थ दर्शन किंवा भेदज्ञान करना और दूसरा स्वरूप में स्थित होना। इनमें से पहले कार्य को रोकने वाली मोह की शक्ति जैनशास्त्र में "दर्शन-मोह" और दूसरे कार्य को रोकने वाली मोह की शक्ति "चारित्रमोह" कहलाती है। दूसरी शक्ति पहली शक्ति की अनुगामिनी है। अर्थात् पहली शक्ति प्रबल हो, तब तक दूसरी शक्ति कभी निर्बल नहीं होती; और पहली शक्ति के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। अथवा यों कहिये कि एक बार आत्मा स्वरूप-दर्शन कर पाये तो फिर उसे स्वरूप-लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो ही जाता है।

अविकसित किंवा सर्वथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इसमें मोह की उक्त दोनों शक्तियों के प्रबल होने के कारण आत्मा की आध्यात्मिक-स्थिति बिल्कुल गिरी हुई होती है। इस भूमिका के समय आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही क्यों न कर ले, पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होती है। जैसे दिग्भ्रमवाला मनुष्य पूर्वको पश्चिम मानकर गति करता है और अपने इष्ट स्थान को नहीं पाता; उसका सारा श्रम एक तरह से वृथा ही जाता है, वैसे प्रथम भूमिका वाला आत्मा पर-रूप को स्वरूप समझ कर उसी को पाने के लिये प्रतिक्षण लालायित रहता है और विपरीत दर्शन या मिथ्यादृष्टि के कारण राग-द्वेष की प्रबल चोटों का शिकार बनकर तात्त्विक सुख से वञ्चित रहता है। इसी भूमिका को जैनशास्त्र में "बहिरात्मभाव" किंवा "मिथ्यादर्शन" कहा है। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्तमान होते हैं, उन सबों की भी आध्यात्मिक स्थिति एक सी नहीं होती। अर्थात् सबके ऊपर मोह की सामान्यतः दोनों शक्तियों का आधिपत्य होने पर भी उसमें थोड़ा-बहुत तर-तम-भाव अवश्य होता है। किसी

पर मोह का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर और किसी पर उससे भी कम होता है । विकास करना यह प्रायः आत्मा का स्वभाव है । इसलिये जानते या अनजानते, जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है, तब वह कुछ विकास की ओर अग्रसर हो जाता है और तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रकट कर लेता है । इसी स्थिति को जैन शास्त्र में "ग्रन्थिभेद"* कहा है ।

ग्रन्थिभेद का कार्य बड़ा ही विषम है । रागद्वेष का तीव्रतम विष ग्रन्थि—एक बार शिथिल व छिन्न-भिन्न हो जाय तो फिर बेड़ा पार ही समझिये; क्योंकि इसके बाद मोह की प्रधान शक्ति दर्शन मोह को शिथिल होने में देरी नहीं लगती और दर्शनमोह शिथिल हुआ कि चारित्रमोह की शिथिलता का मार्ग आप ही आप खुल जाता है । एक तरफ राग—द्वेष अपने पूर्ण बल का प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए अपने वीर्य-बल का प्रयोग करता है । इस आध्यात्मिक युद्ध में यानी मानसिक विकार और आत्मा की प्रतिद्वन्द्विता में कभी एक तो कभी दूसरा जयलाभ करता है । अनेक आत्मा ऐसे

---

*गंठित्ति सुदुब्भेओ कक्खड घण रूढ गूढ गंठिव्व ।
जीवस्स कम्म जणिओ घण राग धोस परिणामो ॥ ११६५ ॥
भिन्नाम्मि तम्मिलाभो सम्मत्ताईण मोक्ख हेऊणं ।
सोय दुल्लभो परिस्समचित्त विघायाई विग्घेहिं ॥ ११६६ ॥
सो तत्थ परिस्सम्मई घोर महासमर निग्गयाइव्व ।
विज्जाय सिद्धिकाले जहबाविग्घा तहा सोवि ॥ ११६७ ॥
विशेषावश्यक भाष्य ।

भी होते हैं जो करीब करीब ग्रन्थिभेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर व उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थिति में आ जाते है और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी रागद्वेष पर जयलाभ नहीं करते। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार खाकर पीछे गिरते हैं और न जय लाभ कर पाते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध के मैदान में ही पड़े रहते हैं। कोई-कोई आत्मा ऐसा भी होता है जो अपनी शक्ति का यथोचित प्रयोग करके उस आध्यात्मिक युद्ध में रागद्वेष पर जयलाभ कर ही लेता है। किसी भी मानसिक विकार की प्रतिद्वन्द्विता में इन तीनों अवस्थाओं का अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरने का, कभी प्रतिस्पर्धा में डटे रहने का और जयलाभ करने का अनुभव हमें अकसर नित्य प्रति हुआ करता है। यही संघर्ष कहलाता है। संघर्ष विकास का कारण है। चाहे विद्या, चाहे धन चाहे कीर्ति, कोई भी लौकिक वस्तु इष्ट हो, उसको प्राप्त करते समय भी अचानक अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं और उनकी प्रतिद्वन्द्विता में उक्त प्रकार की तीनों अवस्थाओं का अनुभव प्रायः सबको होता रहता है। कोई विद्यार्थी, कोइ धनार्थी या कोई कीर्ति-काङ्क्षी जब अपने इष्ट के लिये प्रयत्न करता है। तब या तो वह बीच में अनेक कठिनाइयों को देखकर प्रयत्न को छोड़ ही देता है या कठिनाइयों को पार कर इष्ट-प्राप्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होता है। जो अग्रसर होता है, वह बड़ा विद्वान, बड़ा धनवान् या बड़ा कीर्तिशाली बन जाता है। जो कठिनाइयों से डरकर पीछे भागता है, वह पामर, अज्ञान, निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है। और जो न कठिनाइयों को जीत सकता है और न उनसे हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थिति में ही पड़ा रहकर कोई ध्यान खींचने योग्य उत्कर्ष-लाभ नहीं करता।

इस भाव को समझाने के लिये शास्त्र* में एक यह दृष्टान्त दिया गया है कि तीन प्रवासी कहीं जा रहे थे। बीच में भयानक चोरों को देखते ही तीन में से एक तो पीछे भाग गया। दूसरा उन चोरों से डर कर नहीं भागा, किन्तु उनके द्वारा पकड़ा गया। तीसरा तो असाधारण बल तथा कौशल से उन चोरों को हराकर आगे बढ़ ही गया। मानसिक विकारों के साथ आध्यात्मिक युद्ध करने में जो जय-पराजय होता है, उसका थोड़ा बहुत ख्याल उक्त दृष्टान्त से आ सकता है।

---

* जइ वा तिन्नि मणुस्सा, जंतडवियहं सहाव गमणेण।
वेला इक्क मभिया, तुरंति यत्तायदो चोरा ॥ १२११ ॥

दट्ठुं मग्ग तडत्थे, ते एगो मग्गओ यडिनियत्ता।
वित्तिओ गहिओ तइओ, सम इक्कंतु पुरंपत्तो ॥ १२१२ ॥

अडवी भवो मणूसा, जीवा कम्मट्ठीई यहो दीहो।
गंठीय भयट्ठाणं, रागद्धोसा य दो चोरा ॥ १२१३ ॥

भग्गो ठिई परिवुड्ढी, गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ।
सम्मत्त पुरं एवं, जो एज्जतिण्णी करणाणि ॥ १२१४ ॥

—विशेषावश्यक भाष्य।

यथा जनाश्रयः केऽपि। माहपुरं पिपासवः।
प्राप्ताः ककचन कान्तारे, स्थानं चौरः भयंकरम् ॥ ६१९ ॥
तत्र द्रुतं द्रुतं यान्तो, ददृशुस्तस्करद्वयम्।
तद्दृष्ट्वा त्वरितं पश्चादेको भीतः पलायितः ॥ ६२० ॥
गृहीतश्चापरस्ताभ्यामन्यस्त्वश्रमण्यतौ।
भयस्थानमतिक्रम्य, पुरं प्राप पराक्रमी ॥ ६२१ ॥-

प्रथम गुणस्थान में रहने वाले विकासगामी ऐसे अनेक आत्मा होते हैं, जो रागद्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा सा दबाये हुए होते हैं, पर मोह की प्रधान शक्ति को अर्थात् दर्शनमोह को शिथिल किये हुए नहीं होते। इसलिये वे यद्यपि अध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वथा अनुकूलगामी नहीं होते, तो भी उनका बोध व चरित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसे आत्माओं की आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण वस्तुतः मिथ्या दृष्टि विपरीत दृष्टि या असत् दृष्टि ही कहलाती है, तथापि वह सद्दृष्टि के समीप ले जाने वाली होने के कारण उपादेय मानी गई है*।

बोध, वीर्य व चारित्र के तर-तम भाव की अपेक्षा से उस असत् दृष्टि के चार भेद करके मिथ्या दृष्टि गुणस्थान की अन्तिम अवस्था

---

दृष्टान्तोपनयश्चात्र, जना जीवा भवोऽटवी ।
पन्थाः कर्मस्थितिर्ग्रन्थि देशस्त्विह भयास्पदम् ॥ ६२२ ॥

रागद्वेषौ तस्करौ द्वौ तद्भीतो बलितस्तु सः ।
ग्रन्थि प्राप्यापि दुर्भावा, द्यो ज्येष्ठस्थितिबन्धकः ॥ ६२३ ॥

चौररुद्धस्तु स ज्ञेयस्ताद्रग् रागादिबाधितः ।
ग्रन्थि भिनत्ति यो नैव, न चापि वलते ततः ॥ ६२४ ॥

स त्वभीष्टपुरं प्राप्तो, योऽपूर्वकरणाद् द्रुतम् ।
रागद्वेषावपाकृत्य, सम्यग्दर्शनमाप्तवान् ॥ ६२५ ॥

—लोकप्रकाश सर्ग ३।

* "मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्तं, मित्राद्या अपि दृष्टयः ।
मार्गाभिमुखभावेन, कुर्वते मोक्षयोजनम् ॥ ३१ ॥

श्रीयशोविजयजी-कृत योगावतारद्वात्रिंशिका ।

का शास्त्र में अच्छा चित्र खींचा गया है। इन चार दृष्टियों में जो वर्त्तमान होते हैं, उनको सद्दृष्टि लाभ करने में फिर देरी नहीं लगती।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सद्बोध, सद्वीर्य व सच्चरित्र-के तर-तम भाव की अपेक्षा से सद्-दृष्टि के* भी शास्त्र में चार विभाग किये हैं, जिनमें मिथ्यादृष्टि त्याग कर अथवा मोह की एक या दोनों शक्तियों को जीतकर आगे बढ़े हुए सभी विकसित आत्माओं का समावेश हो जाता है। अथवा दूसरे प्रकार से यों समझाया जा सकता है कि जिसमें आत्मा का स्वरूप भासित हो और उसकी प्राप्ति के लिये मुख्य प्रवृत्ति हो, वह सद्दृष्टि इसके विपरीत जिसमें आत्मा का स्वरूप न तो यथावत् भासित हो और न उसकी प्राप्ति के लिये ही प्रवृत्ति हो, वह असत्दृष्टि। बोध वीर्य व चरित्र- के तर-तम-भाव को लक्ष्य में रखकर शास्त्र में दोनों दृष्टि के चार-चार विभाग किये गये हैं, जिनमें सब विकासगामी आत्माओं का समावेश हो जाता है और जिनका वर्णन पढ़ने से आध्यात्मिक विकास का चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है†।

---

*—"सच्चश्रद्धासंगतो बोधो, दृष्टिः सा चाष्टधोदिता।
मित्रा. तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा॥ २५॥
तृणगोमयकाष्ठाग्नि,-कणदीपप्रभोपमा।
रत्नताराकंचन्द्राभा, क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा॥ २६॥
"आद्याश्चतस्रः सापाय,-पाता मिथ्यादृशामिह।
तत्त्वतो निरपायाश्च, भिन्नग्रन्थेस्तथोत्तराः॥ २८॥

योगावतारद्वात्रिंशिका।

† इसके लिये देखिये, श्रीहरिभद्रसूरि-कृत योगदृष्टिसमुच्चय तथा उपाध्याय यशोविजयजी-कृत २१ से २४ तक की चार द्वात्रिंशिकाएँ।

शारीरिक और मानसिक दुःखों की संवेदना के कारण अज्ञात-रूप में ही गिरि-नदी पाषाण * न्याय से ज्ञान आवरण का आवरण कुछ शिथिल होता है और इसके कारण उसके अनुभव तथा वीर्योल्लास-की मात्रा कुछ बढ़ती है, तब उस विकासगामी आत्मा के परिणामों-की शुद्धि व कोमलता कुछ बढ़ती है। जिसकी बदौलत वह रागद्वेष की तीव्रतम—दुर्भेद ग्रन्थि को तोड़ने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त कर लेता है। इस अज्ञानपूर्वक दुःख संवेदना-जनित अति अल्प आत्म-शुद्धि को जैन शास्त्र में 'यथाप्रवृत्तिकरण' † कहा है। इसके बाद जब कुछ और भी अधिक आत्म-शुद्धि तथा वीर्योल्लास की मात्रा बढ़ती है तब राग-द्वेष की उस दुर्भेद ग्रन्थि का भेदन किया जाता है इस ग्रन्थिभेद कारका आत्मशुद्धि को 'अपूर्वकरण' ‡ कहते हैं।

---

* यथाप्रवृत्तकरणं, नन्वनाभोगरूपकम् ।
भवत्यनाभोगतश्च, कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥ ६७॥
"यथा मिथो घर्षणेन, ग्रावाणोऽद्रिनदीगताः ।
स्युश्चित्राकृत्यो ज्ञान,-शून्या अपि स्वभावतः ॥ ६०८ ॥
तथा यथाप्रवृत्तात्स्यु,-रप्यनाभोगलक्षणात् ।
लघुस्थितिककर्माणो, जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च ॥ ६०९ ॥"

—लोकप्रकाश, सर्ग ३

† इसको दिगम्बरसम्प्रदाय में 'अधाप्रवृत्तकरण' कहते हैं। इस के लिये देखिये, तत्त्वार्थ-अध्याय ९ के १ले सूत्र का १३ वां राजवार्तिक।

‡ "तीव्रधारपशुं कल्पा,ऽपूर्वास्यकरणेन हि ।
आविष्कृत्य परं वीर्यं, ग्रन्थिं भिन्दन्ति केचन ॥ ६१८ ॥

लोकप्रकाश, सर्ग ३ ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्योंकि ऐसा करण—परिणाम * विकासगामी आत्मा के लिये अपूर्व—प्रथम ही प्राप्त है। इसके बाद आत्म-शुद्धि व वीर्योल्लास की मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोह की प्रधानभूत शक्ति —दर्शनमोहपर अवश्य विजय लाभ करता है। इस विजय-कारक आत्म-शुद्धि को जैनशास्त्र में "अनिवृत्तिकरण" † कहा है, क्योंकि उस आत्म-शुद्धि के हो जाने पर आत्मा दर्शनमोह पर जय-लाभ बिना किये नहीं रहता, अर्थात् वह पीछे नहीं हटता। उक्त तीन प्रकार की आत्म-शुद्धियों में दूसरी अर्थात् अपूर्वकरण-नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को

---

*"परिणामविशेषोऽत्र, करणं प्राणिनां मतम् ॥५६६॥"

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

†"अथानिवृत्तिकरणेना,—तिस्वच्छाशयात्मना।
करोत्यन्तरकरण,—मन्तर्मुहूर्त्तसमितम् ॥६२७॥
कृते च तस्मिन्निष्यात्व,—मोहस्थितिर्द्विधा भवेत्।
तत्राद्यान्तरकरणा,—दधस्तन्यपरोर्ध्वगा ॥६२८॥
तत्राद्यायां स्थितौ मिथ्या.—दृक् स तद्वेदनात्।
अतीतायामेवतस्यां, स्थितावन्तर्मुहूर्ततः ॥६२९॥
प्राप्नोत्यन्तरकरणं, तस्याद्यक्षण एव सः।
सम्यक्त्वमौपशमिक, —मपौद्गलिकमाप्नुयात् ॥६३०॥
यथा वनदवो दग्धे,—न्धनः प्राप्यातृणं स्थलम्।
स्वयं विध्यायति तथा, मिथ्यात्वोग्रदवानलः ॥६३१॥
अवाप्यान्तरकरणं, क्षिप्रं विध्यायति स्वयम्।
यदौपशमिकं नाम, सम्यक्त्वं लभतेऽसुमान् ॥६३२॥"

लोकप्रकाश, सर्ग ३।

रोकने का अत्यन्त कठिन कार्य इसी के द्वारा किया जाता है, जो सहज नहीं है। एक बार इस कार्य में सफलता प्राप्त हो जाने पर फिर चाहे विकासगामी आत्मा ऊपर की किसी भूमिका से गिर भी पड़े तथापि वह पुनः कभी-न-कभी अपने लक्ष्य को—आध्यात्मिक पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस आध्यात्मिक परिस्थिति का कुछ स्पष्टीकरण अनुभवगत व्यावहारिक दृष्टान्त के द्वारा किया जा सकता है।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जैसे; एक ऐसा वस्त्र हो, जिसमें मल के अतिरिक्त चिकनाहट भी लगी हो। उसका मल ऊपर-ऊपर से दूर करना उतना कठिन और श्रम-साध्य नहीं, जितना कि चिकनाहट का दूर करना। यदि चिकनाहट एक बार दूर हो जाय तो फिर बाकी का मल निकालने में किंवा किसी कारण-वश फिर से लगे हुए मैल को दूर करने में विशेष श्रम नहीं पड़ता और वस्त्र को उसके असली स्वरूप में सहज ही लाया जा सकता है। ऊपर-ऊपर का मल दूर करने में जो बल दरकार है, उसके सदृश "यथाप्रवृत्तिकरण" है। चिकनाहट दूर करने वाले विशेष बल व श्रम के समान "अपूर्वकरण" है। जो चिकनाहट के समान राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रन्थि को शिथिल करता है। बाकी बचे हुए मल को किंवा चिकनाहट दूर होने के बाद फिरसे लगे हुए मलको कम करने वाले बल-प्रयोग के समान "अनिवृत्तिकरण" है। उक्त तीनों प्रकार के बल-प्रयोगों में चिकनाहट दूर करने वाला बल-प्रयोग ही विशिष्ट है।

अथवा जैसे; किसी राजा ने आत्म रक्षा के लिये अपने अङ्गरक्षकों को तीन विभागों में विभाजित कर रक्खा हो, जिनमें दूसरा विभाग शेष दो विभागों से अधिक बलवान् हो, तब उसी को जीतने में विशेष बल लगाना पड़ता है। वैसे ही दर्शनमोह को जीतने के पहले उसके रक्षक राग-द्वेष के तीव्र संस्कारों को शिथिल करने के-

लिये विकासगामी आत्मा को तीन बार बल-प्रयोग करना पड़ता है। जिनमें दूसरी बार किया जाने वाला बल-प्रयोग ही, जिसके द्वारा राग-द्वेष की अत्यन्त तीव्रतारूप ग्रन्थि भेदी जाती है, प्रधान होता है। जिस प्रकार उक्त तीनों दलों में से बलवान् दूसरे अङ्गरक्षक दल के जीत लिये जाने पर फिर उस राजा का पराजय सहज होता है, इसी प्रकार राग-द्वेष की अतितीव्रता को मिटा देने पर दर्शनमोह पर जयलाभ करना सहज है। दर्शनमोह को जीता और पहले गुणस्थान की समाप्ति हुई।

ऐसा होते ही विकासगामी आत्मा स्वरुप का दर्शन कर लेता है अर्थात् उसकी अब तक जो पररुप में स्वरुप की भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है। अत एव उसके प्रयत्न की गति उल्टी न होकर सीधी हो जाती है। अर्थात् वह विवेकी बन कर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का वास्तविक विभाग कर लेता है। इस दशा को जैन-शास्त्र में "अन्तरात्म भाव" कहते हैं; क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करके विकासगामी आत्मा अपने अन्दर वर्तमान सूक्ष्म और सहज शुद्ध परमात्म-भाव को देखने लगता है, अर्थात् अन्तरात्मभाव, यह आत्म-मन्दिर का गर्भद्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर उस मन्दिर में वर्तमान परमात्म-भावरूप निश्चय देवका दर्शन किया जाता है।

यह दशा विकासक्रम की चतुर्थी भूमिका किंवा चतुर्थ गुण-स्थान है, जिसे पाकर आत्मा पहले पहल आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरुपोन्मुख) होने के कारण विपर्यास-रहित होती है। जिसको जैनशास्त्र में सम्यग्दृष्टि किम्वा सम्यक्त्व * कहा है।

---

*"जिनोक्तादविपर्यस्ता, सम्यग्दृष्टिर्निगद्यते।
सम्यक्त्वशालिनां सा स्या,-त्तच्चैवं जायतेऽङ्गिनाम् ॥५९६॥"
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

चतुर्थी से आगे की अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्म-
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी
ग्दृष्टि वाली ही समझनी चाहिये; क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान-में स्वरूप-दर्शन करने से आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है और उसको विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य-विषयक-भ्रम दूर हुआ, अर्थात् अब तक जिस पौद्लिक व बाह्य सुख को मैं तरस रहा था, वह परिणाम-विरस, अस्थिर एवं परिमित है; परिणाम सुन्दर, स्थिर व अपरिमित सुख स्वरुप-प्राप्ति में ही है। तब वह विकास-गामी आत्मा स्वरुप स्थिति के लिये प्रयत्न करने लगता है।

मोह की प्रधान शक्ति –दर्शनमोह को शिथिल करके स्वरूप-दर्शन कर लेने के बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र-मोह को शिथिल न किया जाय, तब तक स्वरूप-लाभ किंवा स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये वह मोह की दूसरी शक्ति को मन्द करने के लिये प्रयास करता है। जब वह उस शक्ति को अंशतः शिथिल कर पाता है; तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो जाती है। जिसमें अंशतः स्वरूप-स्थिरता या परपरिणति-त्याग होने से चतुर्थ भूमिका की अपेक्षा अधिक शान्ति-लाभ होता है। यह देशविरति-नामक पाँचवां गुणस्थान है।

इस गुणस्थान में विकासगामी आत्मा को यह विचार होने लगता है कि यदि अल्प-विरतिसे ही इतना अधिक शान्ति-लाभ हुआ तो फिर सर्व-विरति—जड़ भावों के सर्वथा परिहार से कितना शान्ति-लाभ न होगा। इस विचार से प्रेरित होकर व प्राप्त आध्यात्मिक शान्ति के अनुभव से बलवान् होकर वह विका-सगामी आत्मा चारित्रमोह को अधिकांश में शिथिल करके पहले-की अपेक्षा भी अधिक स्वरूप-स्थिरता व स्वरूप-लाभ प्राप्त करने-की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में कृतकृत्य होते ही उसे सर्व-विरति

संयम प्राप्त होता है। जिसमें पौद्लिक भावों पर मूर्च्छा बिल्कुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के काम में ही खर्च होता है यह 'सर्वविरति' नामक पाँचवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्म-कल्याण के अतिरिक्त लोक-कल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है। जिससे कभी-कभी थोड़ी-बहुत मात्रा में प्रमाद आ जाता है।

पाँचवे गुणस्थान की अपेक्षा, इस छठे गुणस्थान में स्वरूप-अभिव्यक्ति अधिक होने के कारण यद्यपि विकासगामी आत्मा को आध्यात्मिक शान्ति पहले से अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीच में अनेक प्रमाद उसे शान्ति-अनुभव में जो बाधा पहुंचाते हैं, उसको वह सहन नहीं कर सकता। अत एव सर्व-विरति-जनित शान्ति के साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की प्रबल लालसा से प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमाद का त्याग करता है और स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन-चिन्तन के सिवाय अन्य सब व्यापारों का त्याग कर देता है। यही 'अप्रमत्त-संयत' नामक सातवाँ गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमाद-जन्य उत्कट सुख का अनुभव आत्मा को उस स्थिति में बने रहने के लिये उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद-जन्य पूर्ववास-नाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानी में विकासगामी आत्मा कभी प्रमाद की तन्द्रा और कभी अप्रमाद की जागृति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थान में अनेक बार जाता आता रहता है। भँवर या वातभ्रमी में पड़ा हुआ तिनका इधर से उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थान के समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है।

प्रमाद के साथ होने वाले इस आन्तरिक युद्ध के समय विकास-

गामी आत्मा यदि अपना चारित्र-बल विशेष प्रकाशित करता है तो फिर वह प्रमादों– प्रलोभनों को पार कर विशेष अप्रमत्त-अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को पाकर वह ऐसी शक्ति-वृद्धि-की तैयारी करता है कि जिससे शेष रहे-सहे मोह-बल को नष्ट किया जा सके। मोह के साथ होने वाले भावी युद्ध के लिये की जानेवाली तैयारी की इस भूमिका को आठवाँ गुणस्थान कहते हैं।

पहले कभी न हुई ऐसी आत्म-शुद्धि इस गुणस्थान में हो जाती है। जिससे कोई विकासगामी आत्मा तो मोह के संस्कारों के प्रभाव को क्रमशः दबाता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उसे बिलकुल ही उपशान्त कर देता है। और विशिष्ट आत्म-शुद्धि वाला कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा भी होता है, जो मोह के संस्कारों को क्रमशः जड़ मूल से उखड़ता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उन सब संस्कारों को सर्वथा निर्मूल ही कर डालता है। इस प्रकार आठवे गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले अर्थात् अन्तरात्म-भाव के विकास द्वारा परमात्म-भाव-रूप सर्वोपरि भूमिका के निकट पहुंचने-वाले आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं।

एक श्रेणिवाले तो ऐसे होते हैं, जो मोह को एक बार सर्वथा दबा तो लेते हैं, पर उसे निर्मूल नहीं कर पाते। अतएव जिस प्रकार किसी बर्तन में भरी हुई भाप कभी-कभी अपने वेग से उस बर्तन-को उड़ा ले भागती है या नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राख के नीचे दबा हुआ अग्नि हवा का झकोरा लगते ही अपना कार्य करने लगता है; किंवा जिस प्रकार जल के तल में बैठा हुआ मल थोड़ा सा क्षोभ पाते ही ऊपर उठकर जल को गंदला कर देता है, उसी प्रकार पहले दबाया हुआ भी मोह आन्तरिक युद्ध में थके हुए उन प्रथम श्रेणि वाले आत्माओं को अपने वेग के द्वारा नीचे पटक देता है। एक बार सर्वथा दबाये जाने पर भी मोह, जिस

भूमिका से आत्मा को हार दिलाकर नीचे की ओर पटक देता है, वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है। मोह को क्रमशः दबाते-दबाते सर्वथा दबाने तक में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक विशुद्धिवाली दो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं। जो नौवाँ तथा दसवाँ गुणस्थान कहलाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान अधः पतन का स्थान है; क्योंकि उसे पाने वाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य नीचे गिरता है।

दूसरी श्रेणीवाले आत्मा मोह को क्रमशः निर्मूल करते-करते अन्त में उसे सर्वथा निर्मूल कर ही डालते है। सर्वथा निर्मूल करने-की जो उच्च भूमिका है, वही बारहवाँ गुणस्थान है। इस गुणस्थान को पाने तक में अर्थात् मोह को सर्वथा निर्मूल करने से पहले बीच में नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार देखा जाय तो चाहे पहली श्रेणिवाले हों, चाहे दूसरी श्रेणिवाले, पर वे सब नौवाँ-दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणिवालों में अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणिवालों की अपेक्षा दूसरी श्रेणिवालों में आत्म-शुद्धि व आत्म-बल विशिष्ट प्रकार का पाया जाता है। जैसेः—किसी एक दर्जे के विद्यार्थी भी दो प्रकार के होते हैं, एक प्रकार के तो ऐसे होते हैं, जो सौ कोशिश करने पर भी एक बारगी अपनी परीक्षा में पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते। पर दूसरे प्रकार के विद्यार्थी अपनी योग्यता के बल से सब कठिनाइयों को पार कर उस कठिनतम परीक्षा को बेधड़क पास कर ही लेते हैं। उन दोनों दल के इस अन्तर का कारण उनकी आन्तरिक योग्यता की न्यूनाधिकता है। वैसे ही नौवें तथा दसवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले उक्त दोनों श्रेणिगामी आत्माओं की आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनाधिक होती है। जिसके कारण एक श्रेणिवाले तो दसवें गुणस्थान को पाकर अन्त में ग्यारहवें गुणस्थान में मोह से हार खाकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणिवाले दसवें गुण

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्थान को पाकर इतना अधिक आत्म-बल प्रकट करते हैं कि अन्त में वे मोह को सर्वथा क्षीण कर बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर ही लेते हैं।

जैसे ग्यारहवाँ गुणस्थान अवश्य पुनरावृत्तिका है, वैसे ही बारहवाँ गुणस्थान अपुनरावृत्तिका है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान को पानेवाला आत्मा एक बार उससे अवश्य गिरता है और बारहवें गुणस्थान को पानेवाला उससे कदापि नहीं गिरता; बल्कि ऊपर को ही चढ़ता है। किसी एक परीक्षा में नहीं पास होने वाले विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाग्रता से योग्यता बढ़ाकर फिर उस परीक्षा को पास कर लेते हैं; उसी प्रकार एक बार मोह से हार खाने वाले आत्मा भी अप्रमत्त-भाव व आत्म-बल- की अधिकता से फिर मोह को अवश्य क्षीण कर देते हैं। उक्त दोनों श्रेणिवाले आत्माओं की तर-तम-भावापन्न आध्यात्मिक विशुद्धि मानों परमात्म-भाव-रूप सर्वोच्च भूमिकापर चढ़ने की दो नसेनियाँ हैं। जिनमें से एक को जैनशास्त्र में 'उपशमश्रेणि' और दूसरी को' क्षपकश्रेणि' कहा है। पहली कुछ दूर चढ़ाकर गिरानेवाली और दूसरी चढ़ाने वाली ही है। पहली श्रेणि से गिरनेवाला आध्यात्मिक अधःपतन के द्वारा चाहे प्रथम गुणस्थान तक क्यों न चला जाय, पर उसकी वह अधःपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी-न-कभी फिर वह दूने बल से और दूनी सावधानी से तैयार होकर मोह-शत्रु का सामना करता है और अन्त में दूसरी श्रेणि की योग्यता प्राप्त कर मोह का सर्वथाक्षय कर डालता है। व्यवहार में अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्र में भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है, वह पूरी तैयारी करके हराने वाले शत्रु को फिर से हरा सकता है।

परमात्म-भाव का स्वराज्य प्राप्त करने में मुख्य बाधक मोह ही है। जिसको नष्ट करना अन्तरात्म-भाव के विशिष्ट विकास पर निर्भर है। मोह का सर्वथा नाश हुआ कि अन्य आवरण जो जैन

शास्त्र में 'घातिकर्म' कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापति के मारे जाने के बाद अनुगामी सैनिकों की तरह एक साथ तितर-बितर हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म-भाव का पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप को पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान, चारित्र आदि का लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुख का अनुभव करता है। जैसे, पूर्णिमा की रात में निरभ्र चन्द्र की सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्मा की चेतना आदि सभी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिका को जैन शास्त्र में तेरहवाँ गुण-स्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में चिरकाल तक रहने के बाद आत्मा दग्ध रज्जु के समान शेष आवरणों की अर्थात् अप्रधानभूत अघातिकर्मों को उड़ा कर फेंक देने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुल्कध्यानरूप पवन का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा किंवा चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति शुल्क ध्यान द्वारा सुमेरु की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके अन्त में शरीर त्याग-पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टि से लोकोत्तर स्थान को प्राप्त करता है। यही निर्गुण ब्रह्मस्थिति * है, यही सर्वाङ्गीण पूर्णता है, यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थ की अन्तिम सिद्धि

---

* "योगसंन्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलांस्त्यजेत् ।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥ ७ ॥
वस्तुतस्तु गुणैः पूर्ण—मनन्तैर्भासते स्वतः ।
रूपं त्यक्तात्मनः साधो,—निरभ्रस्य विधोरिव ॥ ८ ॥
—ज्ञानसार, त्यागाष्टक ।

है और यही अपुनरावृत्ति-स्थान है । क्योंकि संसार का एकमात्र कारण मोह है। जिसके सब संस्कारों का निश्शेष नाश हो जाने के कारण अब उपाधिका संभव नहीं है।

यह कथा हुई पहिले से चौदहवे गुणस्थान तक के बारह गुण-स्थानों की; इसमें दूसरे और तीसरे गुणस्थान की कथा जो छूट गई है, वह यों है कि सम्यक्त्व किंवा तत्वज्ञानवाली ऊपर की चतुर्थी आदि भूमिकाओं के राजमार्ग से च्युत होकर जब कोई आत्मा तत्वज्ञान शून्य किंवा मिथ्यादृष्टि वाली प्रथम भूमिका के उन्मार्ग की ओर झुकता है, तब बीच में उस अधःपतनोन्मुख आत्मा की जो कुछ अवस्था होती है, वही दूसरा गुणस्थान है । यद्यपि इस गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा आत्म-शुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है, इसीलिये इसका नम्बर पहले के बाद रखा गया है, फिर भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस गुणस्थान को उत्क्रान्ति-स्थान नहीं कह सकते । क्योंकि प्रथम गुणस्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करने-वाला आत्मा इस दूसरे गुणस्थान को सीधे तौर से प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ऊपर के गुणस्थान से गिरने वाला ही आत्मा इसका अधिकारी बनता है। अधःपतन मोह के उद्रेक से होता है । अतः एव इस गुणस्थान के समय मोह की तीव्र कषायिक शक्ति का आवि-र्भाव पाया जाता है । खीर आदि मिष्ट भोजन करने के बाद जब वमन हो जाता है, तब मुख में एक प्रकार का विलक्षण स्वाद अर्थात् न अति मधुर न अति-अम्ल जैसे प्रतीत होता है । इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान के समय आध्यात्मिक स्थिति विलक्षण पाई जाती है । क्योंकि उस समय आत्मा न तो तत्त्व-ज्ञान की निश्चित भूमिका-पर है और न तत्त्व-ज्ञान-शून्य निश्चित भूमिका पर। अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़ने की सीढ़ियों से खिसक कर जब तक जमीन पर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीच में एक विलक्षण अवस्था का

अनुभव करता है, वैसे ही सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को पाने तक में अर्थात् बीच में आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करता है। यह बात हमारे इस व्यावहारिक अनुभव से भी सिद्ध है कि जब किसी निश्चित उन्नत-अवस्था से गिरकर कोई निश्चित अवनत-अवस्था प्राप्त की जाती है, तब बीच में एक विलक्षण परिस्थिति खड़ी होती है।

तीसरा गुणस्थान आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का नाम है, जिसमें न तो केवल सम्यक् दृष्टि होती है और न केवल मिथ्या दृष्टि, किन्तु आत्मा उसमें दोलायमान आध्यात्मिक स्थितिवाला बन जाता है। अत एव उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने के कारण सन्देह-शील होती है अर्थात् उसके सामने जो कुछ आया, वह सब सच। अर्थात् न तो वह तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप से ही जानती है और न तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक पूर्ण विवेक ही कर सकती है।

कोई उत्क्रान्ति करने वाला आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर सीधे ही तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है और कोई अप-क्रान्ति करने वाला आत्मा भी चतुर्थ आदि गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति करने वाले और अपक्रान्ति करने वाले—दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय-स्थान तीसरा गुणस्थान है। यही तीसरे गुणस्थान की दूसरे गुणस्थान से विशेषता है।

ऊपर आत्मा की जिन चौदह अवस्थाओं का विचार किया है, उनका तथा उनके अन्तर्गत अवान्तर संख्यातीत अवस्थाओं का बहुत संक्षेप में वर्गीकरण करके शास्त्र में शरीरधारी आत्मा की सिर्फ तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—(१) बहिरात्म-अवस्था, (२) अन्तरात्म-अवस्था और (३) परमात्म-अवस्था।

पहली अवस्था में आत्मा का वास्तविक—विशुद्ध रूप अत्यन्त

आच्छन्न रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यास वाला होकर पौद्गलिक विलासों को ही सर्वस्व मान लेता है और उन्हीं की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण शक्ति का व्यय करता है।

दूसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता, पर उसके ऊपर का आवरण गाढ़ न होकर शिथिल-शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है, जिसके कारण उसकी दृष्टि पौद्गलिक विलासों की ओर से हट कर शुद्ध स्वरूप की ओर लग जाती है। इसी से उसकी दृष्टि में शरीर आदि की जीर्णता व नवीनता अपनी जीर्णता व नवीनता नहीं है। यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्था का दृढ़ सोपान है।

तीसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरुप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपर के घने आवरण बिलकुल विलीन हो जाते हैं।

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म–अवस्था का चित्रण है। चौथे से बारहवें तक के गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्था का दिग्दर्शन है और तेरहवां, चौदहवां गुणस्थान परमात्म–अवस्था का वर्णन* है।

---

*"अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्यगुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोहगुणस्थानं यावदन्तरात्मा, ततः परन्तु परमात्मेति। तथा व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्मान्तरात्मा च। व्यक्त्यान्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेन च बाह्यात्मा, व्यक्त्या परमात्मा, अनुभूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मान्तरात्मा च।"

—अध्यात्ममतपरीक्षा, गाथा १२५।

आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है, इसलिये वह चाहे किसी गुण-स्थान में क्यों न हो, पर ध्यान से कदापि मुक्त नहीं रहता। ध्यान के सामान्य रीति से (१) शुभ और (२) अशुभ, ऐसे दो विभाग और विशेष रीति से (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल, ऐसे चार विभाग शास्त्र में* किये गये हैं। चार में से पहले दो अशुभ और पिछले दो शुभ हैं। पौद्गलिक दृष्टि की मुख्यता के किंवा आत्म-विस्मृति के समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौद्गलिक दृष्टि की गौणता व आत्मानुसन्धान-दशा में जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान संसार का कारण और शुभ ध्यान मोक्ष-का कारण है। पहले तीन गुणस्थानों में आर्त्त और रौद्र, ये दो ध्यान ही तर-तम-भाव से पाये जाते हैं। चौथे और पांचवें गुणस्थान में उक्त दो ध्यानों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्मध्यान भी होता है। छठे गुणस्थान में आर्त्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थान में सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवें से बारहवें तक पांच गुणस्थानों में धर्म और शुक्ल, ये दो ध्यान होते हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में सिर्फ शुक्लध्यान होता है†।

---

"बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७ ॥
अन्ये मिथ्यात्वसम्यक्त्व,-केवलज्ञानभागिनः।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥
—योगावतारद्वात्रिंशिका।

*"आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि।"—तत्त्वार्थ-अध्याय ८, सूत्र २९।

† इसके लिये देखिये, तत्त्वार्थ अ० ९, सूत्र ३५ से ४०। ध्यान-शतक, गा० ६३ और ६४ तथा आवश्यक-हारिभद्री टीका पृ० ६०२। इस विषय में तत्त्वार्थ के उक्त सूत्रों का राजवार्तिक विशेष देखने योग्य है, क्योंकि उसमें श्वेताम्बर ग्रन्थों से थोड़ा सा मतभेद है।

गुणस्थानों में पाये जाने वाले ध्यानों के उक्त वर्णन से तथा गुणस्थानों में किये हुए बहिरात्म-भाव आदि पूर्वोक्त विभाग से प्रत्येक मनुष्य यह सामान्यतया जान सकता है कि मैं किस गुणस्थान का अधिकारी हूँ। ऐसा ज्ञान, योग्य अधिकारी की नैसर्गिक महत्वाकांक्षा को ऊपर के गुणस्थानों के लिये उत्तेजित करता है।

## दर्शनान्तर के साथ जैनदर्शन का साम्य।

जो दर्शन, आस्तिक अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकास शीलता तथा मोक्ष-योग्यता मानने वाले हैं, उन सबों में किसी-न-किसी रूप में आत्मा के क्रमिक विकास का विचार पाया जाना स्वाभाविक है। अत एव आर्यावर्त्त के जैन, वैदिक और बौद्ध, इन तीनों प्राचीन दर्शनों में उक्त प्रकार का विचार पाया जाता है। यह विचार जैनदर्शन में गुणस्थान के नाम से, वैदिक दर्शन में भूमिकाओं के नाम से और बौद्धदर्शन में अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। गुणस्थान का विचार, जैसा जैनदर्शन में सूक्ष्म तथा विस्तृत है, वैसा अन्य दर्शनों में नहीं है, तो भी उक्त तीनों दर्शनों की उस विचार के सम्बन्ध में बहुत-कुछ समता है। अर्थात् संकेत, वर्णनशैली आदि की भिन्नता होने पर भी वस्तुतत्त्व के विषय में तीनों दर्शनों का भेद नहीं के बराबर ही है। वैदिकदर्शन के योगवाशिष्ठ, पातञ्जल योग आदि ग्रन्थों में आत्मा की भूमिकाओं का अच्छा विचार है।

जैनशास्त्र में मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा के नाम से अज्ञानी जीवका लक्षण बतलाया है कि जो अनात्मा में अर्थात् आत्म-भिन्न जड़तत्त्व में आत्म-बुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा * है। योग-

---

*"तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः।"

—तत्त्वार्थ-अध्याय ९, सू० १, राजवार्त्तिक १२।

वाशिष्ठ में * तथा पातञ्जलयोग सूत्र † में अज्ञानी जीव का वही लक्षण है। जैनशास्त्र में मिथ्यात्वमोहनीय का संसार-वृद्धि और दुःखरूप फल वर्णित है ‡। वही बात योगवाशिष्ठ के

---

"आत्मधिया समुपात्त, कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।
कायादेः समधिष्ठा, यको भवत्यन्तरात्मा तु ॥७॥"

—योगशास्त्र, प्रकाश १२।

"निर्मलस्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः।
अध्यस्तोपाधिसंबन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति ।।६॥"

--ज्ञानसार, मोहाष्टक।

"नित्यशुच्यात्मताख्याति, रनित्याशुच्यनात्मसु।
अविद्यातत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यः प्रकीर्त्तिताः ॥७॥"

—ज्ञानसार, विद्याष्टक।

"भ्रमवाटी बहिर्दृष्टि, र्भ्रमच्छाया तदीक्षणम्।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शेते सुखाऽऽशया ॥२॥"

—ज्ञानसार, तत्त्वदृष्टि-अष्टक।

* 'यस्याज्ञानात्मनोऽशस्य, देह एवात्मभावना।
उदितेति रुषैवाक्ष, रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥३॥"

—निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध, सर्ग ६।

†"अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।"

—पातञ्जलयोगसूत्र, साधन-पाद, सूत्र ५।

‡"समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात्।"

—तत्त्वार्थ, अध्याय ६, सू० १, वार्त्तिक ३१।

"विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम्।
भवोच्चतालमुत्ताल, प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥४॥"

—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



निर्वाण * प्रकरण में अज्ञान के फलरूप से कही गई है । (२) योग-वाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध में अविद्या से तृष्णा और तृष्णा से दुःख का अनुभव तथा विद्या से अविद्या का † नाश, यह क्रम जैसा वर्णित है, वही क्रम जैनशास्त्र में मिथ्याज्ञान और सम्यक्-ज्ञान के निरुपण द्वारा जगह-जगह वर्णित है । (३) योगवाशिष्ठ के उक्त प्रकरण में † ही जो अविद्या का विद्या से और विद्या का विचार से नाश बतलाया है, वह जैनशास्त्र में माने हुए मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिकज्ञान से मिथ्याज्ञान के नाश और क्षायिकज्ञान से क्षायोपशमिकज्ञान के नाश के समान है। (४) जैनशास्त्र में मुख्यतया मोह को ही बन्ध का—संसार का हेतु माना है । योगवाशिष्ठ में + वही

---

* "अज्ञानात्प्रसृता यस्मा, ज्जगत्पर्णपरम्परा: ।
यस्मिंस्तिष्ठान्ति राजन्ते, विशन्ति विलसन्ति च ॥५३॥"

"आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्व, माद्यन्तवत्त्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम् ।
अज्ञानशाखिन इति प्रसृतानि राम, नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि"
॥६१॥ पूर्वार्द्ध, सर्ग ६,

† "जन्मपर्वाहिना रन्ध्रा, विनाशच्छिद्रचञ्चुरा ।
भोगाभोगरसापूर्णा, विचारैकघुणक्षता ॥११॥"

सर्ग ८ ।

‡ "मिथ:स्वान्ते तयोरन्त, श्छायातपनयोरिव ।
अविद्यायां विलीनायां, क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥२३॥
एते राघव लीयेते, अवाप्यं परिशिष्यते ।
अविद्यासक्षयात् क्षीणो, विद्यापक्षोऽपि राघव ॥२४॥"

—सर्ग ९

+ "अविद्या संसृतिर्बन्धो, माया मोहो महत्तम: ।
कल्पितानीति नामानि, यस्या: सकलवेदिभि ॥२०॥"

बात रूपान्तर से कही गई है। उसमें जो दृश्य के अस्तित्व को बन्ध का कारण कहा है; उसका तात्पर्य दृश्य के अभिमान या अध्याय से है। (५) जैसे, जैनशास्त्र में ग्रन्थि भेद का वर्णन है वैसे ही योगवाशिष्ठ में * भी है। (६) वैदिक ग्रन्थों का यह वर्णन कि ब्रह्म, माया के संसर्ग से जीवत्व धारण करता है और मन के संसर्ग से संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि रचता है; तथा स्थावरजङ्गमात्मक जगत् का कल्प के अन्त में नाश होता है †, इत्यादि बातों की संगति जैनशास्त्र के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है आत्मा का अव्यवहार-राशि से व्यवहार राशि में आना ब्रह्म का जीवत्व धारण करना है।

---

"द्रष्टृदृश्यस्य सत्ताऽङ्ग, बन्ध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो, दृश्याऽभावे विमुच्यते ॥२२॥"

—उत्पत्ति-प्रकरण, स० १।

पार्श्वनाथ — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"तस्माच्चित्तविकल्पस्थ, पिशाचो बालक यथा।
विनिहन्त्येवमेषान्त, द्रष्टारं दृश्यरूपिका ॥३८॥"

—उत्पत्ति-प्र० स० ३।

* शप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेद, स्तस्मिन् सति हि मुक्तता।
मृगतृष्णाम्बुबुद्धयादि, शान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥२३॥"

—उत्पत्ति-प्रकरण, स० ११८

†"तत्स्वयं स्वैरमेवाशु, संकल्पयति नित्यशः।
तेनेत्थमिन्द्रजालश्री, र्विततेयं वितन्यते ॥१६॥"

"यदिदं दृश्यते सर्वं, जगत्स्थावरजङ्गमम्।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः, कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥१०॥"

— उत्पत्ति-प्रकरण, स० १।

स तथाभूत एवात्मा, स्वयमन्य इवोल्लसन्।
जीवतामुपयातीव, भाविनाम्रा कदर्थिताम् ॥१३॥"

क्रमशः सूक्ष्म तथा स्थूल मनद्वारा संक्षिप्त प्राप्त करके कल्पना-जाल में आत्मा का विचरण करना संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि है। शुद्ध आत्म-स्वरूप व्यक्त होने पर सांसारिक पर्यायों का नाश होना ही कल्प के अन्त में स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् का नाश है आत्मा अपनी सत्ता भूलकर जड़-सत्ता को स्वसत्ता मानता है, जो अहंत्व ममत्व भावना रूप मोहनीय का उदय और बन्ध का कारण है वही अहंत्व-ममत्व भावना वैदिक वर्णन-शैली के अनुसार बन्धहेतु-भूत दृश्य सत्ता है। उत्पत्ति, वृद्धि विकास, स्वर्ग, नरक आदि जो जीव की अवस्थाएँ वैदिक ग्रन्थों में वर्णित * हैं, वे ही जैन-दृष्टि के अनुसार व्यवहार-राशि-गत जीव के पर्याय हैं। (७) योगवाशिष्ठ में † स्वरूप-स्थिति को ज्ञानी का और स्वरूप-भ्रंश को अज्ञानी का लक्षण माना है। जैनशास्त्र में भी सम्यक्ज्ञान का और मिथ्यादृष्टि का क्रमशः वही स्वरूप ‡ बतलाया है। (८) योगवाशिष्ठ में + जो सम्यक्ज्ञान का लक्षण

---

* "उत्पद्यते यो जगति स एव किल वर्धते।
स एव मोक्षमाप्नोति, स्वर्गं वा नरकं च वा ॥७॥"

—उत्पत्ति-प्रकरण, स० १।

† "स्वरूपावस्थितिर्मुक्ति, स्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम्।
एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं, तज्ज्ञत्वाज्ञत्वलक्षणम् ॥५॥"

—उत्पति-प्रकरण स० ११७

‡ अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥१॥"

—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

स्वभावलाभसंस्कार, कारणं ज्ञानमिष्यते।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्य, तथा चोक्तं महात्मना ॥३॥"

—ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक।

+ "अनाद्यन्तावभासात्मा, परमात्मेह विद्यते।

है, वह जैन शास्त्र के अनुकूल है। (९) जैन शास्त्र में सम्यक् दर्शन की प्राप्ति, (१) स्वभाव और (२) बाह्य निमित्त, इन दो प्रकार से बतलाई है *। योगवाशिष्ठ में भी ज्ञान प्राप्ति का वैसा ही क्रम सूचित किया † है। (१०) जैन शास्त्र के चौदह गुणस्थानों के स्थान में चौदह भूमिकाओं का वर्णन योगवाशिष्ठ में ‡ बहुत रुचि कर व विस्तृत है। सात भूमि-

---

इत्येको निश्चयःस्फार सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥"

—उपशम-प्रकरण, स० ७९।

* "तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।"

—तत्त्वार्थ-अ० १, सू० ३।

† "एकस्तावदुरुप्रोक्ता,-दनुष्ठानाच्छनैःशनैः ।
जन्मना जन्मभिर्वापि, सिद्धिदः समुदाहृतः ॥ ३ ॥
द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु, किंचिद्व्युत्पन्नचेतसा ,
भवति ज्ञानसंप्राप्ति,-राकाशफलपातवत् ॥ ४ ॥

—उपशम-प्रकरण, स० ७।

‡ "अज्ञानभूः सप्तपदा, ज्ञभूः सप्तपदैव हि ।
पदान्तराण्यसंख्यानि, भवन्त्यन्यान्यथैतयोः ॥ २ ॥
'तत्रारोपितमज्ञानं, तस्य भूमीरिमाः शृणु ।
बीजजाग्रत्तथाजाग्रन् महाजाग्रत्तथैव च ॥ ११ ॥
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वपनः, स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ।
इति सप्तविधो मोहः, पुनरेव परस्परम् ॥ १२ ॥
श्लिष्टो भवत्येनकाख्यः, शृणु लक्षणमस्य च ।
प्रथमे चेतनं यत्स्या,- दनारूपं निर्मलं चितः ॥ १३ ॥
भविष्यच्चित्तजीवादि,-नामशब्दार्थभाजनम् ।
बीजरूपं स्थितं जाग्रत, बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥ १४ ॥

काएं ज्ञान की और सात अज्ञान की बतलाई हुई हैं, जो जैन परिभाषा के

---

एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था, त्वं जाग्रत्संसृतिं शृणु ।
नवपसूतस्य परा,-दयं चाहमिदं मम ॥ १५ ॥

इति यः प्रत्ययः स्वस्थ,-स्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ।
अयं सोऽहमिदं तन्म, इति जन्मान्तरोदितः ॥ १६ ॥

पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो, महाजाग्रदिति स्फुरन् ।
अरूढमथवा रूढं, सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥ १७ ॥

यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ।
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्य,-मृगतृष्णादिभेदतः ॥ १८ ॥

अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं, स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।
अल्पकालं मया दृष्टं, एवं नो सत्यमित्यपि ॥ १९ ॥

निद्राकालानुभूतेऽर्थे, निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः ।
स स्वप्नः कथितस्तस्य, महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि ॥ २० ॥

चिरसंदर्शनाभावा-दप्रफुल्लबृहद् वपुः ।
स्वप्नो जाग्रत्तयारूढो, महाजाग्रत्पदं गतः ॥ २१ ॥

अक्षते वा क्षते देहे, स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत् ।
षडवस्थापरित्यागे, जडा जीवस्य या स्थितिः ॥ २२ ॥

भविष्यद्दुःखबोधाढ्या, सौषुप्ती सोच्यते गतिः ।
एते तस्यामवस्थायां, तृणलोष्ठशिलादयः ॥ २३ ॥

पदार्थाः संस्थिताः सर्वे, परमाणुप्रमाणिनः ।
सप्तावस्था इति प्रोक्ता, मयाऽज्ञानस्य राघव ॥ २४ ॥"

उत्पत्ति–प्रकरण स० ११७ ।

"ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या, प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु, तृतीया तनुमानसा ॥ ५ ॥

अनुसार क्रमशः मिथ्यात्व की और सम्यक्त्व की अवस्था की सूचक हैं। (११) योगवाशिष्ठ में तत्त्वज्ञ, समदृष्टि, पूर्णाशय और मुक्त पुरुष का

---

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्या,-त्ततो संसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी, सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ६ ॥
आसामन्त स्थिता मुक्ति,-स्तस्यां भूयो न शोच्यते।
एतासां भूमिकानां त्व,-मिदं विद्धि राघव ॥ ७ ॥
स्थितः किं मूढ एवास्मि, प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति, शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ ८ ॥
शास्त्रसज्जनसंपर्क-वैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या, प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥
विचारणा शुभेच्छाभ्या,-मिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र हा तनुतामावा,-त्प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥
भूमिकात्रितयाभ्यासा,-च्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे, सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥
दशाचतुष्टयाभ्यासा,-दसंसंगफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारा,-त्प्रोक्ता संसक्तिनामिका ॥ १२ ॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासा,-त्स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां, पदार्थानामभावनात् ॥ १३ ॥
परप्रयुक्तेन चिरं, प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावना नाम्री, षष्ठी संजायते गतिः ॥ १४ ॥
भूमिषट्कचिराभ्यासा,-देभ्दस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥ १५ ॥"

उत्पत्ति-प्रकरण, स० ११८।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो वर्णन * है वह जैन-संकेतानुसार चतुर्थ आदि गुणस्थान में स्थित आत्मा को लागू पड़ता है। जैन शास्त्र में जो ज्ञान का महत्व वर्णित† है,

---

* योग निर्वाण-प्र०, स० १७०; निर्वाण -प्र० उ, स० ११६।
योग० स्थिति-प्रकरण, स० ५७; निर्वाण-प्र०स० १६६।

† "जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्, तृष्णा कृष्णाऽहिजाङ्गली।
पूर्णानन्दस्य तत्किं स्या,-द्दैन्यवृश्चिकवेदना ॥ ४ ॥"

—ज्ञानासार, पूर्णताष्टक।

"अस्ति चेद्ग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः।
प्रदीपाःकोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥ ६ ॥
मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिशोभितः।
निर्भयः शक्रवद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम्।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

ज्ञानासार ज्ञानाष्टक।

संसारे निवसन् स्वार्थं,-सज्जः कज्जलवेश्मनि।
लिप्यते निखिलो लोको, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥ १ ॥
नाहं पुद्गलभावनां, कर्त्ता कारयिता च।
नानुमन्तापि चत्यात्म,-ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥ २ ॥
लिप्यते पुद्गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्गलैरहम्।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥ ३ ॥
लिप्तताज्ञानसंपात,-प्रतिघाताय केवलम्।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥ ४ ॥

तपःश्रुतादिना मत्तः, क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसंपन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥ ४ ॥"

ज्ञानसार, निर्लेपाष्टक ।

"छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविषलतां बुधाः ।
सुखशोकं च मूर्च्छां च, दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥ ३ ॥"

ज्ञानसार, निःस्पृहाष्टक ।

"मिथोयुक्तपदार्थाना, मसंक्रमेचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥ ७ ॥
अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।
पश्यन्ति परमात्मान, मात्मन्येव हि योगिनः ॥ ८ ॥"

ज्ञानासार, विद्याष्टक ।

"भवसौख्येन किं भूरि, भयज्वलनभस्मना ।
सदा मयोज्झितं ज्ञान, सुखमेव विशिष्यते ॥ २ ॥
न शोच्यं क्वापि नारोप्यं, हेयं देयं च न क्वचित् ।
क्व भयेन मुनेः स्थेयं, ज्ञेयं ज्ञानंन पश्यतः ॥ ३ ॥
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय, निघ्नन्मोहचमूं मुनिः ।
विभेति नैव संग्राम, शीर्षस्थ इव नागराट ॥ ४ ॥
मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चे, त्प्रमर्पति मनोवने ।
वेष्टनं भवसर्पाणां, न तदाऽऽनन्दचन्दने ॥ ५ ॥
कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म बिभर्ति यः ।
क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसंगरकेलिषु ॥ ६ ॥
तूलवल्लघवो मूढा, भ्रमन्त्यत्र भयानिलैः ।
नैकं रोमापि तैर्ज्ञानि, गरिष्ठानां तु कम्पते ॥ ७ ॥

वही योगवाशिष्ठ में प्रज्ञामाहात्म्य के नाम से उल्लिखित है*।

चित्ते परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम् ।
अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् ॥ ८ ॥

ज्ञानसार, निर्भयाष्टक।

"अदृष्टार्थेतु धावन्तः, शास्त्रदीपं विना जडाः ।
प्राप्नुवन्ति परं खेदं, प्रस्खलन्तः पदे पदे ॥ ४ ॥

"अज्ञानाहिमहामन्त्रं, स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम् ।
धर्मारामसुधाकुल्यां, शास्त्रमाहुर्महर्षयः ॥ ७ ॥

शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च, शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः ।
शास्त्रैकदृग् महायोगी, प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ८ ॥

ज्ञानसार, शास्त्राष्टक।

"ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥

आनुस्रोतसिकी वृत्ति, र्बालानां सुखशीलता ।
प्रातिस्रोतसिकी वृत्ति, र्ज्ञानिनां परमं तपः ॥ २ ॥"

"सदुपायप्रवृत्तानां, सुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानन्द, वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥"

ज्ञानसार, तपोष्टक।

*"न तद्गुरोर्न शास्त्रार्था, न्न पुण्यात्प्राप्यते पदम् ।
यत्साधुसङ्गाभ्युदिता, द्विचारविशदाद्बुदः ॥ १७ ॥
सुन्दर्या निजया बुद्ध्या, प्रज्ञयेव वयस्यया ।
पदमासाद्यते राम, न नाम क्रियया ऽन्यया ॥ १८ ॥

यस्योज्ज्वलति तीक्ष्णाग्रा, पूर्वापरविचारिणी ।
प्रज्ञादीपशिखा जातु, जाड्यान्ध्यं तं न बाधते ।१९॥

दुरुत्तरा या विपदो, दुःखकल्लोलसंकुलाः ।
तीर्यंते प्रज्ञया ताभ्यो, नायाज्यद्भ्यो महामते ॥२०॥

प्रज्ञाविरहितं मूढ,—मापदल्पापि बाधते ।
पेलवाचानिलकला, सारहीनमिवोलपम् ॥२१॥"

"प्रज्ञावानसहायोऽपि, कार्यान्तमधिगच्छति ।
दुष्प्रज्ञः कार्यमासाद्य, प्रलयन्नपि नश्यति ॥२३॥

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुदर्शनलालजी महाराज

शास्त्रसज्जनसंसर्गैः प्रज्ञां पूर्वं विवर्धयेत् ।
सेकसंरक्षणारम्भैः, फलप्राप्तौ लतामिव ॥२४॥

प्रज्ञाबलबृहन्मूलः, काले सत्कार्यपादपः ।
फलं फलत्यतिस्वादु भासोबिम्बमिवेन्दवम् ॥२५॥

य एव यत्नः क्रियते, बाह्यार्थोपार्जने जनैः ।
स एव यत्नः कर्तव्यः, पूर्वं प्रज्ञाविवर्धने ॥२६॥

सीमान्तं सर्वदुःखाना, मापदां कोशमुत्तमम् ।
बीजं संसारवृक्षाणां, प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत् ॥२७॥

स्वर्गाद्याद्यच्च पाताला, द्राज्याद्यत्समवाप्यते ।
तत्समासाद्यते सर्वं, प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥२८॥

प्रज्ञयोत्तीर्यते भीमा, त्तस्मात्संसारसागरात् ।
न दानैर्न च वा तीर्थैः, स्तपसा न च राघव ॥२९॥

यत्प्राप्ताः संपदं दैवी, मपि भूमिचरा नराः ।
प्रज्ञापुण्यलतायास्त, त्फलं स्वादु समुत्थितम् ॥३०॥

प्रज्ञया नखरालून, मत्तवारणयूथपाः ।
जम्बुकैर्विजिताः सिंहा, सिंहैर्हरिणका इव ॥३१॥

सामान्यैरपि भूपत्व, प्राप्त प्रज्ञावशान्नरैः ।
स्वर्गापवर्गयोग्यत्वं प्राज्ञस्यैवेह दृश्यते ॥३२॥

प्रज्ञया वादिनः सर्वे स्वविकल्पविलासिनः ।
जयन्ति सुभटप्रख्या, नरानप्यतिभीरवः ॥३३॥

चिन्तामणिरिय प्रज्ञा, हृत्कोशस्था विवेकिनः ।
फलं कल्पलतेवेषा, चिन्तित सम्प्रयच्छति ॥३४॥

भव्यस्तरति संसार, प्रज्ञयापोह्यतेऽधमः ।
शिक्षितः पारमाप्नोति, नावा नाप्नोत्यशिक्षितः ॥३५॥

धीः सम्यग्योजिता पार, ससम्यग्योजिताऽऽपदम् ।
नरं नयति संसारे, भ्रमन्ती नौरिवार्णवे ॥३६॥

विवेकिनमसंमूढं, प्राज्ञमाशागणोत्थिताः ।
दोषा न परिबाधन्ते, सन्नद्धमिव सायकाः ॥३७॥

प्रज्ञयेह जगत्सर्वं, सम्यगेवाङ्ग दृश्यते ।
सम्यग्दर्शनमायान्ति, नापदो न च संपदः ॥३८॥

पिधानं परमार्कस्य, जडात्मा विततोऽसितः ।
अहंकाराम्बुदो मत्तः, प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥३९॥"

उपशम-प्र०, प्रज्ञामाहात्म्य ।

# योगसम्बन्धी विचार ।

गुणस्थान और योग के विचार में अन्तर क्या है ? गुणस्थान के किंवा अज्ञान व ज्ञान-की भूमिकाओं के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि आत्मा का आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है और योग के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि मोक्ष का साधन क्या है। अर्थात् गुण-स्थान में आध्यात्मिक विकास के क्रम का विचार मुख्य है और योग में मोक्ष के साधन का विचार मुख्य है। इस प्रकार दोनों का मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व भिन्न-भिन्न होने पर भी एक के विचार में दूसरे की छाया अवश्य आ जाती है, क्योंकि कोई भी आत्मा मोक्ष के अन्तिम — अनन्तर या अव्यवहित — साधन को प्रथम ही प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु विकास के क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्भावित साधनों को सोपान-परम्परा की तरह प्राप्त करता हुआ अन्त में चरम साधन को प्राप्त कर लेता है। अत एव योग के—मोक्ष साधन विषयक विचार-में आध्यात्मिक विकास के क्रम की छाया आ ही जाती है। इसी तरह आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है, इसका विचार करते समय आत्मा के शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम परिणाम- जो मोक्ष के साधनभूत हैं, उनकी छाया भी आ ही जाती है। इसलिए गुणस्थान के वर्णन-प्रसङ्ग में योग का स्वरूप संक्षेप में दिखा देना अप्रासङ्गिक नहीं है।

योग किसे कहते हैं ? :— आत्मा का जो धर्म-व्यापार मोक्ष का मुख्य हेतु अर्थात् उपादन कारण तथा बिना विलम्ब से फल देने-वाला हो, उसे योग * कहते हैं। ऐसा व्यापार प्रणिधान आदि शुभ

* "मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते ।
लक्षणं तेन तन्मुख्य,-हेतुव्यापारतास्य तु ॥ १ ॥
—योगलक्षण द्वात्रिंशिका ।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भाव या शुभभावपूर्वक की जाने वाली क्रिया * है। पातञ्जलदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग † कहा है। उसका भी वही मतलब है, अर्थात् ऐसा निरोध मोक्ष का मुख्य कारण है, क्योंकि उसके साथ कारण और कार्य-रूप से शुभ भाव का अवश्य सम्बन्ध होता है।

योग का आरम्भ कब से होता है? :–आत्मा अनादि काल से जन्म मृत्यु-के प्रवाह में पड़ा है और उसमें नाना प्रकार के व्यापारों को करता रहता है। इसलिये यह प्रश्न पैदा होता है कि उसके व्यापार-को कब से योग स्वरूप माना जाय? । इसका उत्तर शास्त्र में ‡ यह दिया गया है कि जब तक आत्मा मिथ्यात्व से व्याप्त बुद्धिवाला, अत एव दिङ्मूढ की तरह उल्टी दिशा में गति करने वाला अर्थात् आत्म–लक्ष्य से भ्रष्ट हो, तब तक उसका व्यापार प्रणिधान आदि शुभ-भाव

---

* 'प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा।
सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाशयाः ।। १० ।।"
'एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया।
प्रत्युत प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया यथा ॥ १६ ।।"

—योगलक्षणद्वात्रिंशिका।

† "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।—पातञ्जलसूत्र, पा० १, सू० २।

‡ "भुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात, फलाक्षेपाच्च दर्शितम्।
चरमे पुद्गलावर्ते, यत एतस्य संभवः ॥ २ ॥
न सम्मार्गाभिमुख्यं स्या,-दावर्तेषु परेषु तु।
मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीनां, दिङ्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥ ३ ॥

—योगलक्षणद्वात्रिंशिका,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



रहित होने के कारण योग नहीं कहा जा सकता । इसके विपरीत जब से मिथ्यात्व का तिमिर कम होने के कारण आत्मा की भ्रान्ति मिटने लगती है और उसकी गति सीधी अर्थात् सन्मार्ग के अभिमुख हो जाती है, तभी से उसके व्यापार को प्रणिधान आदि शुभ-भाव सहित होने के कारण' योग' संज्ञा दी जा सकती है । सारांश यह है कि आत्मा के आनादि सांसारिक काल के दो हिस्से हो जाते हैं । एक चरमपुद्गलपरावर्त और दूसरा अचरम पुद्गलपरावर्त कहा जाता है । चरमपुद्गलपरावर्त अनादि सांसारिक काल का आखिरी और बहुत छोटा अंश * है । अचरमपुद्गलपरावर्त उसका बहुत बड़ा भाग है; क्योंकि चरमपुद्गलपरावर्त को बाद करके अनादि सांसारिक काल, जो अनन्तकालचक्र-परिमाण है, वह सब अचरमपुद्गल-परावर्त कहलाता है । आत्मा का सांसारिक काल, जब चरमपुद्गल-परावर्त-परिमाण बाकी रहता है, तब उसके ऊपर से मिथ्यात्व-मोह का आवरण हटने लगता है । अत एव उसके परिणाम निर्मल होने लगते हैं और क्रिया भी निर्मल भावपूर्वक होती है । ऐसी क्रिया से भाव-शुद्धि और भी बढ़ती है । इस प्रकार उत्तरोत्तर भाव-शुद्धि बढते जाने के कारण चरमपुद्गलपरावर्तकालीन धर्म-व्यापार-को योग कहा है । अचरमपुद्गल परावर्त कालीन व्यापार न तो शुभ-भावपूर्वक होता है और न शुभ-भाव का कारण ही होता है । इसलिये वह परम्परा से भी मोक्ष के न होने के सबब से योग नहीं कहा जाता । पातञ्जलदर्शन में भी अनादि सांसारिक काल के निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्तिधिकार प्रकृति इस

---

* :"चरमावर्तिनो जन्तोः, सिद्धेरासन्नता ध्रुवम् ।
भूयांसोऽभी व्यतिक्रान्ता,- स्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ ॥ २८ ॥"

—मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज


प्रकार दो भेद बतलाये हैं, जो शास्त्र के चरम और अचरम-पुद्गलपरावर्त के जैन समानार्थक * हैं।

**योग के भेद और उनका आधार:—**

जैनशास्त्र में † (१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसंक्षय, ऐसे पाँच भेद योग के किये हैं। पातञ्जलदर्शन में योग के (१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात, ऐसे दो भेद हैं‡। जो मोक्ष का साक्षात्—अव्यवहित कारण हो अर्थात् जिसके प्राप्त होने के बाद तुरन्त ही मोक्ष हो, वही यथार्थ में योग कहा जा सकता है। ऐसा योग जैनशास्त्र के संकेतानुसार वृत्तिसंक्षय और पातञ्जलदर्शन के संकेतानुसार असम्प्रज्ञात ही है। अत एव यह प्रश्न होता है कि योग के जो इतने भेद किये जाते हैं, उनका आधार क्या है? इसका उत्तर यह है कि अलबत्ता वृत्तिसंक्षय किंवा असम्प्रज्ञात ही मोक्ष का साक्षात् कारण होने से वास्तव में योग है। तथापि वह योग किसी विकासगामी आत्मा को पहले ही पहल प्राप्त नहीं होता, किन्तु इसके पहले विकास-क्रम के अनुसार ऐसे अनेक आन्तरिक धर्म-व्यापार करने पड़ते हैं, जो उत्तरोत्तर विकास को बढ़ाने वाले और अन्त में उस वास्तविक योग तक पहुंचाने वाले होते हैं। वे सब धर्म-व्यापार योग के कारण होने से अर्थात् वृत्तिसंक्षय या असम्प्रज्ञात

---

* "योजनाद्योग इत्युक्तो, मोक्षेण मुनिसत्तमैः।
स निवृत्ताधिकारियां, प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः॥ १४॥"
—अपुनर्बन्धद्वात्रिंशिका।

† "अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो, योगमार्गविशारदैः॥ १॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

‡ देखिये, पाद १, सूत्र १७ और १८।

योग के साक्षात् किंवा परम्परा से हेतु होने से योग कहे जाते हैं। सारांश यह है कि योग के भेदों का आधार विकास का क्रम है। यदि विकास क्रमिक न होकर एक ही बार पूर्णतया प्राप्त हो जाता तो योग के भेद नहीं किये जाते। अत एव वृत्तिसंक्षय जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, उसको प्रधान योग समझना चाहिये और उसके पहले के जो अनेक धर्म-व्यापार योगकोटि में गिने जाते हैं, वे प्रधान योग के कारण होने से योग कहे जाते हैं। इन सब व्यापारों की समष्टि को पातञ्जलदर्शन में सम्प्रज्ञात कहा है और जैन-शास्त्र में शुद्धि के तर-तम-भावानुसार उस समष्टि के अध्यात्म आदि चार भेद किये हैं। वृत्तिसंक्षय के प्रति साक्षात् किंवा परम्परा से कारण होने वाले व्यापारों को जब योग कहा गया, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वे पूर्वभावी व्यापार कब से लेने चाहिये। किन्तु इसका उत्तर पहले ही दिया गया है कि चरमपुद्गलपरावर्तकाल से जो व्यापार किये जाते हैं, वे ही योगकोटि में गिने जाने चाहिये। इसका सबब यह है कि सहकारी निमित्त मिलते ही, वे सब व्यापार मोक्ष के अनुकूल अर्थात् धर्म-व्यापार हो जाते हैं। इसके विपरीत कितने ही सहकारी कारण क्यों न मिलें, पर अचरमपुद्गलपरावर्त्त-कालीन व्यापार मोक्ष के अनुकूल नहीं होते।

## योग के उपाय और गुणस्थानों में योगावतार:—

पातञ्जलदर्शन में (१) अभ्यास और (२) वैराग्य, ये दो उपाय योग के बतलाये हुए हैं। उसमें वैराग्य भी पर-अपर-रूप से दो प्रकार का कहा गया है *। योग का कारण होने से वैराग्य को योग मानकर जैन-शास्त्र में अपर-वैराग्य को अतात्त्विक धर्मसन्यास और परवैराग्य को ता-

* देखिये, पाद, १, सूत्र, १२, १५ और १६।

त्विक धर्मसंन्यासयोग कहा * है। जैन-शास्त्र में योग का आरम्भ पूर्व-सेवा से माना गया † है। पूर्व सेवा से अध्यात्म, अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान तथा समता, ध्यान तथा समता से वृत्तिसंक्षय और वृत्तिसंक्षय से मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये वृत्तिसंक्षय ही मुख्य योग है और पूर्व सेवा से लेकर समता पर्यन्त सभी धर्म-व्यापार साक्षात् किंवा परम्परा से योग के उपायमात्र ‡ हैं। अपुनर्बन्धक, जो मिथ्यात्व को त्यागने के लिये तत्पर और सम्यक्त्व-प्राप्ति के अभिमुख होता है, उसको पूर्वसेवा तात्त्विक रूप से होती है और सकृद्बन्धक, द्विर्बन्धक आदि को पूर्वसेवा अतात्त्विक होती है। अध्यात्म और भावना अपुनर्बन्धक तथा सम्यग्दृष्टि को व्यवहार-नय से तात्त्विक और देश-विरति तथा सर्व-विरति को निश्चयनय से तात्त्विक होते हैं। अप्रमत्त, सर्वविरति आदि गुणस्थानों में ध्यान तथा समता उत्तरोत्तर तात्त्विकरूप से होते हैं। वृत्तिसंक्षय तेर-

---

*"विषयदोषदर्शनजनितमापात् धर्मसंन्यासलक्षणं प्रथमम्, स तत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावि-तात्त्विकधर्मसंन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यं, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्त इत्यस्माकं सिद्धान्तः॥"

—श्रीयशोविजयजी-कृत पातञ्जल-दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६।"

†"पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्य, द्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः॥१॥"

—पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका।

‡"उपायत्वेऽत्र पूर्वेषा, मन्त्य एवावशिष्यते।
तप्यञ्चगुणस्थाना, दुपायोऽर्वागिति स्थितिः॥३१॥"

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी म



हवें और चौदहवें गुणस्थान में होता* है। सम्प्रज्ञातयोग अध्यात्म-से लेकर ध्यान पर्यन्त के चारों भेदस्वरुप है और असम्प्रज्ञातयोग वृतिसंक्षयरूप है। इसलिये चौथे से बारहवें गुणस्थान तक में सम्प्रज्ञातयोग और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में असम्प्रज्ञातयोग समझना चाहिए †।

---

*"शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो, वर्धमानगुणः स्मृतः।

भवाभिनन्दिदोषाणा, मपुनर्बन्धको व्यये ॥ १ ॥
अस्यैव पूर्वसेवोक्ता, मुख्याऽन्यस्योपचारतः।

अस्यावस्थान्तरं मार्गं, पतिताभिमुखो पुनः ॥ २ ॥"

—अपुनर्बन्धकद्वात्रिंशिका।

"अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः

अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥१४॥

सकृदावर्तनादीना, मतात्त्विक उदाहृतः।

प्रत्यपायफलप्राय, स्तथा वेषादिमात्रतः ॥१५॥

शुद्धयपेक्षा यथायोगं, चारित्रवत एव च,

हन्त ध्यानादिको योग, स्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ॥१६॥"

—योगविवेकद्वात्रिंशिका।

†"संप्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः।

तात्त्विकी च समापत्ति, र्नात्मनो भाव्यतां विना ॥१५॥

"असम्प्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः ॥

सर्वतोऽस्मादकरण,-नियमः पापगोचरः ॥२१॥"

—योगावतारद्वात्रिंशिका।

## पूर्वसेवा आदि शब्दों की व्याख्या:—

[१] गुरु, देव आदि पूज्यवर्ग का पूजन, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अद्वेष, यह 'पूर्वसेवा' कहलाती है। [२] उचित प्रवृत्तिरूप अणुव्रत-महाव्रत-युक्त होकर मैत्री आदि भावनापूर्वक जो शास्त्रानुसार तत्त्व-चिन्तन करना, वह 'अध्यात्म'* है। [३] अध्यात्म का बुद्धिसंगत अधिकाधिक अभ्यास ही भावना'† है। [४] अन्य विषय के संचार से रहित जो किसी एक विषय का धारावाही प्रशस्त सूक्ष्मबोध हो, वह 'ध्यान'‡ है। [५] अविद्या से कल्पित जो इष्ट-अनिष्ट वस्तुएं हैं, उनमें विवेकपूर्वक तत्त्व-बुद्धि करना अर्थात् इष्टत्व-अनिष्टत्व की भावना छोड़कर उपेक्षा धारण करना 'समता'+ है। [६] मन और शरीर के संयोग से उत्पन्न होने वाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृत्तियों का निर्मूल नाश करना 'वृत्तिसंक्षय'× है।

---

*"औचित्याद्व्रतयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम्।
मैत्र्यादिभावसंयुक्त,-मध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ २ ॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

†"अभ्यासो वृद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगतः।
निवृत्तिरशुभाभ्यासा, द्भावबृंहितश्च तत्फलम् ॥ ६ ॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

‡"उपयोगे विजातीय, प्रत्ययाव्यवधानभाक्।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥११॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

+"व्यवहारकुदृष्ट्योश्चै, रिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते ॥२२॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

×"विकल्पस्पन्दरूपाणां, वृत्तीनामन्यजन्मनाम्।
अपुनर्भावतो रोधः, प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः ॥२४॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

उपाध्याय श्रीयशोविजयजी ने अपनी पातञ्जलसूत्र वृत्ति में वृत्तिसंक्षय शब्द की उक्त व्याख्या की अपेक्षा अधिक विस्तृत व्याख्या की है। उसमें वृत्ति का अर्थात् कर्मसंयोग की योग्यता का संक्षय—ह्रास, जो ग्रन्थिभेद से शुरू होकर चौदहवें गुणस्थान में समाप्त होता है, उसी को वृत्तिसंक्षय कहा है और शुक्लध्यान के पहले दो भेदों में सम्प्रज्ञात का तथा अन्तिम दो भेदों में असम्प्रज्ञात का समावेश किया* है।

## योगजन्य विभूतियाँ:—

योग से होनेवाली ज्ञान, मनोबल- वचनबल, शरीरबल आदि सम्बन्धिनी अनेक विभूतियों का वर्णन पातञ्जल-दर्शन में† है। जैन, शास्त्र में वैक्रियलब्धि, आहारकलब्धि, अवधिज्ञान मनःपर्याय, ज्ञान आदि सिद्धियाँ ‡ वर्णित हैं, सो योग का ही फल है।

बौद्धदर्शन में भी आत्मा की संसार, मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी हुई है। इसलिये उसमें आध्यात्मिक क्रमिक विकास का वर्णन होना स्वाभाविक है। स्वरूपोन्मुख होने की स्थिति से लेकर स्वरूप की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने तक की स्थिति का वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों में + है, जो

---

* द्विविधोऽप्ययमध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिसंक्षयभेदेन पञ्चधोक्तस्य योगस्य पञ्चमभेदेऽवतरति" इत्यादि,

—पाद १, सू० १८।

† देखिये, तीसरा विभूतिपाद।

‡ देखिये, आवश्यक-निर्युक्ति, गा० ६६ और ७०।

+ देखिये, प्रो० सि० वि० राजवाड़े-सम्पादित मज्झिमनिकायः—

| सू० | पे० | सू० | पे० | सू० | पे० | सू० | पे० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ६. | २, | २२. | १५, | ३४. | ४, | ४८. | १०। |

पाँच विभागों में विभाजित है। इनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) धर्मानुसारी, (२) सोतापन्न (३) सकदागामी. (४) अनागामी और (५) अरहा। (१) इनमें से 'धर्मानुसारी' या 'श्रद्धानुसारी' वह कहलाता है, जो निर्वाणमार्ग के अर्थात् मोक्षमार्ग के अभिमुख हो, पर उसे प्राप्त न हुआ हो। इसी को जैनशास्त्र में 'मार्गानुसारी' कहा है और उसके पैंतीस गुण बतलाये हैं*। (२) मोक्षमार्ग को प्राप्त किये हुए आत्माओं के विकास की न्यूनाधिकता के कारण सोतापन्न आदि चार विभाग हैं। जो आत्मा अविनिपातधर्मा नियत और सम्बोधिपरायण हो, उसको 'सोतापन्न' कहते हैं। सोतापन्न आत्मा सातवें जन्म में अवश्य निर्वाण पाता है। (३) 'सकदागामी' उसे कहते हैं, जो एक ही बार इस लोक में जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो। (४) जो इस लोक में जन्म ग्रहण न करके ब्रह्म लोक से सीधे ही मोक्ष जानेवाला हो, वह 'अनागामी' कहलाता है। (५) जो सम्पूर्ण आस्रवों का क्षय करके कृतकार्य हो जाता है, उसे 'अरहा' † कहते हैं।

धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच अवस्थाओं का वर्णन मज्झिम-निकाय में बहुत स्पष्ट किया हुआ है। उसमें वर्णन ‡ किया है कि तत्कालजात वत्स, कुछ बड़ा किन्तु दुर्बल वत्स, प्रौढ़ वत्स, हल में जोतने लायक बलवान् बैल और पूर्ण वृषभ जिस प्रकार उत्तरोत्तर अल्प-अल्प श्रम से गङ्गा नदी के तिरछे प्रवाह को पार कर लेते हैं,

---

* देखिये, श्रीहेमचन्द्राचार्य-कृत योगशास्त्र, प्रकाश १।

† देखिये, प्रो० राजवाड़े-संपादित मराठीभाषान्तरित दीघ-निकाय, पृ० १७६ टिप्पनी।

‡ देखिये, पृ० १५६।

वैसे ही धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच प्रकार के आत्मा भी मार—काम के वेग को उत्तरोत्तर अल्प श्रम से जीत सकते हैं।

बौद्ध-शास्त्र में दस संयोजनाएँ—बन्धन वर्णित * हैं। इनमें से पाँच 'ओरंभागीय' और पाँच 'उड्ढंभागीय' कही जाती हैं। पहली तीन संयोजनाओं का क्षय हो जाने पर सोतापन्न-अवस्था प्राप्त होती है। इसके बाद राग, द्वेष और मोह शिथिल होने से सकदागामी-अवस्था प्राप्त होती है। पाँच ओरंभागीय संयोजनाओं का नाश हो जाने पर औपपत्तिक अनावृत्तिधर्मा किंवा अनागामी-अवस्था प्राप्त होती है और दसों संयोजनाओं का नाश हो जाने पर अरहा पद मिलता है। यह वर्णन जैनशास्त्र-गत कर्म-प्रकृतियों के क्षय के वर्णन जैसा है। सोतापन्न आदि उक्त चार अवस्थाओं का विचार चौथे से लेकर चौदहवें तक के गुणस्थानों के विचारों से मिलता-जुलता है अथवा यों कहिये कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ आदि गुणस्थानों का संक्षेप मात्र हैं।

जैसे जैन-शास्त्र में लब्धिका तथा योगदर्शन में योगविभूति का वर्णन है, वैसे ही बौद्ध-शास्त्र में भी आध्यात्मिक-विकास-कालीन सिद्धियों का वर्णन है, जिनको उसने 'अभिज्ञा' करते हैं। ऐसी अभिज्ञाएँ छह हैं, जिनमें पाँच लौकिक और एक लोकोत्तर कही गयी † है।

---

* ( १ ) सक्कायदिट्ठि, ( २ ) विचिकिच्छा, ( ३ ) सीलब्बत परामास, ( ४ ) कामराग, ( ५ ) पटीघ, ( ६ ) रूपराग, ( ७ ) अरूपराग ( ८ ) मान, ( ९ ) उद्धच्च और ( १० ) अविज्जा। मराठीभाषान्तरित दीघनिकाय, पृ० १७५ टिप्पणी।

† देखिये—मराठीभाषान्तरित दीघनिकाय, पृ० १५६।

बौद्ध-शास्त्र में बोधिसत्त्व का जो लक्षण * है, वही जैन-शास्त्र के अनुसार सम्यग्दृष्टिका लक्षण हैं। जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह यदि गृहस्थ के आरम्भ-समारम्भा आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है, तो भी उसकी वृत्ति तप्तलोहपदन्यासवत् अर्थात् गरम लोहे पर रक्खे जाने वाले पैर के समान सकम्प या पाप-भीरु होती है। बौद्ध-शास्त्र में में भी बोधिसत्त्व का वैसा ही स्वरूप मानकर उसे कायपाती अर्थात् शरीर मात्र से [चित्त से नहीं] सांसारिक प्रवृत्ति में पड़ने वाला कहा है †। वह चित्त पाती नहीं होता।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इति।

---

* "कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम्।
न चित्तपातिनस्तावत्,-देवदत्तापि युक्तिमत् ।।२७१।।"

—योगबिन्दु।

† "एवं च यत्परैरुक्तं, बोधिसत्त्वस्य लक्षणम्।
विचार्यमाणं सन्नीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ।। १० ।।
तप्तलोहपदन्यास,-तुल्यावृत्तिः क्वचिद्यदि।
इत्युक्तेः कायपात्येव, चित्तपाती न स स्मृतः ।। ११ ।।"

—सम्यग्दृष्टिद्वात्रिंशिका।

श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीदेवेन्द्रसूरि-विरचित 'षडशीतिक' नामक

# चौथा कर्मग्रन्थ ।

## मंगल और विषय ।

नमिय जिणं जिअमग्गण,-गुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥

नत्वा जिनं जीवमार्गणागुणस्थानोपयोगयोगलेश्याः ।
बन्धाल्पबहुत्वभावान् संख्येयादीन् किमपि वक्ष्ये ॥ १ ॥

अर्थ – श्रीजिनेश्वर भगवान् को नमस्कार करके जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, अल्पबहुत्व, भाव और संख्या आदि विषयों को मैं संक्षेप से कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ – इस गाथा में चौदह विषय संगृहीत हैं, जिनका विचार अनेक रीति से इस कर्मग्रन्थ में किया हुआ है। इनमें से जीवस्थान आदि दस विषयों का कथन तो गाथा में स्पष्ट ही किया गया है, और उदय, उदीरणा, सत्ता और बन्धहेतु, ये चार विषय 'बन्ध' शब्द से सूचित किये गये हैं।

सर्वाधिकार : आचार्य श्री सूरिविसागर जी महाराज

इस ग्रन्थ के तीन विभाग हैं:—(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान और (३) गुणस्थान। पहले विभाग में जीवस्थान को लेकर आठ विषय का विचार किया गया है; यथा:—(१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता। दूसरे विभाग में मार्गणास्थान पर छह विषयों की विवेचना की गई है:—(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्पबहुत्व। तीसरे विभाग में गुणस्थान को लेकर बारह विषयों का वर्णन किया गया है:—(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्धहेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पबहुत्व, (११) भाव और (१२) संख्यात आदि संख्या।

---

१—इन विषयों की संग्रह-गाथायें ये हैं:—

"नमिय जिणं वत्तव्वा, चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा।
जोगुवओगो लेसा, बंधुदओदीरणा सत्ता ॥ १ ॥
तह मूलचउदमग्गण,—ठाणेसु बासट्टि उत्तरेसुं च।
जिअगुणजोगुवओगा, लेसप्पबहुं च छट्ठाणा ॥ २ ॥
चउदसगुणेसु जिअजो, गुवओगलेसा च बंधहेऊ य।
बंधाइचउअप्पा, बहुं च तो भावसंखाई ॥ ३ ॥"

ये गाथायें श्रीजीवविजयजी-कृत और श्रीजयसोमसूरि-कृत टबे में हैं। इनके स्थान में पाठान्तरवाली निम्नलिखित तीन गाथायें प्राचीन चतुर्थ कर्म-ग्रन्थ हारिभद्री टीका, श्रीदेवेन्द्रसूरिकृत स्वोपज्ञ टीका और श्रीजयसोमसूरि-कृत टबे में भी हैं:—

"चउदसजियठाणेसु, चउदसगुणठाणगाणि जोगा य।
उवयोगलेसबंधुद,—ओदीरणसंत अट्ठपए ॥ १ ॥

# जीवस्थान आदि विषयों की व्याख्या ।

(१) जीवों के सूक्ष्म, बादर आदि प्रकारों (भेदों) को 'जीवस्थान', कहते हैं। द्रव्य और भाव प्राणों को जो धारण करता है, वह 'जीव' है। पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोछ्वास और आयु, ये दस द्रव्यप्राण हैं, क्योंकि वे जड़ और कर्म-जन्य हैं। ज्ञान, दर्शन आदि पर्याय, जो जीव के गुणों के ही कार्य हैं, वे भावप्राण हैं। जीव की यह व्याख्या संसारी अवस्था को लेकर की गई है, क्योंकि जीवस्थानों में संसारी जीवों का ही समावेश है; अत एव वह मुक्त जीवों में लागू नहीं पड़

---

चउदससग्गणठाणे,–सुमूलपएसु बिसट्ठि इयरेसु ।
जियगुणजोगुवओगा, लेसप्पबहुं च छट्ठाणा ॥ २ ॥
चउदसगुणठाणेसुं, जियजोगुवओगलेसबंधा य ।
बंधुदयुदीरणाओ, संतप्पबहुं च दस ठाणा ॥ ३ ॥"

१—जीवस्थान के अर्थ में 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग भी दिगम्बरीय साहित्य में मिलता है। इसकी व्याख्या उसमें इस प्रकार है:—

'जेहिं अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी ।
ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया ॥७०॥
तसचदुजुगाणमज्झे,'अविरुद्धेहि जुदजादिकम्मुदये ।
जीवसमासा होंति हु, तब्भवसारिच्छसामण्णा ॥७१॥"

—जीवकाण्ड ।

जिन धर्मों के द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक जातियों का बोध होता है, वे 'जीवसमास' कहलाते हैं ॥७०॥ तथा त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक युगल में से अविरुद्ध नामकर्म (जैसे-सूक्ष्म से अविरुद्ध स्थावर) के उदय से युक्त जाति नामकर्म का उदय होने पर जो ऊर्ध्वतासामान्य, जीवों में होती है, वह 'जीवसमास' कहलाता है।। ७१ ॥

कालक्रम से अनेक अवस्थाओं के होने पर भी एक ही वस्तु का जो पूर्वापर सादृश्य देखा जाता है, वह 'ऊर्ध्वतासामान्य' है। इससे उलटा एक समय में ही अनेक वस्तुओं की जो परस्पर समानता देखी जाती है, वह 'तिर्यक्सामान्य' है।

सकती। मुक्त जीव में निश्चय दृष्टि से की हुई व्याख्या घटती है; जैसे:—जिसमें चेतना गुण है, वह 'जीव' इत्यादि हैं[1]।

(२) मार्गणा के अर्थात् गुणस्थान, योग, उपयोग आदि की विचारणा के स्थानों ( विषयों ) को 'मार्गणास्थान' कहते हैं। जीव के गति इन्द्रिय आदि अनेक प्रकार के पर्याय ही ऐसे स्थान हैं, इसलिये वे मार्गणास्थान कहलाते हैं[2]।

(३) ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होने वाले जीव के भिन्न भिन्न स्वरूपों को गुणस्थान[3] कहते हैं।

---

१—"तिक्काले चदु पाणा, इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्छयणयदो दुचेदणा जस्स ॥३॥"
—द्रव्यसंग्रह।

२—इस बात को गोम्मटसार-जीवकाण्ड में भी कहा है:—
"जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोदस जाणे, सुयणाणे मग्गणा होंति ॥१४०॥"

जिन पदार्थों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में जीवों की विचारणा, सर्वज्ञ की दृष्टि के अनुसार की जावे, वे पर्याय 'मार्गणास्थान' हैं।

गोम्मटसार में 'विस्तार' 'आदेश' और 'विशेष', ये तीन शब्द मार्गणास्थान के नामान्तर माने गये हैं। —जीव०, गा० ३।

३—इसकी व्याख्या गोम्मटसार-जीवकाण्ड में इस प्रकार है:—
"जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहि भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥८॥"

दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के औदयिक आदि जिन भावों ( पर्यायों ) के द्वारा जीवका बोध होता है, वे भाव 'गुणस्थान' हैं।

गोम्मटसार में 'संक्षेप', 'ओघ', 'सामान्य' और 'जीवसमास,' ये चार शब्द गुणस्थान के समानार्थक हैं। —जी०, गा० ३ तथा १०।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर



जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये सब जीव की अवस्थायें हैं, तो भी इनमें अन्तर यह है कि जीवस्थान, जाति-नामकर्म, पर्याप्त-नामकर्म और अपर्याप्त-नामकर्म के औदयिक भाव हैं; मार्गणास्थान, नाम, मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वेदनीयकर्म के औदायिक आदि भावरुप तथा पारिणामिक भावरूप हैं और गुणस्थान, सिर्फ मोहनीय कर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभावरूप हैं।

(४) चेतना-शक्ति का बोधरूप व्यापार, जो जीव का असाधारण स्वरूप है और जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाना जाता है, उसे 'उपयोग[1]' कहते हैं।

(५) मन, वचन या काय के द्वारा होनेवाला वीर्य-शक्ति का परिस्पन्द—आत्मा के प्रदेशों में हलचल (कम्पन)—'योग' है।

(६) आत्मा का सहजरूप स्फटिक के समान निर्मल है। उसके भिन्न भिन्न परिणाम जो कृष्ण, नील आदि अनेक रँगवाले पुद्गल-विशेष के असर से होते हैं, उन्हें 'लेश्या[2] कहते हैं[3]'।

(७) आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का जो दूध-पानी के समान सम्बन्ध होता है, वही 'बन्ध' कहलाता है। बन्ध, मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है।

---

१—गोम्मटसार-जीवकाण्ड में यही व्याख्या है।

"वत्थुनिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।
सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव णायारो ॥६७१॥"

२—देखिये, परिशिष्ट 'क'।

३—"कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात्परिणामोऽयमात्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते॥"

यह एक प्राचीन श्लोक है। जिसे श्रीहरिभद्रसूरि ने आवश्यक-टीका पृष्ठ $६\frac{४}{१}\frac{५}{}$ पर प्रमाण रूप से लिया है।

(८) बँधे हुए कर्म-दलिकों का विपाकानुभव (फलोदय) "उदय" कहलाता है। कभी तो विपाकानुभव, अबाधाकाल[1] पूर्ण होने पर होता है और कभी नियत अबाधाकाल पूर्ण होने के पहले ही अपवर्तना[2] आदि करण से होता है।

(९) जिन कर्म-दलिकों का उदयकाल न आया हो, उन्हें प्रयत्न-विशेष से खींचकर—बन्धकालीन स्थिति से हटाकर—उदयवलिका में दाखिल करना 'उदीरणा' कहलाती है।

(१०) बन्धन[3] या संक्रमण[4] करण से जो कर्म-पुद्गल, जिस कर्मरूप-में परिणत हुये हों, उनका, निर्जरा[5] या संक्रम[6] से रूपान्तर न होकर उस स्वरूप में बना रहना 'सत्ता'[7] है।

---

१—बँधा हुआ कर्म जितने काल तक उदय में नहीं आता, वह 'अबाधा-काल' है।

२—कर्म के पूर्व-बद्ध स्थिति और रस, जिस वीर्य—शक्ति से घट जाते हैं, उसे 'अपवर्तनाकरण कहते हैं।

३—जिस वीर्य-विशेष से कर्म का बन्ध होता है, वह 'बन्धनकरण' कह-लाता है।

४—जिस वीर्य-विशेष से एक कर्म का अन्य सजातीय कर्मरूप में संक्रम होता है, वह 'संक्रमणकरण' है।

५—कर्मपुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से अलग होना 'निर्जरा' है।

६—एक कर्म-रूप में स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्मरूप में बदल जाना 'संक्रम' है।

७—बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता के ये ही लक्षण यथाक्रम से प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ- के भाष्य में इस प्रकार है.—

"जीवस्स पुग्गलाण य जुग्गाण परुप्परं अभेएणं
मिच्छाइहेउविहिया, जा घडणा इत्थ सो बंधो ॥ ३० ॥
करणेण सहावेण ,य णिइवचए तेसिमुदयपत्ताणं ।
जं वेयणं विवागे,—ण सोउ उदओ जिणाभिहिओ ॥ ३१ ॥

(११) मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामों से कर्म-योग्य पुद्गल,, कर्म-रूप में परिणत हो जाते हैं, उन परिणामों को 'बन्धहेतु' कहते हैं[२]।

(१२) पदार्थों के परस्पर न्यूनाधिक भाव को 'अल्पबहुत्व' कहते हैं।

(१३) जीव और अजीव की स्वाभाविक या वैभाविक अवस्था-को 'भाव' कहते हैं।

(१४) संख्यात, असंख्यात और अनन्त, ये तीनों पारिभाषिक संज्ञायें[३] हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

## विषयों के क्रम का अभिप्राय

सबसे पहले जीवस्थान का निर्देश इसलिये किया है कि वह सबमें मुख्य है, क्योंकि मार्गणास्थान आदि अन्य सब विषयों का विचार जीव को लेकर ही किया जाता है। इसके बाद मार्गणास्थान के निर्देश करने का मतलब यह है कि जीव के व्यवहारिक या परमार्थिक स्वरूप का बोध किसी-न-किसी गति आदि पर्याय के ( मार्गणास्थान के ) द्वारा ही किया जा सकता है। मार्गणास्थान के पश्चात् गुणस्थान के निर्देश करने का मतलब यह है कि जो जीव मार्गणास्थानवर्ती हैं, वे किसी-न-किसी गुणस्थान में वर्तमान होते ही हैं।

---

कम्माणुणं जाए, करणविसेसेण ठिइवचयभावे।
जं उदयावलियाए, पवेसणमुदीरणा ऐह ॥३२॥
बंधणसंकमलद्ध,-त्तलाहकम्मस्सरूवअविणासो।
निज्जरणसंकमेहि, सब्भावो जो य सा सत्ता ॥ ३३ ॥

१—आत्मा के कर्मोदय-जन्य परिणाम 'वैभाविक परिणाम' हैं जैसे-क्रोध आदि

२—देखिये, आगे गाथा ५१–५२।

३—देखिये आगे गा० ७३ से आगे।

गुणस्थान के बाद उपयोग के निर्देश का तात्पर्य यह है कि जो उपयोगवान् हैं, उन्हीं में गुणस्थानों का सम्भव है; उपयोग-शून्य आकाश आदि में नहीं। उपयोग के अनन्तर योग के कथन का आशय यह है कि उपयोग वाले बिना योग के कर्म-ग्रहण नहीं कर सकते। जैसे:—सिद्ध। योग के पीछे लेश्या का कथन इस अभिप्राय से किया है कि योगद्वारा ग्रहण किये गये कर्म-पुद्गलों में भी स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध का निर्माण लेश्या ही से होता है। लेश्या के पश्चात् बन्ध के निर्देश का मतलब यह है कि जो जीव लेश्या-सहित हैं, वे ही कर्म बाँध सकते हैं। बन्ध के बाद अल्पबहुत्व का कथन करने से ग्रन्थकार का तात्पर्य यह है कि बन्ध करने वाले जीव, मार्गणस्थान आदि में वर्तमान होते हुए आपस में अवश्य न्यूनाधिक हुआ करते हैं। अल्पबहुत्व के अनन्तर भाव के कहने का मतलब यह है कि जो जीव अल्पबहुत्व वाले हैं, उनमें औपशमिक आदि किसी-न-किसी भाव का होना पाया ही जाता है। भाव के बाद संख्यात आदि के कहने का तात्पर्य यह है कि भाववाले जीवों का एक दूसरे से जो अल्पबहुत्व है, उसका वर्णन संख्यात, असंख्यात आदि संख्या के द्वारा ही किया जा सकता है।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज


# ( १ )-जीवस्थान-अधिकार ।

## जीवस्थान ।

इह सुहुमबायरेगिं, दिबितिचउअसंनिसनिपंचिदी ।
अपजत्ता पज्जता, कमेण च :दस जियट्ठाणा[1] ॥ २ ॥

इह सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वि त्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः ।
अपर्याप्ताः पर्याप्ताः, क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि ॥ २ ॥

अर्थ—इस लोक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय, ये सातों भेद पर्याप्त अपर्याप्तरूप से दो दो प्रकार के हैं, इसलिये जीव के कुल स्थान ( भेद ) चौदह[2] होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—यहाँ पर जीव के चौदह भेद दिखाये है, सो संसारी अवस्था को लेकर । जीवत्वरूप सामान्य धर्म की अपेक्षा से समानता होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा से जीव अनन्त हैं; इनकी कर्म-जन्य अवस्थायें भी अनन्त हैं; इससे व्यक्तिशः ज्ञान-सम्पादन करना छद्मस्थ के लिये सहज नहीं । इसलिये विशेषदर्शी शास्त्रकारों ने सूक्ष्म एकेन्द्रियत्व आदि जाति की अपेक्षा से इनके चौदह वर्ग किये हैं, जिनमें सभी संसारी जीवों का समावेश हो जाता है ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सूक्ष्म नामकर्म का उदय हो । ऐसे जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं । उनका शरीर इतना सूक्ष्म होता

---

१—यही गाथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ में ज्यों की त्यों है ।
२—ये भेद, पञ्चसंग्रह द्वार २, गा० ८२ में हैं ।

है कि यदि ये संख्यातीत इकट्ठे हों तब भी इन्हें आँखें देख नहीं सकतीं; अत एव इनको व्यवहार के अयोग्य कहा है।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री विजयकस्तूरसूरीश्वरजी महाराज

बादर एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनको बादर नामकर्म का उदय हो। ये जीव, लोक के किसी किसी भाग में नहीं भी होते; जैसे, अचित्त—सोने, चाँदी आदि वस्तुओं में। यद्यपि पृथिवी–कायिक आदि बादर एकेन्द्रिय जीव ऐसे हैं, जिनके अलग अलग शरीर, आँखों से नहीं दीखते; तथापि इनका शारीरिक परिणमन ऐसा बादर होता है कि जिससे वे समुदायरूप में दिखाई देते हैं। इसी से इन्हें व्यवहार-योग्य कहा है। सूक्ष्म या बादर सभी एकेन्द्रियों के इन्द्रिय, केवल त्वचा होती है। ऐसे जीव, पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकार के स्थावर ही हैं।

द्वीन्द्रिय वे हैं, जिनके त्वचा, जीभ, ये दो इन्द्रियाँ हों; ऐसे जीव शङ्ख, सीप, कृमि आदि हैं।

त्रीन्द्रियों के त्वचा, जीभ, नासिका, ये तीन इन्द्रियाँ हैं; ऐसे जीव जूँ, खटमल आदि हैं।

चतुरिन्द्रियों के उक्त तीन और आँख, ये चार इन्द्रियाँ हैं। भौंरे, बिच्छू आदि की गिनती चतुरिन्द्रियों में।

पञ्चेन्द्रियों को उक्त चार इन्द्रियों के अतिरिक्त कान भी होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पञ्चेन्द्रिय हैं। पञ्चेन्द्रिय दो प्रकार के हैं—(१) असंज्ञी और (२) संज्ञी। असंज्ञी वे हैं, जिन्हें संज्ञा न हो। संज्ञी वे हैं, जिन्हें संज्ञा हो। इस जगह संज्ञा का मतलब उस मानस शक्ति से है, जिससे किसी पदार्थ के स्वभाव का पूर्वापर विचार व अनुसन्धान किया जा सके।

द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सब तरह के जीव बादर तथा त्रस ( चलने–फिरने–वाले ) ही होते हैं।

---

१—देखिये, परिशिष्ट 'ख'।

२—देखिये, परिशिष्ट 'ग'।

एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त उक्त सब प्रकार के जीव अपर्याप्त[1], पर्याप्त इस तरह दो दो प्रकार के होते हैं। (क) अपर्याप्त वे हैं, जिन्हें अपर्याप्त नामकर्म का उदय हो। (ख) पर्याप्त वे हैं, जिनको पर्याप्त नामकर्म का उदय हो ॥२॥

## (१)—जीवस्थानों में गुणस्थान।

बायरअसंनिविगले, अपज्जि पढमविय सं नि अपजत्ते।
अजयजुअ सं नि पज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥

बादरासंज्ञिविकलेऽप्पर्याप्ते प्रथमाद्विकं संज्ञिन्यपर्याप्ते।
अयतयुतं संज्ञिनि पर्याप्ते, सर्वगुणा मिथ्यात्वं शेषेषु ॥ ३ ॥

अर्थ—अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त विकलेन्द्रिय में पहला दूसरा दोही गुणस्थान पाये जाते हैं। अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रिय में पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान हो सकते हैं। पर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रिय में सब गुणस्थानों का सम्भव है। शेष सात जीवस्थानों में—अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रय में पहला ही गुणस्थान होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—बादर एकेन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय, इन पाँच अपर्याप्त जीवस्थानों में दो गुणस्थान कहे गये हैं; पर इस विषय में यह जानना चाहिये कि दूसरा गुणस्थान करण-अपर्याप्त-में होता है, लब्धि-अपर्याप्त में नहीं; क्योंकि सास्वादनसम्यग्दृष्टि वाला जीव, लब्धि-अपर्याप्तरूप से पैदा होता ही नहीं। इसलिये करण-

१—देखिये, परिशिष्ट 'घ।'

अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच जीवस्थानों में दो गुणस्थान और लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि पाँचों में पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये।

बादर एकेन्द्रिय में दो गुणस्थान कहे गये हैं सो भी सब बादर एकेन्द्रियों में नहीं; किन्तु पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक में। क्योंकि तेजःकायिक और वायुकायिक जीव, चाहे वे बादर हों पर उनमें ऐसे परिणाम का सम्भव नहीं जिससे सास्वादनसम्यक्त्व-युक्त जीव उनमें पैदा हो सके। इसलिये सूक्ष्म के समान बादर तेज-कायिक-वायुकायिक में पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये।

इस जगह एकेन्द्रियों में दो गुणस्थान पाये जाने का कथन है, सो कर्मग्रन्थ के मतानुसार; क्योंकि सिद्धान्त में एकेन्द्रियों को पहला ही गुणस्थान माना है।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में तीन गुणस्थान कहे गये हैं, सो इस अपेक्षा से कि जब कोई जीव चतुर्थ गुणस्थान-सहित मर कर संज्ञि-पञ्चेन्द्रियरूप से पैदा होता है तब उसे अपर्याप्त अवस्था में चौथे[1] गुणस्थान का सम्भव है। इस प्रकार जो जीव सम्यक्त्वका त्याग करता हुआ सास्वादन भाव में वर्तमान होकर संज्ञिपञ्चेन्द्रियरूप से पैदा होता है, उसमें शरीर पर्याप्त पूर्ण न होने तक दूसरे गुणस्थान का सम्भव है और अन्य सब संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीवों को अपर्याप्त अवस्था में पहला गुणस्थान होता ही है। अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में तीन[2]

---

१—देखिये ४६ वीं गाथा की टिप्पणी।

२— गोम्मटसार में तेरहवें गुणस्थान के समय केवलिसमुद्घात-अवस्था में योग की अपूर्णता के कारण अपर्याप्तता मानी हुई है, तथा छठे गुणस्थान के समय भी आहारकमिश्रकाययोग-दशा में आहारक शरीर पूर्ण न बन जाने तक अपर्याप्तता मानी हुई है। इसलिये गोम्मटसार ( जीव० गा० ११५–११६ ) में निर्वृत्यपर्याप्त और ( श्वेताम्बरसम्प्रदाय-प्रसिद्ध

गुणस्थानों का सम्भव दिखाया, सो करण-अपर्याप्त में; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त में तो पहले के सिवाय किसी गुणस्थान की योग्यता ही नहीं होती।

पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में सब गुणस्थान माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि गर्भज मनुष्य, जिसमें सब प्रकार के शुभाशुभ तथा शुद्धाशुद्ध परिणामों की योग्यता होने से चौदहों गुणस्थान पाये जा सकते हैं, वे संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय ही हैं।

यह शङ्का हो सकती है कि संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में पहले बारह गुणस्थान होते हैं, पर तेरहवाँ चौदहवाँ, ये दो गुणस्थान नहीं होते। क्योंकि इन दो, गुणस्थानों के समय संज्ञित्व का अभाव हो जाता है। उस समय क्षायिक ज्ञान होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञानात्मक संज्ञा, जिसे 'भावमन' भी कहते हैं, नहीं होती। इस शङ्का का समाधान इतना ही है कि संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में तेरहवें, चौदहवें गुण-स्थान का जो कथन है सो द्रव्यमन के सम्बन्ध से संज्ञित्व का व्यवहार अङ्गीकार करके; क्योंकि भावमन के सम्बन्ध से जो संज्ञी हैं, उनमें बारह ही गुणस्थान होते हैं[1]।

---

करण-अपर्याप्त) संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में पहला, दूसरा, चौथा, छठा और तेरहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे गये हैं।

इस कर्मग्रन्थ में करण-अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रिय में तीन गुणस्थानों का कथन है, सो उत्पत्तिकालीन अपर्याप्त-अवस्था को लेकर। गोम्मटसार में पाँच गुणस्थानों का कथन है, सो उत्पत्तिकालीन, लब्धिकालीन उभय अप-र्याप्त-अवस्था को लेकर। इस तरह ये दोनों कथन अपेक्षाकृत होने से आपस में विरुद्ध नहीं है।

लब्धिकालीन अपर्याप्त-अवस्था को लेकर संज्ञी में गुणस्थान का विचार करना हो तो पाँचवाँ गुणस्थान भी गिनना चाहिये, क्योंकि उस गुणस्थान में वैक्रियलब्धि से वैक्रियशरीर रचे जाने के समय अपर्याप्त-अवस्था पायी जाती है।

१—यही बात सप्ततिकाचूर्णि के निम्नलिखित पाठ से स्पष्ट होती है:-

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त शेष सात जीवस्थानों में परिणाम ऐसे संक्लिष्ट होते हैं कि जिससे उनमें मिथ्यात्व के सिवाय अन्य किसी गुणस्थान का सम्भव नहीं है ॥३॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

---

"मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेन संनिणो भन्नंति, मनोविन्नाणं पडुच्च ते संनिणो न भवंति त्ति ।"

केवली को भी द्रव्यमन होता है, इससे वे संज्ञी कहे जाते हैं, परन्तु मनोज्ञान की अपेक्षा से वे संज्ञी नहीं है। केवली अवस्था में द्रव्यमानके सम्बन्ध से संज्ञित्व का व्यवहार गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी माना गया है। यथा: —

"मणसहियाणं वयणं, दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि ।
उत्तो मणोवयारे, –णिंदियणाणेण हीणम्हि ॥२२७॥
अंगोवंगुदयादो, दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदम्हि ।
मणवग्गणखंधाण, आगमणा दो दु मणजोगो ॥२२८॥

संयोगीकेवली गुणस्थान में मन न होने पर भी वचन होने के कारण उपचार से मन माना जाता है; उपचार का कारण यह है कि पहले गुण-स्थानों में मनवालों को वचन देखा जाता है ॥२२७॥

जिनेश्वर को भी द्रव्यमान के लिये अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों का आगमन हुआ करता है; इसलिये उन्हें मनोयोग कहा है ॥२२८॥

# (२)—जीवस्थानों में योग।

[ दो गाथाओं से। ]

अपजत्तछक्कि कम्मुर, लमोसजोगा अपज्जसंनीसु।
ते सविउव्वमीस एसु तणु पज्जेसु उरलमन्ने ॥४॥

अपर्याप्तषट् के कार्मणौदारिकमिश्रयोगावपर्याप्तसंज्ञिषु।
तो सर्वक्रियामिश्रावेषु तनुपर्याप्तेष्वौदारिकमन्ये ॥४॥

अर्थ—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त विकलत्रिक और अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन छह प्रकार के जीवों में कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो ही योग होते हैं। अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग पाये जाते हैं। अन्य आचार्य ऐसा मानते हैं कि 'उक्त सातों प्रकार के अपर्याप्त जीव, जब शरीरपर्याप्ति पूरी कर लेते हैं, तब उन्हें औदारिक काययोग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं" ॥४॥

भावार्थ—सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त छह अपर्याप्त जीव-स्थानों में कार्मण और औदारिकमिश्र दो ही योग माने गये हैं[1]; इसका कारण यह है कि सब प्रकार के जीवों को अन्तराल गति में तथा जन्म-ग्रहण करने के प्रथम समय में कार्मणयोग ही होता है; क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीर का अभाव होने के कारण योग प्रवृत्ति केवल कार्मणशरीर से होती है। परन्तु उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियों के पूर्ण बन जाने तक मिश्रयोग होता है; क्योंकि उस अवस्था में कार्मण और औदारिक आदि

१—यह विषय, पञ्चसं० द्वा० १, गा० ६-७ में है।

स्थूल शरीर की मदद से योगप्रवृत्ति होती है।" सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छहों जीवस्थान औदारिक शरीर वाले ही हैं, इसलिये उनको अपर्याप्त अवस्था में कार्मणकाययोग के बाद औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है। उक्त छह जीवस्थान अपर्याप्त कहे गये हैं। सो लब्धि तथा करण, दोनों प्रकार से अपर्याप्त समझने चाहिये।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में मनुष्य, तिर्यञ्च देव और नारक सभी सम्मिलित हैं, इसलिये उसमें कार्मणकाययोग और कार्मणकाययोग के बाद मनुष्य और तिर्यञ्च की अपेक्षा से औदारिकमिश्रकाययोग तथा देव और नारक की अपेक्षा से वैक्रियमिश्रकाययोग, कुल तीन योग माने गये हैं।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गाथा में जिस मतान्तर का उल्लेख है, वह शीलाङ्क आदि आचार्यों का है। उनका अभिप्राय यह है कि "शरीरपर्याप्ति पूर्ण बन जाने से शरीर पूर्ण बन जाता है। इसलिये अन्य पर्याप्तियों की पूर्णता न होने पर भी जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाती है तभी से मिश्रयोग नहीं रहता; किन्तु औदारिक शरीरवालों को औदारिककाययोग और वैक्रियशरीर वालों को वैक्रियकाययोग[1] ही होता है।" इस मतान्तर के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीव स्थानों में कार्मण, औदारिकमिश्र और औदारिक, ये तीन योग और

---

१—जैसे:—"औदारिकयोगस्तिर्यग्मनुजयोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं, तदा रतस्तु मिश्रः।" आचाराङ्ग—अध्य० २, उद्दे० १ की टीका पृ० ६४।

यद्यपि मतान्तर के उल्लेख में गाथा में 'उरलं' पद ही है; तथापि वह वैक्रियकाययोग का उपलक्षक (सूचक) है। इसलिये वैक्रियशरीरी देव-नारकों को शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाने के बाद अपर्याप्त-दशा में वैक्रिय-काययोग समझना चाहिये।

इस मतान्तर को एक प्राचीन गाथा के आधार पर श्रीमलयगिरिजी ने पञ्चसंग्रह द्वा० १, गा० ६-७ की वृत्ति में विस्तारपूर्वक दिखाया है।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में उक्त तीन तथा वैक्रियमिश्र और वैक्रिय, कुल पाँच योग समझने चाहिये।"

उक्त मतान्तर के सम्बन्ध में टीका में लिखा है कि यह मत युक्ति-हीन है; क्योंकि केवल शरीरपर्याप्ति बन जाने से शरीर पूरा नहीं बनता; किन्तु उसकी पूर्णता के लिये स्वयोग्य सभी पर्याप्तियों का पूर्ण बन जाना आवश्यक है। इसलिये शरीरपर्याप्ति के बाद भी अपर्याप्त-अवस्था पर्यन्त मिश्रयोग मानना युक्त है ॥४॥

सव्वे संनिपज्जत्ते, उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु ।
बायरि सविउव्विदुगं, पज्जसंनिसु बार उवओगा ॥५॥

सर्वे संज्ञिनि पर्याप्त औदारिकं सूक्ष्मे सभाष तच्चतुर्षु ।
बादरे सर्वक्रियद्विकं, पर्याप्तसंज्ञिषु द्वादशोपयोगाः ॥५॥

अर्थ—पर्याप्त संज्ञी में सब योग पाये जाते हैं। पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय में औदारिककाययोग ही होता है। पर्याप्त विकलेन्द्रिय-त्रिक और पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानों में औदारिक और असत्यामृषावचन, ये दो योग होते हैं। पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय में औदारिक, वैक्रिय तथा वैक्रियमिश्र, ये तीन काययोग होते हैं। ( जीवस्थानों में उपयोगः— ) पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में सब उपयोग होते हैं ॥५॥

भावार्थ—"पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में छहों पर्याप्तियाँ होती हैं" इसलिये उसकी योग्यता विशिष्ट प्रकार की है। अतएव उसमें चारों वचनयोग, चारों मनोयोग और सातों काययोग होते हैं।

"यद्यपि कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग अपर्याप्त-अवस्था-भावी हैं' तथापि वे संज्ञि-पञ्चेन्द्रियों में पर्याप्त-अवस्था में भी पाये जाते है।" कार्मण तथा औदारिकमिश्रकाययोग पर्याप्त-अवस्था में तब होते हैं, जबकि केवली भगवान् केवलि-समुद्घात रचते

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज


हैं। केवलि-समुद्घात की स्थिति आठ समय-प्रमाण मानी हुई है; इसके तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मणकाययोग और दूसरे, छठे तथा सातवें समय में औदारिकमिश्रकाययोग होता है[1]" "वैक्रियमिश्रकाययोग, पर्याप्त-अवस्था में तब होता है, जब कोई वैक्रियलब्धिधारी मुनि आदि वैक्रियशरीर को बनाते हैं।"

आहारककाययोग तथा आहारकमिश्रकाययोग के अधिकारी, "चतुर्दशपूर्वधर मुनि हैं।" उन्हें आहारकशरीर बनाने व त्यागने के समय आहारकमिश्रकाययोग और उस शरीर को धारण करने के समय आहारककाययोग होता है।" "औदारिककाययोग के अधिकारी, सभी पर्याप्त मनुष्य-तिर्यञ्च और वैक्रियकाययोग के अधिकारी, सभी पर्याप्त देव-नारक हैं।"

"सूक्ष्म-एकेन्द्रिय को पर्याप्त-अवस्था में औदारिककाययोग ही माना गया है। इसका कारण यह है कि उसमें जैसे मन तथा वचन की लब्धि नहीं है, वैसे ही वैक्रिय आदि लब्धि भी नहीं है। इसलिये वैक्रियककाययोग आदि का उसमें सम्भव नहीं है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानों में पर्याप्त-अवस्था में व्यवहार भाषा-असत्यामृषाभाषा होती है; क्योंकि उन्हें मुख होता है। काययोग, उनमें औदारिक ही होता है। इसी से उनमें दो ही योग कहे गये हैं।

---

१—यही बात भगवान् उमास्वातिने कही है:—

"औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थ के पञ्चमे तृतीये च।
समयत्रयेऽपि तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात्॥२७६॥"

—प्रशमरति अधि० २०।

बादर-एकेन्द्रिय को—"पाँच स्थावर को, पर्याप्त-अवस्था में औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग माने हुये हैं। इनमें से औदारिककाययोग तो सब तरह के एकेन्द्रियों को पर्याप्त-अवस्था में होता है, पर वैक्रिय तथा वैक्रियमिश्रकाययोग के विषय में यह बात नहीं है। ये दो योग, "केवल बादरवायुकाय में होते हैं; क्योंकि बादरवायुकायिक जीवों को वैक्रियलब्धि होती है[1]। इससे वे जब वैक्रियशरीर बनाते हैं, तब उन्हें वैक्रियमिश्रकाययोग और वैक्रियशरीर पूर्ण बन जाने के बाद वैक्रियकाययोग समझना चाहिये। उनका वैक्रियशरीर ध्वजाकार माना गया है[2]।"

---

१—"आद्यं तिर्यग्मनुष्याणां देवनारकयोः परम्।
केषांचिल्लब्धिमद्वायु,—संज्ञितिर्यग्नृणामपि ॥ १४४ ॥"

—लोक प्रकाश सर्ग: ३

"पहला ( औदारिक ) शरीर, तिर्यञ्चों और मनुष्यों को होता है; दूसरा ( वैक्रिय ) शरीर देवों, नारकों, लब्धिवाले वायुकायिकों और लब्धिवाले संज्ञी तिर्यञ्च—मनुष्यों को होता है।" वायुकायिक को लब्धि-जन्य वैक्रिय शरीर होता है यह बात, तत्त्वार्थ मूल तथा उसके भाष्य में स्पष्ट नहीं है, किन्तु इसका उल्लेख भाष्य की टीका में है:—

"वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव" इत्यादि।

—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ४८ की भाष्य-वृत्ति।

दिगम्बरीय साहित्य में कुछ विशेषता है। उसमें वायुकायिक के समान तेजःकायिक को भी वैक्रियशरीर का स्वामी कहा है। यद्यपि सर्वार्थ-सिद्धि में तेजःकायिक तथा वायुकायिक के वैक्रियशरीर के सम्बन्ध में कोई उल्लेख देखने में नहीं आया, पर राजवार्तिक में है.—

"वैक्रियिकं देवनारकाणां, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रितिर्यग्मनुष्याणां च केषांचित्॥" —तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ४९, राजवर्तिक ८।

यही बात गोम्मटसार-जीवकाण्ड में भी है:—

"बादरतेऊबाऊ, पंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति।
ओरालियं सरीरं, विगुव्वणप्पं हवे जेसिं ॥२३२॥"

२—यह मन्तव्य श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान है:—

## (३)—जीवस्थानों में उपयोग[1] ।

पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में सभी उपयोग पाये जाते हैं; क्योंकि गर्भज-मनुष्य, जिनमें सब प्रकार के उपयोगों का सम्भव है, वे संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय हैं । उपयोग बारह हैं, जिनमें पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान, ये आठ साकार ( विशेषरूप ) हैं और चार दर्शन, ये निराकार ( सामान्यरूप ) हैं। इनमें से केवल ज्ञान और केवल दर्शन की स्थिति समयमात्र की और शेष छाद्मस्थिक दस उपयोगों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की मानी हुई है[2] ।

---

"मरुतां तद्ध्वजाकार, द्वैधानामपि भूरुहाम् ।
स्युः शरीराण्यनियत,—संस्थानानीति तद्विदः ॥२५४॥"
—लो० प्र०, स० ५ ।

"मसुरंबुबिंदिसूई,—कलावधयसण्णिहो हवे देहो ।
पुढवी आदि चउण्हं, तरुतसकाया अणेयविहा ॥२००॥"
—जीवकाण्ड ।

१—यह विचार, पञ्चसं द्वा० १, गा० ८ में है ।

२—छाद्मस्थिक उपयोगों की अन्तर्मुहूर्त्त–प्रमाण स्थिति के सम्बन्ध में तत्त्वार्थ-टीका में नीचे लिखे उल्लेख मिलते हैं:—

"उपयोगस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्त्तपरिणामः प्रकर्षाद्भवति ।"
—अ० २, सू० ८ की टीका ।

"उपयोगतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव जघन्योत्कृष्टाभ्याम् ॥"
—अ० २, सू० ९ की टीका ।

"उपयोगतस्तु तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम् ।"
—अ० २, सू० ९ की टीका ।

यह बात गोम्मटसार में भी उल्लिखित है:—

"मदिसुदओहिमणेहिं य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं ।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो ॥६७३॥

सभी उपयोग क्रमभावी[1] हैं, इसलिये एक जीव में एक समय में कोई भी दो उपयोग नहीं होते ॥५॥"

**पजचउरिंदिअसंनिसु, दुदंस दु अनाण दससु चक्खुविणा**
**संनिअपज्जे मणना-णचक्खुकेवलदुगविहुणा ॥ ६ ॥**

पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिनोः, द्विदर्शद्व्यज्ञानं दशसु चक्षुर्विना ।
संज्ञिन्यपर्याप्ते मनोज्ञानचक्षुः केवलद्विकविहीनीः ॥ ६ ॥

अर्थ पर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में चक्षु-अचक्षु दो दर्शन और मति-श्रुत दो अज्ञान, कुल चार उपयोग होते हैं। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, बादर-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय, ये चारों पर्याप्त तथा अपर्याप्त और अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन दस प्रकार के जीवों में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग होते हैं। अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियों में मनःपर्यायज्ञान, चक्षुर्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, इन चार को छोड़ शेष आठ (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञानदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभङ्गज्ञान और अचक्षुर्दर्शन) उपयोग होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में चक्षुर्दर्शन आदि उपर्युक्त चार ही उपयोग होते हैं; क्योंकि आवरण

---

इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसी दूणं जं गहणं ।
अंतोमुहुत्तकालो, उवओगो सो अणायारो ॥ ६७४ ॥

—जीवकाण्ड ।

क्षायिक उपयोग की एक समय-समाण स्थिति, "अन्ने एगंतरियं इच्छंत सुओवएसेणं ।" इस कथन से सिद्धान्त-सम्मत है। विशेष खुलासे के लिये नन्दी सू० २२, मलयगिरिवृत्ति पृ० १३४, तथा विशेष आ० गा० ३१०१ की वृत्ति देखना चाहिये। लोकप्रकाश के तीसरे सर्ग में भी यही कहा है:—

"एकस्मिन् समये ज्ञानं, दर्शनं चापरक्षणे ।
सर्वज्ञस्योपयोगौ द्वौ, समयान्तरितौ सदा ॥ ९७३ ॥"

१—देखिये, परिशिष्ट 'च ।'

की घनिष्ठता और पहला ही गुणस्थान होने के कारण, उनमें चक्षु-र्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन के सिवाय अन्य सामान्य उपयोग तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान के सिवाय अन्य विशेष उपयोग नहीं होते।

सूक्ष्म-एकेन्द्रिय[1] आदि उपर्युक्त दस प्रकार के जीवों में तीन उपयोग कहे गये हैं, सो कर्मग्रन्थिक मत के अनुसार, सैद्धान्तिक मत के अनुसार नहीं[2]।

---

१—देखिये, परिशिष्ट 'छ।'

२-इसका खुलासा यों है:-यद्यपि बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतु-रिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन पाँच प्रकार के अपर्याप्त जीवों में कार्म ग्रन्थिक विद्वान पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान मानते हैं देखिये, आगे गा० ४५वीं। तथापि वे दूसरे गुणस्थानक समय मति आदि को, ज्ञानरूप न मानकर अज्ञानरूप ही मान लेते हैं। देखिये, आगे गा० २१वीं। इसलिये, उनके मतानुसार पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय, पर्याप्त द्वीन्द्रिय और पर्याप्त त्रीन्द्रिय इन पहले गुणस्थान-वाले पाँच जीव-स्थानों के समान, बादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच प्रकार के अपर्याप्त जीवस्थायों में भी, जिनमें दो गुणस्थानों का सम्भव है, अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान, ये तीन उपयोग ही माने जाते हैं।

परन्तु सैद्धान्तिक विद्वानों का मन्तव्य कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि "किसी प्रकार के एकेन्द्रिय में—चाहे पर्याप्त हो या अपर्याप्त, सूक्ष्म हो या बादर—पहले के सिवाय अन्य गुणस्थान होता ही नहीं। देखिये, गा० ४६ वीं। पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन चार अपर्याप्त जीवस्थानों में पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान होते हैं।" साथ ही सैद्धान्तिक विद्वान, दूसरे गुणस्थान के समय मति आदि को अज्ञा-नरूप न मानकर ज्ञानरूप ही मानते हैं।

देखिये, गा० ४६ वीं। अत एव उनके मतानुसार द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार अपर्याप्त-जीवस्थानों में अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, ये पाँच उपयोग और सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त दस जीवस्थानों में से द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार के सिवाय शेष छह जीव-स्थानों में अचक्षुर्दर्शन मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, ये तीन उपयोग समझने चाहिये।

संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय को, अपर्याप्त-अवस्था में आठ उपयोग माने गये हैं। सो इस प्रकार:—तीर्थंकर तथा सम्यक्त्वी देव-नारक आदि को उत्पत्ति-क्षण से ही तीन ज्ञान और दो दर्शन होते हैं तथा मिथ्यात्वी देव-नारक आदि को जन्म-समय से ही तीन अज्ञान और दो दर्शन होते हैं। मनःपर्याय आदि चार उपयोग न होने का कारण यह है कि मनःपर्यायज्ञान, संयम वालों को हो सकता है, परन्तु अपर्याप्त-अवस्था में संयम का सम्भव नहीं है; तथा चक्षुर्दर्शन, चतुरिन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा रखता है; जो अपर्याप्त-अवस्था में नहीं होता। इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग कर्मक्षय-जन्य हैं, किन्तु अपर्याप्त-अवस्था में कर्म-क्षय का सम्भव नहीं है। संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय को अपर्याप्त-अवस्था में आठ उपयोग कहे, गये, सो करण-अपर्याप्त की अपेक्षा से, क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त में मति-अज्ञान- श्रुत-अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन के सिवाय अन्य उपयोग नहीं होते।

इस गाथा में अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में जो जो उपयोग बतलाये गये हैं, उनमें चतुर्दर्शन परिगणित नहीं है, सो मतान्तर से; क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहकार के मत से उक्त तीनों जीवस्थानों में अपर्याप्त-अवस्था में भी इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद चक्षुर्दर्शन होता है। दोनों मत के तात्पर्य को समझने के लिये गा० १७ वीं का नोट देखना चाहिये ॥ ६ ॥

---

१—इसका उल्लेख श्रीमलयगिरिसूरि ने इस प्रकार किया है:—

"अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्याः, अन्यथा करणापर्याप्तकेषु चतुरिन्द्रियादिष्वनिन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते मूलटीकायामाचार्येणाभ्यनुज्ञानात्।"—पञ्चसं० द्वार १, गा० ८ की टीका।

# (४-८)-जीवस्थानों में लेश्या-बन्ध आदि ।

[ दो गाथाओं से ।

संनिदुगे छलेसअप,-ज्जबायरे पढम चउ ति सेसेसु ।
सत्तट्ठ बन्धुदोरण, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥ ७ ॥

संज्ञिद्विके षड्लेश्या अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्चतस्रस्तिस्रः शेषेषु ।
सप्ताष्टबन्धोदीरणे, सदुदयावष्टानां त्रयोदशसु ॥ ७ ॥

अर्थ—संज्ञि-द्विकमें—अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में—छहों लेश्यायें होती हैं। अपर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय में कृष्ण आदि पहली चार लेश्यायें पायी जाती हैं । शेष ग्यारह जीवस्थानों में – अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और अपर्याप्त-पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियों में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्यायें होती हैं।

पर्याप्त संज्ञी के सिवाय तेरह जीवस्थानों में बन्ध, सात या आठ कर्मका होता है तथा उदीरणा भी सात या आठ कर्मोंकी होती है, परन्तु सत्ता तथा उदय आठ आठ कर्मोंके ही होते हैं ॥७॥

भावार्थ—अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकारके संज्ञी, छह लेश्याओंके स्वामी माने जाते हैं, इसका कारण यह है कि उनमें शुभ-अशुभ सब तरहके परिणामोंका सम्भव है । अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियका मतलब करणापर्याप्तसे है; क्योंकि उसी में छह लेश्याओं का सम्भव है । लब्धि-अपर्याप्त तो सिर्फ तीन लेश्याओं के अधिकारी हैं ।

कृष्ण आदि तीन लेश्यायें, सब एकेन्द्रियों के लिये साधारण हैं; किन्तु अपर्याप्त बादर- एकेन्द्रियमें इतनी विशेषता है कि उसनमें तेजो-लेश्या भी पायी जाती है; क्योंकि तेजलेश्या वाले ज्योतिषी आदि देव,

जब उसी लेश्या में मरते हैं और बादर पृथिवीकाय, जलकाय या वनस्पतिकाय में जन्म लेते हैं, तब उन्हें अपर्याप्त-अवस्था में तेजोलेश्या होती है। यह नियम[1] ही है कि जिस लेश्या में मरण हो, जनमते समय वही लेश्या होती है।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त ग्यारह जीव स्थानों में तीन लेश्यायें कही गई हैं। इसका कारण यह है कि वे सब जीवस्थान, अशुभ परिणाम वाले ही होते हैं; इसलिये उनमें शुभ परिणामरूप पिछली तीन लेश्यायें नहीं होती।

इस जगह जीवस्थानों में बन्ध, उदीरणा, सत्ता और उदय का जो विचार किया गया है, वह मूल प्रकृतियों को लेकर। प्रत्येक जीवस्थान में किसी एक समय में मूल आठ प्रकृतियों में से कितनी प्रकृतियों का बन्ध, कितनी प्रकृतियों की उदीरणा, कितनी प्रकृतियों की सत्ता और कितनी प्रकृतियों का उदय पाया जा सकता है, उसी को दिखाया है।

१. बन्ध।

पर्याप्त संज्ञि के सिवाय सब प्रकार के जीव, प्रत्येक समय में आयु को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों को बाँधते रहते हैं। आठ कर्मप्रकृतियों को वे तभी बाँधते हैं, जबकि आयु का बन्ध करते हैं। आयु का बन्ध एक भव में एक ही बार, जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है। आयुकर्म के लिये यह नियम[2] है कि वर्तमान आयु का तीसरा, नववाँ

---

१—इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है:—

"जल्लेसे मरइ, तल्लेसे उववज्जइ"। इति

२—उक्त नियम सोपक्रम (अपवर्त्य—घट सकने वाली) आयु वाले जीवों को लागू पड़ता है, निरुपक्रम आयु वालों को नहीं। वे यदि देव-नारक या असंख्यातवर्षीय मनुष्य तिर्यञ्च हों तो छह महीने आयु बाकी रहने पर ही परभवकी आयु बाँधते हैं और यदि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय या पञ्चेन्द्रिय मनुष्य-तिर्यञ्च हों तो वर्तमान भाव का तीसरा भाग शेष रहने पर ही आयु बाँधते हैं।

—बृहत्संग्रहणी, गा० ३२१–३२३, तथा पञ्चम कर्मग्रन्थ, गा० ३४।

या सत्ताईसवां आदि भाग बाकी रहने पर ही परभव के आयु का बन्ध होता है।

इस नियम के अनुसार यदि बन्ध न हो तो अन्त में जब वर्तमान आयु, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण बाकी रहती है, तब अगले भव की आयु का बन्ध अवश्य होता है।

२. उदीरणा।

उपर्युक्त तेरह प्रकार के जीवस्थानों में प्रत्येक समय में आठ कर्मों की उदीरणा हुआ करती है। सात कर्मों की उदीरणा, आयु की उदीरणा न होने के समय—जीवन की अन्तिम आवलिका में—पायी जाती है; क्योंकि उस समय, आवलिकामात्र स्थिति शेष रहने के कारण वर्तमान (उदयमान) आयु की और अधिक स्थिति होने पर भी उदयमान न होने के कारण अगले भवकी आयु की उदीरणा नहीं होती। शास्त्र में उदीरणा का यह नियम बतलाया है कि जो कर्म, उदय-प्राप्त है, उसकी उदीरणा होती है, दूसरे की नहीं। और उदय-प्राप्त कर्म भी आवलिकामात्र शेष रह जाता है, तब से उसकी उदीरणा रुक जाती है[1]।

---

१.—"उदयावलियाबहिरिल्ल ठिईहितो कसायसहिया सहिएण जोगकरणेणं दलियमाकड्ढिय उदयपत्तदलियेण समं अणुभवणमुदीरणा।" —कर्मप्रकृति-चूर्णि।

अर्थात् उदय-आवलिकासे बाहर की स्थिति वाले दलिकों को कषाय सहित या कषायरहित योगद्वारा खींचकर—उस स्थिति से उन्हें छुड़ाकर—उदय-प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना 'उदीरणा' कहलाती है।

इस कथन का तात्पर्य इतना ही है कि उदयावलिका के अन्तर्गत दलिकों की उदीरणा नहीं होती। अत एव कर्म की स्थिति आवलिकामात्र बाकी रहने के समय उसकी उदीरणा का रुक जाना नियमानुकूल है।

उक्त तेरह जीवस्थानों में जो अपर्याप्त जीवस्थान हैं, वे सभी लब्धि-अपर्याप्त समझने चाहिये; क्योंकि उन्हीं में सात या आठ कर्म की उदीरणा घट सकती है। वे अपर्याप्त-अवस्था ही में मर जाते हैं, इसलिये उनमें आवलिकामात्र आयु बाकी रहने पर सात कर्म की और इसके पहले आठ कर्म की उदीरणा होती है। परन्तु करणापर्याप्तों के अपर्याप्त-अवस्था में मरने का नियम नहीं है। वे यदि लब्धिपर्याप्त हुये तो पर्याप्त-अवस्था ही में मरते हैं। इसलिये उनमें अपर्याप्त-अवस्था में आवलिकामात्र आयु शेष रहने का और सात कर्म की उदीरणा का संभव नहीं है।

### ३-४. सत्ता और उदय।

आठ कर्मों की सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है और आठ कर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक बना रहता है; परन्तु पर्याप्त संज्ञी के सिवाय सब प्रकार के जीवों में अधिक से अधिक पहला, दूसरा और चौथा, इन तीन गुणस्थानों का संभव है; इसलिये उक्त तेरह प्रकार के जीवों में सत्ता और उदय आठ कर्मों का माना गया है ॥७॥

सत्तट्ठछेगबंधा, सत्तुदया सत्तअट्ठचत्तारि।
सत्तट्ठछपंचदुगं उदीरणा संनिपज्जत्ते ॥ ८ ॥

सप्ताष्टषडेकबन्धा, सदुदयौ सप्ताष्टचत्वारि।
सप्ताष्टषट्पञ्चद्विकमुदारणा संज्ञि-पर्याप्ते ॥ ८॥

अर्थ—पर्याप्त संज्ञी में सात कर्म का, आठ कर्म का, छह कर्म का और एक कर्म का, ये चार बन्धस्थान है, सत्तास्थान और उदयस्थान सात, आठ और चार कर्म के हैं तथा उदीरणास्थान सात, आठ, छह, पाँच और दो कर्म का है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिन प्रकृतियों का बन्ध एक साथ (युगपत) हो, उनके समुदायको 'बन्धस्थान' कहते हैं। इसी तरह जिन प्रकृतियों की सत्ता

एक साथ पायी जाय, उनके समुदायको 'सत्तास्थान', जिन प्रकृतियों-का उदय एक साथ पाया जाय, उनके समुह को 'उदयस्थान' और जिन प्रकृतियों की उदीरणा एक साथ पायी जाय, उनके समुदाय को 'उदीरणास्थान' कहते है।

### ५. बन्धस्थान।

उपर्युक्त चार बन्धस्थानों में से सात कर्म का बन्धस्थान, उस समय पाया जाता है जिस समय कि आयु का बन्ध नहीं होता। एक बार आयु का बन्ध हो जाने के बाद दूसरी बार उसका बन्ध होने में जघन्य काल, अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण[1] और उत्कृष्ट काल, अन्तर्मुहूर्त्त-कम ⅔ करोड़ पूर्ववर्ष तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम[2]-प्रमाण चला जाता है[3]। अत एव कर्म के बन्धस्थान की स्थिति भी उतनी ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त -कम ⅔ करोड़ पूर्ववर्ष तथा छह मास-कम तेतीस सागरोपम-प्रमाण समझनी चाहिये।

आठ कर्म का बन्धस्थान, आयु-बन्ध के समय पाया जाता है। आयु-बन्ध, जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है, इसलिये आठ के बन्धस्थान की जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है।

---

१—नौ समय-प्रमाण, दस समय-प्रमाण, इस तरह एक एक समय बढ़ते बढ़ते अन्त में एक समय-कम मुहूर्त्त-प्रमाण, यह सब प्रकार का काल अन्तर्मुहूर्त्त' कहलाता है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त नव समय का, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्तएक समय कम मुहूर्त्त का और मध्यम अन्तर्मुहूर्त्त दस समय, ग्यारह समय, आदि बीच के सब प्रकार के काल का समझना चाहिये। दो घड़ी को—अड़तालीस मिनट को—'मुहूर्त्त' कहते हैं।

२—दस कोटाकोटि पल्योपमका एक 'सागरोपम' और असंख्य वर्षों का एक 'पल्योपम' होता है। —तत्त्वार्थ अ० ४, सू० १५ का भाष्य।

३—जब करोड़ पूर्व वर्ष की आयु वाला कोई मनुष्य अपनी आयु के तीसरे भाग में अनुत्तर विमान की तेतीस सागरोपम-प्रमाण आयु बाँधता है, तब अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त आयुबन्ध करके फिर वह देव की आयु के छह महीने शेष रहने पर ही आयु बाँध सकता है, इस अपेक्षा से आयु के बन्ध का उत्कृष्ट अन्तर समझना।

छह कर्मका बन्धस्थान दसवें ही गुणस्थान में पाया जाता है; क्योंकि उसमें आयु और मोहनीय, दो कर्मका बन्ध नहीं होता। इस बन्धस्थानकी जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति दसवें गुणस्थानकी स्थितिके बराबर—जघन्य एक समय की[1] और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की—समझनी चाहिये।

एक कर्मका बन्धस्थान ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें, तीन गुणस्थानों में होता है। इसका कारण यह है कि इन गुणस्थानों के समय सातवेदनीयके सिवाय अन्य कर्मका बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें गुणस्थानकी जघन्य स्थिति एक समयकी और तेरहवें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष-कम करोड़ पूर्व[2] वर्षकी है। अत एव इस बन्धस्थानकी स्थिति, जघन्य समयमात्रकी और उत्कृष्ट नौ वर्ष-कम करोड़ पूर्व वर्ष की समझनी चाहिये।

६. सत्तास्थान।

तीन सत्तास्थानोंमें से आठ का सत्तास्थान, पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें पाया जाता है। इसकी स्थिति, अभव्यकी अपेक्षा से अनादि-अनन्त और भव्यकी अपेक्षासे अनादि-सान्त है। इसका सबब यह है कि अभव्यकी कर्म-परम्पराकी जैसे आदि नहीं है, वैसे अन्त भी नहीं है; पर भव्यकी कर्म परम्पराके विषय में ऐसा नहीं है; उसकी आदि तो नहीं है, किन्तु अन्त होता है।

सातका सत्तास्थान केवल बारहवें गुणस्थान में होता है। इस

---

१—अत्यन्त सूक्ष्म क्रियावाला अर्थात् सबसे जघन्य गतिवाला परमाणु जितने काल में अपने आकाश-प्रदेश से अनन्तर आकाश-प्रदेश में जाता है, वह काल 'समय' कहलाता है।

—तत्त्वार्थ अ० ४ सू० १५ का भाष्य।

२—चौरासी लक्ष वर्ष का एक पूर्वाङ्ग और चौरासी लक्ष पूर्वाङ्ग का एक 'पूर्व' होता है।

—तत्त्वार्थ अ० ४, १५ का भाष्य।

गुणस्थानकी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की मानी जाती है। अत एव सातके सत्तास्थान की स्थिति उतनी समझनी चाहिये। इस सत्तास्थान में मोहनीय के सिवाय सात कर्मों का समावेश है।

चार का सत्तास्थान तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है; क्योंकि इन दो गुणस्थानों में चार अघाति कर्म की ही सत्ता शेष रहती है। इन दो गुणस्थानों को मिलाकर उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष आठ मास-कम करोड़ पूर्व-प्रमाण है। अत एव चारके सत्तास्थान की उत्कृष्ट स्थिति उतनी समझना चाहिये। उनकी जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है।

### ७. उदयस्थान।

आठ कर्मका उदयस्थान, पहले से दसवें तक दस गुणस्थानों में रहता है। इसकी स्थिति अभव्यकी अपेक्षा से अनादि-अनन्त और भव्य की अपेक्षा से अनादि-सान्त है। परन्तु उपशम-श्रेणी से गिरे हुए भव्य की अपेक्षा से उसकी स्थिति सादि-सान्त है। उपशम-श्रेणी से गिरने के बाद फिर से अन्तर्मुहूर्त्त में श्रेणी की जा सकती है; यदि अन्तर्मुहूर्त्त में न की जा सकी तो अन्त में कुछ-कम अर्धपुद्गल-परावर्त्त के बाद अवश्य की जाती है। इसलिये आठ के उदयस्थान की सादि-सान्त स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट देश-ऊन (कुछ कम) अर्धपुद्गल परावर्त्त प्रमाण समझनी चाहिये।

सातका उदयस्थान, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पाया जाता है। इस उदयस्थान की स्थिति, जघन्य एक समयकी और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की मानी जाती है। जो जीव ग्यारहवें गुणस्थान में एक समय मात्र रह कर मरता है और अनुत्तर विमान में पैदा होता है, वह पैदा होते ही आठ कर्म के उदय का अनुभव करता है, इस अपेक्षा से सातके उदयस्थान की जघन्य स्थिति समय-प्रमाण कही गई है। जो जीव, बारहवें गुणस्थान को पाता है, वह अधिक से अधिक

उस गुणस्थान की स्थिति तक—अन्तर्मुहूर्त तक के सात कर्म के उदय-का अनुभव करता है, पीछे अवश्य तेरहवें गुणस्थान को पाकर चार कर्म के उदय का अनुभव करता है; इस अपेक्षा से सात के उदय-स्थान की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण कही गई है। चार का उदयस्थान, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है क्योंकि इन दो गुणस्थानों में अघातिकर्म के सिवाय अन्य किसी कर्म का उदय नहीं रहता। इस उदयस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट, देश- उन करोड़ पूर्व वर्ष की है।

८. उदीरणास्थान।

आठ का उदीरणास्थान, आयु की उदीरणा के समय होता है। आयु की उदीरणा पहले छह गुणस्थानों में होती है। अत एव यह उदीरणास्थान इन्हीं गुणस्थानों में पाया जाता है।

सात का उदीरणास्थान, उस समय होता है जिस समय कि आयु की उदीरणा रुक जाती है। आयु की उदीरणा तब रुक जाती है, जब वर्तमान आयु आवलिका[1]-प्रमाण शेष रह जाती है। वर्तमान आयु की अन्तिम आवलिका के समय पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवा और छठा, ये पाँच गुणस्थान पाये जा सकते हैं; दूसरे नहीं। अतएव सात के उदीरणास्थान का सम्भव, इन पाँच गुणस्थानों में समझना चाहिये। तीसरे गुणस्थान में सात का उदीरणास्थान नहीं होता, क्योंकि आवलिका-प्रमाण आयु शेष रहने के समय, इस गुणस्थान का सम्भव ही नहीं है। इसलिये इस गुणस्थान में आठ का ही उदीरणा-स्थान माना जाता है।

छह का उदीरणास्थान सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुण-स्थान की एक आवलिका-प्रमाण स्थिति बाकी रहती है, तब तक

---

१—एक मुहूर्त्त के १, ६७, ७७, २१६ वें भाग की 'आवलिका' कहते हैं।

पाया जाता है; क्योंकि उस समय आयु और वेदनीय, इन दो की *उदीरणा नहीं होती।*

दसवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका, जिसमें मोहनीय की भी उदीरणा रुक जाती है, उससे लेकर बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका पर्यन्त पाँच का उदीरणास्थान होता है।

बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका, जिसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, तीन कर्म की उदीरणा रुक जाती है, उससे लेकर तेरहवें गुणस्थान के अन्त पर्यन्त चार का उदीरणा-स्थान होता है। चौदहवें गुणस्थान में योग न होने के कारण उदय रहने-पर भी नाम-गोत्र की उदीरणा नहीं होती।

उक्त सब बन्धस्थान, सत्तास्थान आदि पर्याप्त संज्ञी के हैं; क्योंकि चौदहों गुणस्थानों का अधिकारी वही है। किस किस गुणस्थान में कौनसा कौनसा बन्धस्थान, सत्तास्थान, उदयस्थान और उदीरणा-स्थान है; इसका विचार आगे गा० ५९ से ६२ तक में है ॥ ८ ॥

# प्रथमाधिकार के परिशिष्ट ।

## परिशिष्ट "क" ।

पृष्ठ ५ के "लेश्या" शब्दपर—

१—लेश्या के (क) द्रव्य और (ख) भाव, इस प्रकार दो भेद हैं। (क) द्रव्यलेश्या, पुद्गल-विशेषात्मक है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन मत हैं। (१) कर्मवर्गणा-निष्पन्न (२) कर्म-निष्यन्द और (३) योग-परिणाम।

१ ले मत का यह मानना है कि लेश्या-द्रव्य, कर्म-वर्गणा से बने हुये हैं; फिर भी वे आठ कर्म से भिन्न ही हैं: जैसा कि कार्मणशरीर। यह मत उत्तराध्ययन, अ० ३४ की टीका, पृ० ६५० पर उल्लिखित है।

२ रे मत का आशय यह है कि लेश्या-द्रव्य, कर्म निष्यन्दरूप (बध्यमान कर्म-प्रवाहरूप) है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्पन्द न होने से लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है। यह मत उक्त पृष्ठ पर ही निर्दिष्ट है, जिसको टीकाकार वादिवैताल श्रीशान्तिसूरि ने 'गुरवस्तु व्याचक्षते' कहकर लिखा है।

३रा मत श्रीहरिभद्रसूरि आदि का है। इस मत का आशय श्रीमलयगिरि जी ने पन्नवणा पद १७ की टीका, पृ० ३३० पर स्पष्ट बतलाया है। वे लेश्या-द्रव्य को योगवर्गणा-अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। उपाध्याय श्रीविनयविजयजी ने अपने आगम-दोहनरूप लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक २८५ में इस मत को ग्राह्य ठहराया है।

(ख) भावलेश्या, आत्मा का परिणाम-विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर मन्दतम आदि अनेक भेद होने से वस्तुतः भावलेश्या, असंख्य प्रकार की है तथापि संक्षेप में छह विभाग करके शास्त्र में उसका स्वरूप दिखाया है। देखिये, गा० १२ वीं। छह भेदों का स्वरूप समझने के लिये शास्त्र में नीचे लिखे दो दृष्टान्त दिये गये हैं:—

पहिला:—कोई छह पुरुष जम्बूफल (जामुन) खाने की इच्छा करते हुये चले जा रहे थे, इतने में जम्बूवृक्षको देख उनमें से एक पुरुष बोला—'लीजिये, जम्बूवृक्ष तो आ गया। अब फलों के लिये ऊपर चढ़ने की अपेक्षा फलों से लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखा वाले इस वृक्ष को काट गिराना ही अच्छा है।"

यह सुनकर दूसरे ने कहा—"वृक्ष काटने से क्या लाभ? केवल शाखाओं को काट दो।"

तीसरे पुरुष ने कहा—"यह भी ठीक नहीं, छोटी-छोटी शाखाओं के काट लेने से भी तो काम निकाला जा सकता है?"

चौथे ने कहा-"शाखायें भी क्यों काटना ? फलों के गुच्छों को तोड़लीजिये"

पाँचवाँ बोला—"गुच्छों से क्या प्रयोजन ? उनमें से कुछ फलों को ही ले लेना अच्छा है।"

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—"ये सब विचार निरर्थक हैं; क्योंकि हम लोग जिन्हें चाहते हैं, वे फल तो नीचे भी गिरे हुये हैं, क्या उन्हीं से अपनी प्रयोजन-सिद्धि नहीं हो सकती है ?"

दूसरा:—कोई छः पुरुष धन लूटने के इरादे से जा रहे थे। रास्ते में किसी गाँव को पाकर उनमें से एक बोला:—"इस गांव को तहस-नहस कर दो—मनुष्य, पशु, पक्षी, जो कोई मिले, उन्हें मारो और धन लूट लो।"

यह सुनकर दूसरा बोला:—"पशु पक्षी आदि को क्यों मारना ? केवल विरोध करने वाले मनुष्यों ही को मारो।"

तीसरे ने कहा:—"बेचारी स्त्रियों की हत्या क्यों करना ? पुरुषों को मार दो।"

चौथे ने कहा:-"सब पुरुषों को नहीं; जो सशस्त्र हों, उन्हीं को मारो।"

पाँचवें ने कहा—"जो सशस्त्र पुरुष भी विरोध नहीं करते, उन्हें क्यों मारना ?।'

अन्त में छठे पुरुष ने कहा:—"किसी को मारने से क्या लाभ ? जिस प्रकार से धन अपहरण किया जा सके, उस प्रकार से उसे उठा लो और किसी को मारो मत। एक तो धन लूटना और दूसरे उसके मालिकों को मारना, यह ठीक नहीं।"

इन दो दृष्टान्तों से लेश्याओं का स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है। प्रत्येक दृष्टान्त के छह-छह पुरुषों में पूर्व-पूर्व पुरुष के परिणाम की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम पाये जाते हैं—उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता पाई जाती है। प्रथम पुरुष के परिणाम की 'कृष्णलेश्या,' दूसरे के परिणाम को 'नीललेश्या', इस प्रकार क्रम से छठे पुरुष के परिणाम का 'शुक्ललेश्या' समझना चाहिये।—आवश्यक हारिभद्री वृत्ति पृ० ५४५ तथा लोक० प्र०, स० ३, श्लोक ३६३–३८०।

लेश्या-द्रव्य के स्वरूप सम्बन्धी उक्त तीनों मत के अनुसार तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त भाव-लेश्या का सद्भाव समझना चाहिये। यह सिद्धान्त गोम्मटसार-जीवकाण्ड को भी मान्य है; क्योंकि उसमें योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। यथा:—

"अयदोत्ति छलेस्साओ, सुहतियलेस्सा दु देसविरदतिये
तत्तो सुक्का लेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥५३१॥"

सर्वार्थसिद्धि में और गोम्मटसार के स्थानान्तर में कषायोदय-अनुरंजित योग-प्रवृत्ति को 'लेश्या' कहा है। यद्यपि इस कथन से दसवें गुणस्थान पर्यन्त ही लेश्या का होना पाया जाता है, पर वह कथन अपेक्षा-कृत होने के कारण पूर्व-कथन से विरुद्ध नहीं है। पूर्व कथन में केवल प्रकृति-प्रदेश-बन्ध के निमित्तभूत परिणाम लेश्यारूप से विवक्षित हैं; और इस कथन में स्थिति-अनुभाग आदि चारों बन्धों के निमित्तभूत परिणाम लेश्यारूप से विवक्षित हैं, केवल प्रकृति-प्रदेश-बन्धके निमित्तभूत परिणाम नहीं। यथा:—

**"भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योग-प्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।"**

सर्वार्थसिद्धि-अध्याय २, सूत्र ६।

**"जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होइ।**
**तत्तो दोण्णं कज्जं, बंधचउक्क समुद्दिट्ठं ॥४८९॥"**

—जीवकाण्ड

द्रव्यलेश्या के वर्ण-गन्ध आदि का विचार तथा भावलेश्या के लक्षण आदि का विचार उत्तराध्यन, अ० ३४ में है। इसके लिये प्रज्ञापना-लेश्यापद, आवश्यक, लोक प्रकाश आदि आकार ग्रन्थ श्वेताम्बर-साहित्य में है। उक्त दो दृष्टन्तों में से पहला दृष्टान्त, जीवकाण्ड गा० ५०६-५०७ में है। लेश्या की कुछ विशेष बातें जानने के लिये जीवकाण्ड का लेश्यामार्गणाधिकार (गा० ४८८-५५५) देखने योग्य है।

जीवों के आन्तरिक भावों की मलिनता तथा पवित्रता के तरतम भाव का सूचक, लेश्या का विचार, जैसा जैन शास्त्र में है; कुछ उसी के समान छह जातियों का विभाग, मङ्खलीगोसाल पुत्र के मत में है, जो कर्म की शुद्धि-अशुद्धि को लेकर कृष्ण-नील आदि छह वर्णों के आधार पर किया गया है। इसका वर्णन, 'दीघ निकाय-सामञ्ञफलसुत्त" में है।

"महाभारत" के १२,२८६ में भी छह 'जीव-वर्ण' दिये हैं, जो उक्त विचार से कुछ मिलते-जुलते हैं।

"पातञ्जलयोगदर्शन" के ४,७ में भी ऐसी कल्पना है; क्योंकि उसमें कर्म के चार विभाग करके जीवों के भावों की शुद्धि-अशुद्धि पृथक्करण किया है। इसके लिये देखिये, दीघनिकाय का मराठी भाषान्तर पृ० ५६।

# परिशिष्ट "ख"।

**पृष्ठ १०, पंक्ति १८ के 'पञ्चेन्द्रिय' शब्द पर—**

जीव के एकेन्द्रिय आदि पाँच भेद किये गये हैं, सो द्रव्येन्द्रिय के आधार पर; क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो सभी संसारी जीवों को पाँचों होती हैं। यथा:—

**"अहवा पडुच्च लद्धि,-दियं पि पंचेंदिया सव्वे ॥२९९९॥"**

—विशेषावश्यक।

अर्थात् लब्धीन्द्रियकी अपेक्षा से सभी संसारी जीव पञ्चेन्द्रिय हैं।

**"पंचेदिउ व्व बउलो, नरो व्व सव्व-विसओवलंभाओ।" इत्यादि**

—विशेषावश्यक, गा० ३००१।

अर्थात् सब विषय का ज्ञान होने की योग्यता के कारण बकुल वृक्ष मनुष्य की तरह पाँच इन्द्रियों वाला है।

यह ठीक है कि द्वीन्द्रिय आदि की भावेन्द्रिय, एकेन्द्रिय आदि की भावेन्द्रिय से उत्तरोत्तर व्यक्त-व्यक्ततर ही होती है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिनको द्रव्येन्द्रियाँ, पाँच, पूरी नहीं हैं उन्हें भी भावेन्द्रियाँ तो सभी होती ही हैं। यह बात आधुनिक विज्ञान से भी प्रमाणित है। डा० जगदीशचन्द्र बसुकी खोज ने वनस्पति में स्मरण शक्ति का अस्तित्व सिद्ध किया है। स्मरण, जो कि मानसशक्ति का कार्य है, वह यदि एकेन्द्रिय में पाया जाता है तो फिर उसमें अन्य इन्द्रियाँ, जो कि मन से नीचे की श्रेणिकी मानी जाती है, उनके होने में कोई बाधा नहीं। इन्द्रिय के सम्बन्ध में प्राचीन काल में विशेष-दर्शी महात्माओं ने बहुत विचार किया है, जो अनेक जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है :—

इन्द्रियाँ दो प्रकार की है—(१) द्रव्यरुप और (२) भावरुप। द्रव्येन्द्रिय, पुद्गल-जन्य होने से जडरुप है; पर भावेन्द्रिय, ज्ञानरुप है, क्योंकि वह चेतना शक्ति का पर्याय है।

(१) द्रव्येन्द्रिय, अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नामकर्म के उदय-जन्य है। इसके दो भेद हैं:— (क) निर्वृत्ति और (ख) उपकरण।

(क) इन्द्रियके आकार का नाम 'निर्वृत्ति' है। निर्वृत्ति के भी (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर, ये दो भेद हैं। (१) इन्द्रियके बाह्य

आकार को 'बाह्यनिर्वृत्ति' कहते हैं और (२) भीतरी आकार को 'आभ्यन्तरनिर्वृत्ति'। बाह्य भाग तलवार के समान है और आभ्यन्तर भाग तलवार की तेज धार के समान, जो अत्यन्त स्वच्छ परमाणुओं का बना हुआ होता है। आभ्यन्तर निर्वृत्ति का यह पुद्गल स्वरूप प्रज्ञापनासूत्र- इन्द्रियपदकी टीका पृ० $\frac{२६५}{१}$ के अनुसार है। आचराङ्गवृत्ति पृ० १०४ में उसका स्वरूप चेतनामय बतलाया है।

आकार के सम्बन्धमें यह बात जाननी चाहिये कि त्वचाकी आकृति अनेक प्रकारकी होती है, पर उसके बाह्य और आभ्यन्तर आकार में जुदाई नहीं है। किसी प्राणीकी त्वचाका जैसा बाह्य आकार होता है, वैसा ही आभ्यन्तर आकार होता है। परन्तु अन्य इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा नहीं है:- त्वचाको छोड़ अन्य सब इन्द्रियोंके आभ्यन्तर आकार, बाह्य आकारसे नहीं मिलते। सब जातिके प्राणियोंकी सजातीय इन्द्रियों के आभ्यन्तर आकार, एक तरह के माने हुये हैं। जैसे:-कानका आभ्यन्तर आकार, कदम्ब-पुष्प-जैसा, आंख का मसूरके दाना-जैसा, नाकका अतिमुक्तकके फूल-जैसा और जीभका छुराजैसा है। किन्तु बाह्य आकार, सब जातिमें भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ:-मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बैल, बिल्ली, चूहा आदिके कान, आंख, नाक, जीभ को देखिये।

(ख) आभ्यन्तरनिर्वृत्तिकी विषय-ग्रहण-शक्तिको 'उपकरणेन्द्रिय' कहते हैं।

(२) भावेन्द्रिय दो प्रकारकी है:-(१) लब्धिरूप और (२) उपयोगरूप।

(१) मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमको- चेतना-शक्तिकी योग्यता-विशेषको 'लब्धिरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं। (२) इस लब्धिरूप भावेन्द्रियके अनुसार आत्माकी विषय-ग्रहण में जो प्रवृत्ति होती है, उसे 'उपयोग रूप भावेन्द्रिय' कहते हैं।

इस विषयको विस्तारपूर्वक जाननेकेलिये प्रज्ञापना-पद १५, पृ० २९३, तत्वार्थ अध्याय २, सू० १७-१८ तथा वृत्ति, विशेषाव०, गा० २९९३-३००३ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३, श्लोक ४६४ से आगे देखना चाहिये।

---

## परिशिष्ट 'ग'।

पृ० १० पंक्ति १६ के "संज्ञा" शब्द पर—

संज्ञाका मतलब आभोग (मानसिक क्रिया-विशेष) से है। इसके (क) ज्ञान और (ख) अनुभव, ये दो भेद है।

(क) मति, श्रुत आदि पाँच प्रकार का ज्ञान 'ज्ञानसंज्ञा' है।

(ख) अनुभवसंज्ञाके (१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (९) ओघ, (१०) लोक (११) मोह, (१२) धर्म, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) जुगुप्सा और (१६) शोक, ये सोलह भेद है। आचाराङ्ग-निर्युक्ति, गा० ३८—३९ में तो अनुभवसंज्ञाके ये सोलह भेद किये गये हैं। लेकिन भगवती-शतक ७, उद्देश ८ में तथा प्रज्ञापना-पद ८ में इनमेंसे पहले दस ही भेद, निर्दिष्ट है।

ये संज्ञायें सब जीवोंमें न्यूनाधिक प्रमाणमें पाई जाती है, इसलिये ये संज्ञि असंज्ञि व्यवहारकी नियामक नहीं है। शास्त्रमें संज्ञि-असंज्ञी का भेद है, सो अन्य असंज्ञाओंकी अपेक्षासे। एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्तके जीवोंमें चैतन्यका विकास क्रमशः अधिकाधिक है। इस विकासके तर-तम-भावको समझानेके लिये शास्त्रमें इसके स्थूल रीतिपर चार विभाग किये गये हैं।

(१) पहले विभागमें ज्ञानका अत्यन्त अल्प विकास विवक्षित है। यह विकास, इतना अल्प है कि इस विकाससे युक्त जीव, मूर्च्छितकी तरह चेष्टारहित होते हैं। इस अव्यक्ततर चैतन्यकी 'ओघसंज्ञा' कही गई है। एकेन्द्रिय जीव, ओघसंज्ञावाले ही है।

(२) दूसरे विभागमें विकासकी इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकालका—सुदीर्घ भूतकालका नहीं—स्मरण किया जाता है और जिससे इष्ट विषयोंमें प्रवृत्ति तथा अनिष्ट विषयोंसे निवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्त-कारी ज्ञानको 'हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा' कहा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय जीव, हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाले है।

(३) तीसरे विभागमें इतना विकास विवक्षित है कि जिससे सुदीर्घ

भूतकालमें अनुभव किये हुये विषयोंका स्मरण और स्मरणद्वारा वर्तमान कालके कर्त्तव्योंका निश्चय किया जाता है। यह ज्ञान विशिष्ट मनकी सहायतासे होता है। इस ज्ञानको 'दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञा' कहा है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यञ्च, दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञावाले है।

(४) चौथे विभागमें विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यक्त्वियोंके सिवाय अन्य जीवोंमें इसका संभव नहीं है। इस विशुद्ध ज्ञानको 'दृष्टिवादोपदेशिकीसंज्ञा' कहा है।

शास्त्रमें जहाँ-कहीं संज्ञी-असंज्ञीका उल्लेख है, वहाँ सबजगह असंज्ञीका मतलब ओघसंज्ञावाले और हेतुवादोपदेशिकी संज्ञावाले जीवों से है। तथा संज्ञीका मतलब सब जगह दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञावालों से है।

इस विषयका विशेष विचार तत्त्वार्थ-अ०२, सू०२५ वृत्ति, नन्दी सू० ३९, विशेषावश्यक गा० ५०४–५२६ और लोकप्र०, स०३ श्लोक ४४२–४६३ में है।

संज्ञी-असंज्ञीके व्यवहारके विषयमें दिगम्बर-सम्प्रदाय में श्वेताम्बर की अपेक्षा थोड़ा सा भेद है। उसमें गर्भज-तिर्यञ्चोंको संज्ञीमात्र न मानकर संज्ञी तथा असंज्ञी माना है। इसीतरह संमूर्च्छिम-तिर्यञ्चकोसिर्फ असंज्ञी न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभयरूप माना है। (जीव०, गा०७९)इसके सिवाय यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर-ग्रन्थ में हेतुवादोपदेशिकी आदि जो तीन संज्ञायें वर्णित है, उनका विचार दिगम्बरी प्रसिद्ध ग्रन्थों में दृष्टि-गोचर नहीं होता।

===

## परिशिष्ट "घ"

पृष्ठ ११ के 'अपर्याप्त' शब्द पर—

(क)अपर्याप्तके दो प्रकार हैं–(१)लब्धि-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त। वैसेही (ख)पर्याप्तके भी दो भेद हैं–(१)लब्धि-पर्याप्त(२) करण-पर्याप्त।

(क)१–जो जीव, अपर्याप्तनामकर्मके उदयके कारण ऐसी शक्तिवाले हों जिससे कि स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे 'लब्धि-अपर्याप्त हैं।

२–परन्तु करण-अपर्याप्तके विषयमें यह बात नहीं,वे पर्याप्तनामकर्म के भी उदयवाले होते हैं। अर्थात् चाहे पर्याप्तनामकर्मका उदय हो या अपर्याप्त-नामकर्मका, पर जब तक करणोंकी (शरीर,इन्द्रिय आदि पर्याप्तियोंकी)समाप्ति न हो, तब तक जीव 'करण-अपर्याप्त' कहे जाते हैं।

(ख)१–जिनको पर्याप्तनामकर्म का उदय हो और इससे जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद ही मरते है, पहले नहीं, वे 'लब्धि-पर्याप्त हैं।

२–करण-पर्याप्तोंकेलिये यह नियम नहीं कि वे स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते है। जो लब्धि-अर्याप्त है,वे भी करण-पर्याप्त होते ही हैं; क्योंकि आहारपर्याप्ति बन चुकनेके बाद कमसे कम शरीरपर्याप्ति बन जाती है तभी से जीव 'करण-पर्याप्त' माने जाते हैं। यह तो नियम ही है कि लब्धि-अपर्याप्त भी कमसे कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना मरते नहीं। इन नियमके सम्बन्धमें श्रीमलयगिरिजीने नन्दी सूत्रकी टीका, पृ० १०५ में यह लिखा है —

**"यस्माद्वागामिभवायुर्बध्वा म्रियन्ते सर्वएव देहिनः तच्चाहारशरीरेन्द्रिय पर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति"**

अर्थात् सभी प्राणी अगले भवकी आयुको बाँधकर ही मरते हैं, बिना बाँधे नहीं मरते। आयु तभी बाँधी जा सकती है, जबकि आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकी हों।

इसी बातका खुलासा श्रीविनयविजयजीने लोकप्रकाश,सर्ग ३,श्लोक३१ में इस प्रकार किया है:–जो जीव लब्धि-अपर्याप्त है, वह भी पहली तीन पर्या-

प्तियोंको पूर्ण करके ही अग्रिम भवकी आयु बांधता है। अन्तमुहूर्त तक आयु-बन्ध करके फिर उसका जघन्य अबाधाकाल, जो अन्तमुहूर्त का माना गया है, उसे वह बिताता है; इसके बाद मरके वह गत्यन्तर में जा सकता है। जो अग्रिम आयुको नहीं बाँधता और उसके अबाधाकालको पूरा नहीं करता, वह मर ही नहीं सकता।

दिगम्बर साहित्य में करण-अपर्याप्तके बदले निर्वृत्ति अपर्याप्त शब्द मिलता है। अर्थ में थोड़ा फर्क है निर्वृत्ति शब्दका अर्थ शरीर ही किया हुआ है। अत एव शरीरपर्याप्ति पूर्ण न होने तक ही दिगम्बरीय साहित्य, जीवको निर्वृत्ति अपर्याप्त कहता है। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद वह, निर्वृत्ति-अपर्याप्त व्यवहार करने की सम्मति नहीं देता। यथा:—

"पज्जत्तस्सय उदये, णियणियपज्जतिणिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वत्तिअपुण्णगो ताव॥ १२०॥

—जीवकाण्ड।

सारांश यह कि दिगम्बर-साहित्यमें पर्याप्तनामकर्मका उदयवाला ही शरीर-पर्याप्ति पूर्ण न होने तक 'निर्वृत्ति-अपर्याप्त' शब्दसे अभिमत है।

परन्तु श्वेताम्बरीय साहित्यमें 'करण' शब्दका शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ, इतना अर्थ किया हुआ मिलता है। यथा:—

'करणानि शरीराक्षादीनि।'

—लो प्र०, स० ३, श्लो० १०।

अत एव श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय के अनुसार जिसने शरीर पर्याप्ति पूर्ण की है, पर इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नही की है, वह भी 'करण-अपर्याप्त' कहा जा सकता है। अर्थात् शरीररूप करण पूर्ण करनेसे 'करण-पर्याप्त' और इन्द्रियरूप करण पूर्ण न करनेसे 'कारण-अपर्याप्त' कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बरी सम्प्रदायकी दृष्टिसे शरीरपर्याप्तिसे लेकर मनः पर्याप्ति पर्यन्त पूर्व-पूर्व पर्याप्ति पूर्ण होनेपर 'करण-पर्याप्त' और उत्तरोत्तर पर्याप्तिके पूर्ण न होनेसे 'करण-अपर्याप्त' कह सकतेहैं। परन्तु जब जीव, स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियोंको पूर्ण कर लेवे, तब उसे 'करण-अपर्याप्त' नहीं कह सकते।

पर्याप्तिका स्वरूप:–पर्याप्ति, वह शक्ति है, जिसकेद्वारा जीव, आहार श्वासोच्छ्वास आदिके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलों को आहार-आदिरूपमें परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीवमें पुद्गलोंके उपचयसे बनती है। अर्थात् जिस प्रकार पेटके भीतर के भाग में वर्तमान पुद्गलों में एक तरहकी शक्ति होती है, जिससे कि खाया हुआ आहार भिन्न भिन्न रूपमें बदल जाता है,इसी प्रकार जन्मस्थान-प्राप्त जीव के द्वारा गृहीत पुद्गलोंसे ऐसी शक्ति बन जाती है, जो कि आहार आदि पुद्गलोंको खल-रस आदिरूपों में बदल देती है। वही शक्ति पर्याप्ति है। जनक पुद्गल में से कुछ तो ऐसे होते हैं, जो कि जन्मस्थानमें आये हुये जीवकेद्वारा प्रथम समयमें ही ग्रहण किये हुये होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो पीछेसे प्रत्येक समय ग्रहण किये जाकर, पूर्व-गृहीत पुद्गलों के संसर्गसे तद्रूप बने हुये होते हैं।

कार्य-भेदसे पर्याप्तिके छह भेद हैं–(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीर-पर्याप्ति, (३) इन्द्रियपर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनःपर्याप्ति। इनकी व्याख्या, पहले कर्मग्रन्थकी ४९ वीं गाथाके भावार्थ में पृ० ९७ वें से देख लेनी चाहिये।

इन छह पर्याप्तियों में से पहली चार पर्याप्तियोंके अधिकारी एकेन्द्रिय ही हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीव, मनः पर्याप्तियोंके सिवाय शेष पाँच पर्याप्तियोंके अधिकारी हैं। संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीव, छहों पर्याप्तियोंके अधिकारी हैं।इस विषयकी गाथा, श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण-कृत बृहत्संग्रहणीमें है:—

"आहारसरीरिंदिय,–पज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पि य, एगिंदियविगलसंनीणं॥ ३४९॥"

यही गाथा गोम्मटसार-जीवकाण्डमें ११८ वे नम्बर पर दर्ज है। प्रस्तुत विषयका विशेष स्वरूप जाननेके लिये ये स्थल देखने योग्य हैं:–

नन्दी, पृ० १०४–१०५ पञ्चसं०, द्वा० १, गा० ५ वृत्ति, लोकप्र०, स० ३, श्लो०७–४२ तथा जीवकाण्ड, पर्याप्ति-अधिकार, गा० ११७–१२७

---

## परिशिष्ट "च"

**पृष्ठ २१ के 'क्रमभावी' शब्द पर—**

छद्मस्थके उपयोग क्रमभावी हैं, इसमें मतभेद नहीं है, पर केवलीके उपयोग के सम्बन्ध में मुख्य तीन पक्ष है:—

(१) सिद्धान्त-पक्ष, केवलज्ञान और केवलदर्शनको क्रमभावी मानता है इसके समर्थक श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हैं।

(२) दूसरा पक्ष, केवलज्ञान-केवलदर्शन, उभय उपयोगको सहभावी मानता है। इसके पोषक श्रीमल्लवादी तार्किक आदि हैं।

(३) तीसरा पक्ष, उभय उपयोगोंका भेद न मानकर उनका ऐक्यमानता हैं। इसके स्थापक श्रीसिद्धसेन दिवाकर है।

तीनों पक्षोंकी कुछ मुख्य-मुख्यदलीलें क्रमशः नीचे दी जाती हैं:—

१-(क) सिद्धान्त(भगवती-शतक १८ और २५ के ६ उद्देश, तथा प्रज्ञापना-पद ३०) में ज्ञान-दर्शन दोनोंका अलग-अलग कथन है तथा उनका क्रमभावित्व स्पष्ट वर्णित है। (ख)नियुक्ति (आ०नि०गा० ९७७-९७९) में केवल ज्ञान-केवलदर्शन दोनोंका भिन्न-भिन्न लक्षण उनके द्वारा सर्व-विषयक ज्ञान तथा दर्शनका होना और युगपत् दो उपयोगोंका निषेध स्पष्ट बतलाया है। (ग)केवल ज्ञान-केवलदर्शनके भिन्न-भिन्न आवरण और उपयोगोंकी बारह संख्या शास्त्र में (प्रज्ञापना, पद २९, पृ० $\frac{४२५}{१}$ आदिमें) जगह-जगह वर्णित है। (घ) केवलज्ञान और केवलदर्शन, अनन्त कहे जाते हैं, सो लब्धिकी अपेक्षासे, उपयोगकी अपेक्षा से नहीं। उपयोगकी अपेक्षासे उनकी स्थिति एक समयकी है; क्योंकि उपयोगकी अपेक्षासे अनन्तता शास्त्रमें कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। (ङ) उपयोगोंका स्वभाव ही ऐसा है, जिससे कि वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसलिये केवलज्ञान और केवलदर्शनको क्रमभावी और अलग-अलग मानना चाहिये।

२ (क)आवरण-क्षयरूप निमित्त और सामान्य-विशेषात्मक विषय, समकालीन होनेसे केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं। ख) छाद्मस्थिक उपयोगोंमें कार्यकारण भाव या परस्पर प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक-भाव घट सकता है, क्षायिक-उपयोगोंमें नहीं; क्योंकि बोध-स्वभाव शाश्वत आत्मा, जब निरावरण हो, तब उसके दोनों क्षायिक-उपयोग निरन्तर ही होने चाहिये। (ग) केवलज्ञान केवलदर्शनकी सादि-अपर्यवसितता, जो शास्त्रमें कही है, वह भी युगपत्-पक्ष में ही घट सकती है; क्योंकि इस पक्षमें दोनों उपयोग युगपत् और निरन्तर होते रहते हैं। इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे उपयोग-द्वयके प्रवाहको अपर्यवसित (अनन्त) कहा जा सकता है। (घ) केवलज्ञान-केवलदर्शन के सम्बन्ध में सिद्धान्त में जहकहीं जो कुछ कहा गया है, वह सब दोनोंके व्यक्ति-भेदका साधक है, क्रमभावित्व का नहीं। इसलिये दोनों उपयोगको सहभावी मानना चाहिये।

३—(क) जैसे सामग्री मिलनेपर एक ज्ञान-पर्यायमें अनेक घट-पटादि विषय भासित होते हैं, वैसे ही आवरण-क्षय, विषय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल-उपयोग, पदार्थोंके सामान्यविशेष उभय स्वरूपक जान सकता है। (ख)जैसे केवलज्ञान के समय,मतिज्ञानावरणादिका अभाव होनेपर भी मति आदि ज्ञान, केवलज्ञानसे अलग नहीं माने जाते, वैसे ही केवलदर्शना-वरणका क्षय होने पर भी केवलदर्शनको, केवलज्ञानसे अलग मानना उचित नहीं। (ग)विषय और क्षयोपशमतकी विभिन्नताके कारण, छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शनमें परस्पर भेद माना जा सकता है, पर अनन्त-विषयकता और क्षायिक-भाव समान होने से केवलज्ञान-केवलदर्शनमें किसी तरह भेद नहीं माना जा सकता। (घ) यदि केवल दर्शनको केवलज्ञानसे अलग माना जाय तो वह सामान्यमात्रको विषय करने वाला होनेसे अल्पविषयकसिद्ध होगा,जिससे उसकाशास्त्रकथितअनन्त-विषयकत्व नहीं घट सकेगा। (ङ) केवलीका भाषण, केवलज्ञान-केवलदर्शन-दूषित होता है, यह शास्त्र-कथन अभेद-पक्षहीमें पूर्णतया घट सकता है। (च) आवरण-भेद कथञ्चित है; अर्थात् वस्तुतः आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि-भेदकी अपेक्षा से उसके भेद समझने चाहिये इसलिये एक उपयोग-व्यक्तिमें ज्ञानत्व दर्शनत्व दो धर्म अलग-अलग मानना चाहिये। उपयोग, ज्ञान-दर्शन दो अलग-अलग मानना युक्त नहीं; अत एवं ज्ञान-दर्शन दोनों शब्द पर्यायमात्र(एकार्थवाची)हैं।

उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने अपने ज्ञानबिन्दु पृ० [illegible] में नयी-दृष्टि से तीनों पक्षों का समन्वय किया है:—सिद्धान्त-पक्ष,शुद्ध ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा से; श्रीमल्लवादी जी का पक्ष, व्यवहार-नयकी अपेक्षा से और श्रीसिद्धसेन दिवाकरका पक्ष, संग्रहनयकी अपेक्षा से जानना चाहिये। इस विषयका सविस्तर वर्णन, सम्मतितर्क; जीवकाण्ड गा० ३ से आगे; विशेषावश्यक भाष्य गा० ३०८८–३१३५; श्रीहरिभद्रसूरिकृत धर्मसंग्रहणी गा० १३३६–१३५९; श्रीसिद्धसेनगणिकृत तत्त्वार्थटीका अ० १, सू० ३१, पृ० [illegible]; श्रीमलयगिरि-नन्दीवृत्ति पृ० १३४–१३८ और ज्ञानबिन्दु पृ० १५४–१६४ से जान लेना चाहिये।

दिगम्बर-सम्प्रदाय में उक्त तीन पक्षमें से दूसरा अर्थात् उपयोग-द्वयका पक्ष ही प्रसिद्ध है:—

**जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।**
**दिणयरपयासतापं, जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥"** —नियमसार।

**"सिद्धाणं सिद्धगई, केवलणाणं च दंसणं खयियं।**
**सम्मत्तमणाहारं, उवजोगाणक्कमपउत्ती ॥७३०॥"** —जीवकाण्ड।

**"दंसणपुव्वं णाणं, छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।**
**जुगवं जम्हा केवलि—णाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥"** –द्रव्यसंग्रह।

## परिशिष्ट "छ"।

**पृष्ठ २२ के 'एकेन्द्रिय' शब्द पर—**

एकेन्द्रियों में तीन उपयोग माने गये हैं। इसलिये यह शङ्का होती है कि 'स्पर्शनेन्द्रिय-मति-ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियों में मति-उपयोग मानना ठीक है, परन्तु भाषालब्धि (बोलने की शक्ति) तथा श्रवणलब्धि (सुनने की शक्ति) न होने के कारण उनमें श्रुत-उपयोग कैसे माना जा सकता है; क्योंकि शास्त्र में भाषा तथा श्रणलब्धिवालों को ही श्रुतज्ञान माना है। यथा:—

**"भावसुयं भासासो,-यलद्धिणो वुज्जए न इयरस्स -**
**भासाभिमुहस्स जयं, सोऊण य जं हविज्जाहि ॥१०२॥"**

—विशेषावश्यक।

बोलने व सुनने की शक्ति वाले हो को भावश्रुत हो सकता है, दूसरे को नहीं। क्योंकि 'श्रुतज्ञान' उस ज्ञान को कहते हैं, जो बोलने की इच्छा वाले या वचन सुनने वाले को होता है।

इसका समाधान यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्य (बाह्य) इन्द्रियाँ न होने पर भी वृक्षादि जीवों में पाँच भावेन्द्रिय-जन्य ज्ञानों का होना, जैसा शास्त्र-सम्मत है; वैसे ही बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी एकेन्द्रियों में भावश्रुतज्ञान का होना शास्त्र-सम्मत है। यथा:—

**"जह सुहुमं भाविंदिय,-नाणं दव्विंदियावरोहे वि।**
**तह दव्वसुयाभावे, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥१०३॥"**

—विशेषावश्यक।

जिस प्रकार द्रव्य-इन्द्रियों के अभाव में भावेन्द्रिय-जन्य सूक्ष्म ज्ञान होता है, इसी प्रकार द्रव्यश्रुत के भाषा आदि बाह्य निमित्त के अभाव में भी पृथ्वीकायिक आदि जीवों को अल्प भावश्रुत होता है। यह ठीक है कि औरों को जैसा स्पष्ट ज्ञान होता है, वैसा एकेन्द्रियों को नहीं होता। शास्त्र-में एकेन्द्रियों को आहार का अभिलाष माना है, यही उनके अस्पष्ट ज्ञान मानने में हेतु है।

आहार का अभिलाष, क्षुधावेदनीयकर्म के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम-विशेष (अध्यवसाय) है। यथा:—

"आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवः खल्वात्मपरिणाम इति।"

—आवश्यक, हारिभद्री वृत्ति पृ० ५८०।

इस अभिलाषरूप अध्यवसाय में 'मुझे अमुक वस्तु मिले तो अच्छा, इस प्रकार का शब्द और अर्थ का विकल्प होता है। जो अध्यवसाय विकल्प सहित होता है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है। यथा:—

"इंदियमणोनिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥१००॥"

—विशेषावश्यक।

अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जो नियत अर्थ का कथन करने में समर्थ और श्रुतानुसारी (शब्द तथा अर्थ के विकल्प से युक्त) है, उसे 'भावश्रुत' तथा उससे भिन्न ज्ञान को 'मतिज्ञान' समझना चाहिये। अब यदि एकेन्द्रियों में श्रुत उपयोग न माना जाय तो उनमें आहार का अभिलाष, जो शास्त्र-सम्मत है, वह कैसे घट सकेगा? इसलिये बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत-उपयोग अवश्य ही मानना चाहिये।

भाषा तथा श्रवणलब्धि वाले को ही भावश्रुत होता है, दूसरे को नहीं, इस शास्त्र-कथन का तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्ति वाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरों को अस्पष्ट।

# (२)-मार्गणास्थान-अधिकार।

## मार्गणा के मूल भेद।

गइइंदिए य काये, जोए वेए कसायनाणेसु।
संजमदंसणलेसा, भवसम्मे सन्नि आहारे[1] ॥ ६ ॥

गतीन्द्रिये च काये, योगे वेदे कषायज्ञानयोः।
संयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वे संज्ञयाहारे ॥ ६ ॥

**अर्थ**—मार्गणास्थान के गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारकत्व, ये चौदह भेद हैं ॥ ६ ॥

## मार्गणाओं की व्याख्या[2]।

**भावार्थ**—( १ ) गति—जो पर्याप्त, गतिनामकर्म के उदय से होते हैं और जिससे जीव का नर, मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारक का व्यवहार होता है, वे 'गति' हैं।

---

१—यह गाथा पञ्चसंग्रह की है (द्वार १. गा० २१)। गोम्मटसार-जीवकाण्ड में यह इस प्रकार है:—

"गइइंदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्साभवियासमत्तसण्णिआहारे ॥१४१॥"

२—गोम्मटसार-जीवकाण्ड के मार्गणाधिकार में मार्गणाओं के जो लक्षण हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) गतिनामकर्म के उदय-जन्य पर्याय या चार गति पाने के कारण-भूत जो पर्याय, वे 'गति' कहलाते हैं। —गा० १४५

(२) अहमिन्द्र देव के समान आपस में स्वतन्त्र होने से नेत्र आदि को 'इन्द्रिय' कहते हैं। —गा० १६३।

(३) जातिनामकर्म के नियत-सहचारी त्रस या स्थावर-नामकर्म के उदय से होने वाले पर्याय 'काय' हैं। गा० १८०।

(४) पुद्गल-विपाकी शरीरनामकर्म के उदय से मन, वचन और काय-युक्त जीव की कर्म-ग्रहण में कारणभूत जो शक्ति, वह 'योग' है।—गा० २१५

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



( २ ) इन्द्रिय—त्वचा, नेत्र आदि जिन साधनों से सर्दी-गर्मी,

(५) वेदमोहनीय के उदय-उदीरणा से होने वाला परिणाम का संमोह (चाञ्चल्य), जिससे गुण-दोषका विवेक नहीं रहता, वह 'वेद' है।—गा० २७१

(६) 'कषाय' जीव के उस परिणाम को कहते हैं, जिससे सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के धास को पैदा करने वाले और संसार रूप विस्तृत सीमा वाले कर्मरूप क्षेत्र का कर्षण किया जाता है। —गा० २८१।

सम्यक्त्व, देशचारित्र, सर्वचारित्र और यथाख्यातचारित्र का घात (प्रतिबन्ध) करने वाला परिणाम 'कषाय' है। —गा० २८२।

(७) जिसके द्वारा जीव तीन काल-सम्बन्धी अनेक प्रकार के द्रव्य, गुण और पर्याय को जान सकता है, वह 'ज्ञान' है। —गा० २९८।

(८) अहिंसा आदि व्रतों के धारण, ईर्या आदि समितियों के पालन कषायों के निग्रह, मन आदि दण्ड के त्याग और इन्द्रियों की जय को 'संयम' कहा है। —गा० ४६४।

(९) पदार्थों के आकार को विशेष रूप से न जानकर सामान्य रूप से जानना, वह 'दर्शन' है। —गा० ४८१।

(१०) जिस परिणाम द्वारा जीव पुण्य-पाप कर्म को अपने साथ मिला लेता है, वह 'लेश्या' है। —गा०४८८।

(११) जिन जीवों की सिद्धि कभी होने वाली हो—जो सिद्धि के योग्य हैं, वे भव्य' और इसके विपरीत, जो कभी संसार में मुक्त न होंगे, वे 'अभव्य' हैं। —गा० ५५६।

(१२) वीतराग के कहे हुये पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य या नव प्रकार के पदार्थों पर आज्ञापूर्वक या अधिगमपूर्वक (प्रमाण-नय-निक्षेप-द्वारा) श्रद्धा करना 'सम्यक्त्व' है। —गा० ५६०।

(१३) नो-इन्द्रिय (मन) के आवरण का क्षयोपशम या उससे होने वाला ज्ञान, जिसे संज्ञा कहते हैं, उसे धारण करने वाला जीव 'संज्ञी' और इसके विपरीत, जिसको मन के सिवाय अन्य इन्द्रियों से ज्ञान होता है वह 'असंज्ञी' है। —गा० ६५९।

(१४) औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीन में से किसी भी शरीर के योग्य वर्गणाओं को यथायोग्य ग्रहण करने वाला जीव 'आहारक' है —गा० ६६४।

काले-पीले आदि विषयों का ज्ञान होता है और जो अङ्गोपाङ्ग तथा निर्माण नामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं, वे 'इन्द्रिय' हैं।

( ३ ) काय—जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल-स्कन्धों से होती है और जो शरीरनामकर्म के उदय से बनता है, उसे 'काय' ( शरीर ) कहते हैं।

( ४ ) योग—वीर्य-शक्ति के जिस परिस्पन्द से—आत्मिक-प्रदेशों-की हल-चल से—गमन, भोजन आदि क्रियायें होती हैं और जो परिस्पन्द, शरीर, भाषा तथा मनोवर्गणा के पुद्गलों की सहायता से होता है, वह 'योग' है।

( ५ ) वेद—संभोग-जन्य सुख के अनुभव की इच्छा, जो वेद-मोहनीयकर्म के उदय से होती है, वह 'वेद' है।

( ६ ) कषाय—किसी पर आसक्त होना या किसी से नाराज हो जाना, इत्यादि मानसिक-विकार, जो संसार-वृद्धि के कारण हैं और जो कषायमोहनीय कर्म के उदय-जन्य हैं, उनको 'कषाय' कहते हैं।

( ७ ) ज्ञान—किसी वस्तु को विशेष रूप से जानने वाला चेतना-शक्ति का व्यापार ( उपयोग ), 'ज्ञान' कहलाता है।

( ८ ) संयम—कर्मबन्ध-जनक प्रवृत्ति से अलग हो जाना, 'संयम' कहलाता है।

( ९ ) दर्शन—विषय को सामान्य रूप से जानने वाला चेतना-शक्ति का उपयोग 'दर्शन' है।

( १० ) लेश्या—आत्मा के साथ कर्म का मेल कराने वाले परिणाम-विशेष 'लेश्या' हैं।

( ११ ) भव्यत्व—मोक्ष पाने की योग्यता को 'भव्यत्व' कहते हैं।

( १२ ) सम्यक्त्व—आत्मा के उस परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं, जो मोक्ष का अविरोधी है—जिसके व्यक्त होते ही आत्मा की प्रवृत्ति,

मुख्यतया अन्तर्मुख ( भीतर की ओर ) हो जाती है। तत्त्व-रुचि, इसी परिणाम का फल है[1]। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता, ये पाँच लक्षण प्रायः सम्यक्त्वी में पाये जाते हैं।

( १३ ) संज्ञित्व—दीर्घकालिकी संज्ञा की प्राप्ति को 'संज्ञित्व' कहते हैं।

( १४ ) आहारकत्व—किसी-न-किसी प्रकार के आहार[2] को ग्रहण करना, 'आहारकत्व' है।

मूल प्रत्येक मार्गणा में सम्पूर्ण संसारी जीवों का समावेश होता है ॥ ६ ॥

---

१—यही बात भट्टारक श्रीअकलङ्कदेवने कही है:—

"तस्मात् सम्यग्दर्शनमात्मपरिणामः श्रेयोभिमुखमध्यवस्यामः"

—तत्वा०अ० १, सू० २, वार्त्तिक १६।

२—आहार तीन प्रकार का है:—(१) ओज-आहार, (२) लोम-आहार और (३) कवल-आहार। इनका लक्षण इस प्रकार है:—

"सरीरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोम आहारो।
पक्खेवाहारो पुण, कवलियो होइ नायव्वो॥"

गर्भ में उत्पन्न होने के समय जो शुक्र-शोणितरूप आहार, कार्मणशरीर के द्वारा लिया जाता है, वह ओज, वायु का त्वगिन्द्रिय द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, वह लोम और जो अन्न आदि खाद्य, मुख द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह कवल-आहार है।

आहार का स्वरूप गोम्मटसार-जीवकाण्ड में इस प्रकार है:—

"उदयावण्णसरीरो,-दयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं, गहणं आहारयं नाम ॥६६३॥"

शरीरनामकर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्यमन के बनने योग्य नोकर्म-वर्गणाओंका जो ग्रहण होता है, उसको 'आहार' कहते हैं।

दिगम्बर-साहित्य में आहार के छह भेद किये हुये मिलते हैं। यथा:—

# मार्गणास्थान के अवान्तर (विशेष) भेद ।

[ चार गाथाओं से । ]

**सुरनरतिरिनिरयगई, इगबियतियचउपणिंदि छक्काया ।**
**भूजलजलणानिलवण,-तसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०॥**

सुरनरतिर्यङ्निरयगतिरेकद्विकत्रिकचतुष्पञ्चेन्द्रियाणि षट्कायाः ।
भूजलज्वलनानिलवनत्रसाश्च मनोवचनतनुयोगाः ॥ १० ॥

अर्थ—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक, ये चार गतियां हैं । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, ये पांच इन्द्रिय हैं । पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, ये छह काय हैं । मनोयोग, वचनयोग और काययोग, ये तीन योग हैं ॥ १० ॥

( १ )--गतिमार्गणा के भेदों का स्वरूप:—

भावार्थ—( १ ) देवगतिनामकर्म के उदय से होने वाला पर्याय (शरीर का विशिष्ट आकार), जिससे 'यह देव' है, ऐसा व्यवहार किया जाता है, वह 'देवगति' । (२) 'यह मनुष्य है,' ऐसा व्यवहार करानेवाला जो मनुष्यगतिनामकर्म के उदय–जन्य पर्याय, वह 'मनुष्यगति' । (३) जिस पर्याय से जीव 'तिर्यञ्च' कहलाता है और जो तिर्यञ्चगतिनामकर्म के उदय से होता है, वह 'तिर्यञ्चगति' । (४) जिस पर्याय को पाकर जीव, 'नारक' कहा जाता है और जिसका कारण नरकगतिनामकर्म का उदय है, वह 'नरकगति' है ।

---

णोकम्मकम्महारो, कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
ओजमणो वि य कमसो, आहारो छव्विहो णेयो ॥"
—प्रमेयकमलमार्तण्ड के द्वितीय परिच्छेद में प्रमाणरूप से उद्धृत ।

(२)—इन्द्रियमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

( १ ) जिस जाति में सिर्फ त्वचा इन्द्रिय पायी जाती है और जो जाति, एकेन्द्रियजातिनामकर्म के उदय से प्राप्त होती है, वह 'एकेन्द्रियजाति'। ( २ ) जिस जाति में दो इन्द्रियाँ (त्वचा, जीभ) हैं और जो द्वीन्द्रियजातिनामकर्म के उदय-जन्य है, वह 'द्वीन्द्रियजाति'। ( ३ ) जिस जाति में इन्द्रियाँ तीन (उक्त दो तथा नाक) होती हैं और त्रीन्द्रियजातिनामकर्म का उदय जिसका कारण है, वह 'त्रीन्द्रियजाति'। ( ४ ) चतुरिन्द्रियजाति में इन्द्रियाँ चार ( उक्त तीन तथा नेत्र ) होती हैं और जिसकी प्राप्ति चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म के उदय से होती है। ( ५ ) पञ्चेन्द्रियजाति में उक्त चार और कान, ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं और उसके होने में निमित्त पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म का उदय है।

(३)—कायमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

( १ ) पार्थिव शरीर, जो पृथ्वी का बनता है, वह 'पृथ्वीकाय'। ( २ ) जलीय शरीर, जो जलसे बनता है, वह 'जलकाय'। ( ३ ) तैजसशरीर, जो तेजका बनता है, वह 'तेज काय'। ( ४ ) वायवीय शरीर, जो वायु-जन्य है, वह 'वायुकाय'। ( ५ ) वनस्पतिशरीर, जो वनस्पतिमय है, वह 'वनस्पतिकाय' है। ये पाँच काय, स्थावरनामकर्म के उदय से होते हैं और इनके स्वामी पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव हैं। ( ६ ) जो शरीर चल-फिर सकता है और जो त्रसनामकर्म के उदय से प्राप्त होता है, वह 'त्रसकाय' है। इसके धारण करने वाले द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सब प्रकार के जीव हैं।

(४)—योगमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

( १ ) जीव का वह व्यापार 'मनोयोग' है, जो औदारिक, वैक्रिय

---

१—देखिये, परिशिष्ट "ज"।

या आहारक- शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुये मनोद्रव्य-समूह की मदद से होता है। (२) जीव के उस व्यापार को 'वचन योग'[1] कहते हैं, जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक-शरीर की क्रिया द्वारा संचय किये हुये भाषाद्रव्य की सहायता से होता है (३) शरीरधारी आत्मा की वीर्य शक्ति का व्यापार-विशेष 'काययोग' कहलाता है ॥१०॥

(६)—वेदमार्गणा के भेदों का स्वरूप:—

**वेय नरित्थिनपुंसा, कसाय कोहमयमायलोभ त्ति।**
**मइसुयवहिमणकेवल,–बिहंगमइसुअनाण सागारा ॥११॥**

वेदा नरस्त्रिनपुंसकाः, कषाया क्रोधमदमायालोभा इति।

मातश्रुतावधिमनः केवलयिङ्गमति श्रुताज्ञानानि साकाराणि ॥११॥

अर्थ—पुरुष, स्त्री और नपुंसक, ये तीन वेद हैं। क्रोध, मान माया और लोभ, ये चार भेद कषाय के हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल ज्ञान तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान, ये आठ सकार (विशेष) उपयोग हैं ॥११॥

भावार्थ—(१) स्त्री के संसर्ग की इच्छा 'पुरुषवेद', (२) पुरुषके संसर्ग करने की इच्छा 'स्त्रीवेद' और (३) स्त्री-पुरुष दोनों के संसर्ग की इच्छा 'नपुंसकवेद' है।

---

१—यह लक्षण भाववेदका है। द्रव्यवेदका निर्णय बाहरी चिह्नों से किया जाता है:—पुरुष के चिन्ह, डाढ़ी-मूँछ आदि हैं। स्त्री के चिन्ह डाढ़ी मूँछ का अभाव तथा स्तन आदि हैं। नपुंसक में स्त्री-पुरुष दोनों के कुछ-कुछ चिन्ह होते हैं।

यही बात प्रज्ञापना-भाषापद की टीका में कही हुई है:—

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धता क्लीबता स्तनौ।
पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दाढर्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता।
स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥

स्तनादिश्मश्रुकेशादि,-भावाभावसमन्वितम् ।
नपुंसकं बुधाः प्राहु,-र्मोहानलसुदीपितम् ॥३॥

बाह्य चिन्ह के सम्बन्ध में यह कथन बहुलता की अपेक्षा से है; क्योंकि कभी-कभी पुरुष के चिन्ह, स्त्री में और स्त्री के चिन्ह, पुरुष में देखे जाते है। इस बात की सत्यता के लिये नीचे-लिखे उद्धरण देखने योग्य हैं:—

"मेरे परम मित्र डाक्टर शिवप्रसाद, जिस समय कोटा हास्पिटल में थे (अब आपने स्वतन्त्र मेडिकल हाल खोलने के इरादे से नौकरी छोड़ दी है, अपनी आंखों देखा हाल इस प्रकार बयान करते हैं कि 'डाक्टर मेकवाट साहब के जमाने में (कि जो उस समय कोटे में चीफ़ मेडिकल आफ़िसर थे)·····एक व्यक्ति पर मुर्छावस्था (अन्डर क्लरोफ़ार्म) में शस्त्रचिकित्सा (आपरेशन) करनी थी, अतएव उसे मूर्छित किया गया; देखते क्या हैं कि उसके शरीर में स्त्री और पुरुष दोनों के चिन्ह विद्यमान हैं। ये दोनों अवयव पूर्ण रूप से विकास पाए हुए थे। शस्त्रचिकित्सा किये जाने पर उसे होश में लाया गया, होश में आने पर उससे पूछने पर मालूम हुआ कि उसने उन दोनों अवयवों से पृथक् २ उनका कार्य्य लिया है, किन्तु गर्भादिक शंका के कारण उसने स्त्री विषयक अवयव से कार्य्य लेना छोड़ दिया है।' यह व्यक्ति अब तक जीवित है।'

"सुनने में आया है और प्रायः सत्य है कि 'मेरवाड़ा डिस्ट्रिक्ट (Merwara District) में एक व्यक्ति के लड़का हुआ। उसने वयस्क होने पर एण्ट्रेन्स पास किया। इसी अर्से में माता पिता ने उसका विवाह भी कर दिया, क्योंकि उसके पुरुष होने में किसी प्रकार की शंका तो थी ही नहीं; किन्तु विवाह होने पर मालूम हुआ कि वह पुरुषत्वके विचार से सर्वथा अयोग्य है। अतएव डाक्टरी जांच करवाने पर मालूम हुआ कि वह वास्तव में स्त्री है और स्त्री चिन्ह के

(६) कषाय[1] मार्गणा के भेदों का स्वरूप:—

(१) 'क्रोध' वह विकार है, जिससे किसी की भली-बुरी बात सहन नहीं की जाती या नाराजी होती है। (२) जिस दोष से छोटे-बड़े के प्रति उचित नम्रभाव नहीं रहता या जिससे ऐंठ हो वह 'मान' है।

---

ऊपर पुरुषचिन्ह नाम मात्र को बन गया—इसी कारण वह चिन्ह निरर्थक है—अतएव डाक्टर के उस कृत्रिम चिन्ह को दूर कर देने पर उसका शुद्ध स्त्रीस्वरूप प्रकट हो गया और उन दोनों स्त्रियों (पुरुषरूपधारी स्त्री और उसकी विवाहिता स्त्री) की एक ही व्यक्ति से शादी कर दी गई।' यह स्त्री कुछ समय पहिले तक जीवित बतलाई जाती है।"

—मानव-सन्ततिशास्त्र, प्रकरण छठा।

यह नियम नहीं है कि द्रव्यवेद और भाववेद समान ही हो। ऊपर से पुरुष के चिन्ह होने पर भी भाव से स्त्री वेद के अनुभव का सम्भव है। यथा:—

"प्रारब्धे रतिकेलिसंकुलरणारम्भे तया साहस-
प्रायं कान्तजयाय किञ्चिदुपरि प्रारम्भि तत्संभ्रमात्।
खिन्ना येन कटीतटी शिथिलता दोर्वल्लिरुत्कम्पिरतम्,
वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिद्ध्यति ॥१७॥"

—सुभाषितरत्नभण्डार-विपरीतरतक्रिया

इसी प्रकार अन्य वेदों के विषय में भी विपर्यय का सम्भव है, तथापि बहुतकर द्रव्य और भाव वेद में समानता—बाह्य चिन्ह के अनुसार ही मानसिक-क्रिया—पाई जाती है।

गोम्मटसार-जीवकाण्ड में पुरुष आदि वेद का लक्षण शब्द-व्युत्पत्ति के अनुसार किया है।

गा० २७२—७४।

१—कषायित आत्मा के तीव्र-मन्द-भाव की अपेक्षा से क्रोधादि प्रत्येक कषाय के अनन्तानुबन्धी आदि चार-चार भेद कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार-जीवकाण्ड में समान है। किन्तु गोम्मटसार में लेश्या की अपेक्षा से चौदह-चौदह और आयु के बन्धाबन्ध की अपेक्षा से बीस-बीस भेद किये गये हैं; उनका विचार श्वेताम्बरी ग्रन्थों में नहीं देखा गया। इन भेदों के लिये देखिये, जी० गा० २९१ से २९४ तक।

(३) 'माया' उसे कहते हैं, जिससे, छल-कपट में प्रवृत्ति होती है। (४) 'लोभ' ममत्वको कहते हैं।

### (७) ज्ञानमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

(१) जो ज्ञान इन्द्रिय के तथा मन के द्वारा होता और जो बहुतकर वर्तमानकालिक विषयों को जानता है, वह 'मतिज्ञान है'। (२) जो ज्ञान, श्रुतानुसारी है—जिसमें शब्द-अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है—और जो मतिज्ञान के बाद होता है; जैसे—'जल' शब्द सुनकर यह जानना कि यह शब्द पानी का बोधक है अथवा पानी देखकर यह विचारना कि यह, 'जल' शब्द का अर्थ है, इस प्रकार उसके सम्बन्ध की अन्य-अन्य बातों का विचार करना, वह 'श्रुतज्ञान' है। (३) 'अवधिज्ञान' वह है, जो इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही उत्पन्न होता है—जिसके होने में आत्मा की विशिष्ट योग्यता मात्र अपेक्षित है—और जो रूप वाले विषयों को ही जानता है। (४) 'मनः पर्यायज्ञान' वह है, जो संज्ञी जीवों के मन की अवस्थाओं को जानता है और जिसके होने में आत्मा के विशिष्ट क्षयोपशममात्र की अपेक्षा है, इन्द्रिय-मन की नहीं। (५) 'केवलज्ञान' उस ज्ञान को कहते हैं, जिससे त्रैकालिक सब वस्तुएँ, जानी जाती हैं और जो परिपूर्ण, स्थायी तथा स्वतन्त्र है। (६) विपरीत मति-उपयोग, 'मति-अज्ञान' है; जैसे:—घट आदि को एकान्त सद्रूप मानना अर्थात् यह मानना कि वह किसी अपेक्षा से असद्रूप नहीं है। (७) विपरीत श्रुत-उपयोग 'श्रुत-अज्ञान' है; जैसे:—'हरि' आदि किसी शब्द को सुनकर यह निश्चय करना कि इसका अर्थ 'सिंह' है, दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, इत्यादि। (८) विपरीत अवधि-उपयोग ही 'विभङ्गज्ञान' है। कहा जाता है कि शिवराजर्षि को ऐसा ज्ञान था; क्योंकि उन्होंने सात द्वीप तथा सात समुद्र देखकर उतने में ही सब द्वीप-समुद्र का निश्चय किया था।

जिस समय मिथ्यात्व का उदय हो आता है, उस समय जीव कदाग्रही बन जाता है, जिससे वह किसी विषय का यथार्थ स्वरूप जानने नहीं पाता; उस समय उसका उपयोग—चाहे वह मतिरूप हो, श्रुतरूप हो या अवधिरूप हो—अज्ञान ( अयथार्थ-ज्ञान ) रूप में बदल जाता है।

मनःपर्याय और केवलज्ञान, ये दो उपयोग, मिथ्यात्वी को होते ही नहीं; इससे वे ज्ञानरूप ही हैं।

ये आठ उपयोग, साकार इसलिये कहे जाते हैं कि इनके द्वारा वस्तु के सामान्य-विशेष, उभय रूप में से विशेष रूप (विशेष आकार) मुख्यतया जाना जाता है ॥११॥

(८) संयममार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

सामाइअछेयपरिहार, सुहमअहक्खायदेसजयअजया।
चक्खुअचक्खूओही,-केवलदंसण अणागारा ॥ १२ ॥
सामायिकच्छेदपरिहारसूक्ष्मयथाख्यातदेशयतायता नि।
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनान्यनाकाराणि ॥ १२ ॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात, देशविरति और अविरति, ये सात भेद संयममार्गणा के हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ये चार उपयोग अनाकार हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—(१) जिस संयम में समभाव की (राग-द्वेष के अभाव की) प्राप्ति हो, वह 'सामायिकसंयम' है। इसके (क) 'इत्वर' और (ख) 'यावत्कथित' ये दो भेद हैं।

( क ) 'इत्वरसामायिकसंयम' वह है, जो अभ्यासार्थी शिष्यों को स्थिरता प्राप्त करने के लिये पहले-पहल दिया जाता है और

जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन पर्यन्त--बड़ी दीक्षा लेने तक--मानी गई है। यह संयम भरत- ऐरवत-क्षेत्र में प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन के समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करने वालों को प्रतिक्रमण सहित पाँच महाव्रत अङ्गीकार करने पड़ते हैं तथा इस संयम के स्वामी 'स्थितकल्पी'[1] होते हैं।

( ख ) 'यावत्कथितसामायिकसंयम' वह है, जो ग्रहण करने के समय से जीवनपर्यन्त पाला जाता है। ऐसा संयम-ऐरवत-क्षेत्र-में मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के शासन में ग्रहण किया जाता है पर महाविदेहक्षेत्र में तो यह संयम, सब समयमें लिया जाता है। इस संयम के धारण करने वालों को महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।

( २ ) प्रथम संयम-पर्याय को छेदकर फिर से उपस्थापन (व्रतारोपण ) करना—पहले जितने समय तक संयम का पालन किया हो, उतने समय को व्यवहार में न गिनना और दुबारा संयम ग्रहण करने के समय से दीक्षाकाल गिनना व छोटे-बड़े का व्यवहार करना--'छेदोपस्थापनीयसंयम' है। इसके (क) 'सातिचार' और (ख) 'निरतिचार,' ये दो भेद हैं।

( क ) 'सातिचार—छेदोपस्थापनीय संयम' वह है, जो किसी कारण से मूलगुणों का—महाव्रतों का—भङ्ग हो जाने पर फिर से ग्रहण किया जाता है।

( ख ) 'निरतिचार-छेदोपस्थापनीय', उस संयम को कहते

---

१—आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातरपिण्ड, राजपिण्ड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा, इन दस कल्पों में जो स्थित हैं, वे 'स्थितकल्पी' और शय्यातर पिण्ड, व्रत, ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म, इन चार में नियम से स्थित और शेष छह कल्पों में जो अस्थित होते हैं, वे स्थितास्थितकल्पी' कहे जाते हैं।

—आ० हारिभद्री वृत्ति, पृ० ७६०, पञ्चाशक, प्रकरण १७।

है, जिसको इत्वरसामायिकसंयम वाले बड़ी दीक्षा के रूप में ग्रहण करते हैं। यह संयम, भरत-ऐरवत-क्षेत्र में प्रथम तथा चरम तीर्थङ्करके साधुओं को होता है और एक तीर्थ के साधु, दूसरे तीर्थ में जब दाखिल होते हैं; जैसे:—श्रीपार्श्वनाथ के केशीगाङ्गेय[1] आदि सान्तानिक साधु, भगवान् महावीर के तीर्थ में दाखिल हुये थे; तब उन्हें भी पुनर्दीक्षारूप में यही संयम होता है।

( ३ ) 'परिहारविशुद्धसंयम'[2] वह है, जिसमें 'परिहारविशुद्धि' नाम की तपस्या की जाती है। परिहारविशुद्धि तपस्या का विधान संक्षेप में इस प्रकार है:—

---

१—इस बात का वर्णन भगवतीसूत्र में है।

२—इस संयम का अधिकार पाने के लिये गृहस्थ-पर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २९ साल साधु-पर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्य प्रमाण २० साल और दोनों पर्याय का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ-कम करोड़ पूर्व वर्ष माना है। यथा:—

"एयस्स एस नेओ, गिहिपरिआओ जहन्नि गुणतीसा।
जइपरियाओ वीसा, दोसुवि उक्कोस देसूणा।"

इस संयम के अधिकारी को साढ़े नव पूर्व का ज्ञान होता है; यह श्रीजयसोमसूरि ने अपने टबे में लिखा है। इसका ग्रहण तीर्थङ्करों के या तीर्थङ्करों अन्तेवासी के पास माना गया है इस संयम को धारण करने वाले मुनि, दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा व विहार कर सकते हैं और अन्य समय में ध्यान, कायोत्सर्ग आदि। परन्तु इस विषय मे दिगम्बर-शास्त्र का थोड़ा सा मत-भेद है। उसमें तीस वर्ष की उम्रवाले को इस संयम का अधिकारी माना है। अधिकारी के लिये नौ पूर्व का ज्ञान आवश्यक बतलाया है। तीर्थङ्कर के सिवाय और किसी के पास उस संयम के ग्रहण करने की उसमें मनाही है। साथ ही तीन संध्याओं को छोड़कर दिन के किसी भाग में दो कोस तक जाने की उसमें सम्मति है। यथा:—

"तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो, संझूण दुगाउयविहारो ॥४७२॥"

जीवकाण्ड।

नौ साधुओं का एक गण ( समुदाय ) होता है, जिसमें से चार तपस्वी बनते हैं, चार उनके परिचारक ( सेवक ) और एक वाचनाचार्य। जो तपस्वी हैं, वे ग्रीष्मकाल में जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन, उपवास करते हैं। शीतकाल में जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार, उपवास करते है। परन्तु वर्षाकाल में जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पाँच, उपवास करते हैं। तपस्वी, पारणा के दिन अभिग्रहसहित आयंबिल[२] व्रत करते हैं। यह क्रम, छह महीने तक चलता है। दूसरे छह महीनों में पहले के तपस्वी तो परिचारक बनते हैं और परिचारक, तपस्वी।

दूसरे छह महीने के लिये तपस्वी बने हुये साधुओं की तपस्या का वही क्रम होता है, जो पहले के तपस्वियों की तपस्या का। परन्तु जो साधु परिचारक-पद ग्रहण किये हुये होते हैं, वे सदा आयंबिल ही करते हैं। दूसरे छह महीने के बाद, तीसरे छह महीने के लिये वाचनाचार्य ही तपस्वी बनता है; शेष आठ साधुओं में से कोई एक वाचनाचार्य और बाकी के सब, परिचारक होते हैं। इस प्रकार तीसरे छह महीने पूर्ण होने के बाद अठारह मास की यह 'परिहारविशुद्ध' नामक तपस्या समाप्त होती है। इसके बाद वे जिनकल्प ग्रहण करते हैं अथवा वे पहले जिस गच्छ के रहे हों, उसी में दाखिल होते हैं या फिर भी वैसी ही तपस्या शुरु करते हैं। परिहारविशुद्धसंयम के 'निर्विशमानक' और 'निर्विष्टकायिक', ये दो भेद हैं। वर्तमान परिहारविशुद्ध को 'निर्विशमानक' और भूत परिहारविशुद्ध को 'निर्विष्टकायिक' कहते हैं।

( ४ ) जिस संयम में सम्पराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म ( अति-

---

२—यह एक प्रकार का व्रत है, जिसमें घी, दूध आदि रसको छोड़कर केवल अन्न खाया जाता है; सो भी दिन एक ही दफा। पानी इसमें गरम पिया जाता है।

आवश्यक नि०, गा० १६०३-५।

स्वल्प ) रहता है, वह सूक्ष्मसम्परायसंयम' है । इसमें लोभ-कषाय उदयमान होता है, अन्य नहीं । यह संयम दसवें गुणस्थान वालों को होता है । इसके (क) 'संक्लिश्यमानक' और (ख) 'विशुद्धय-मानक' ये दो भेद हैं ।

(क) उपशमश्रेणि से गिरने वालों को दसवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय जो संयम होता है, वह 'संक्लिश्यमानकसूक्ष्मसम्पर संयम' है; क्योंकि पतन होने के कारण उस समय परिणाम संक्लेश-प्रधान ही होते जाते हैं ।

(ख) उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि पर चढ़ने वालों को दसवें गुणस्थान में जो संयम होता है, वह 'विशुद्धयमानकसूक्ष्म सम्पराय-संयम' है; क्योंकि उस समय के परिणाम विशुद्धि-प्रधान ही होते है ।

(५) जो संयम यथातथ्य है अर्थात् जिसमें कषाय का उदय-लेश भी नहीं है, वह 'यथाख्यातसंयम' है । इसके (क) 'छाद्मस्थिक' और (ख) 'आद्मस्थिक,' ये दो भेद हैं ।

(क) 'छाद्मस्थिकयथाख्यात संयम' वह है, जो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान वालों को होता है । ग्यारहवें गुणस्थान की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान में विशेषता यह है कि ग्यारहवें में कषाय का उदय नहीं होता, उसकी सत्तामात्र होती है; पर बारहवें में तो कषाय की सत्ता भी नहीं होती ।

(ख) 'अछाद्मस्थिकयथाख्यातसंयम' केवलियों को होता है । सयोगी केवली का संयम 'सयोगीयथाख्यात' और अयोगी केवली का संयम 'अयोगीयथाख्यात' है ।

(६) कर्मबन्ध-जनक आरम्भ-समारम्भसे किसी अंश में निवृत्त होना 'देशविरतिसंयम' कहलाता है । इसके अधिकारी गृहस्थ हैं[1] ।

---

१--श्रावक की दया का परिमाण--मुनी सब तरह की हिंसा से मुक्त रह सकते हैं, इसलिये उनकी दया परिपूर्ण कही जाती है । पर गृहस्थ वैसे रह नहीं सकते; इसलिये उनकी दया का

(७) किसी प्रकार के संयम का स्वीकार न करना 'अविरति' है। यह पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों में पायी जाती है।

(६)–दर्शनमार्गणा के चार[1] भेदों का स्वरूप:—

(१) चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय के द्वारा जो बोध होता है वह 'चक्षुर्दर्शन' है।

(२) चक्षु को छोड़ अन्य इन्द्रिय के द्वारा तथा मन के द्वारा जो सामान्य बोध होता है, वह 'अचक्षुर्दर्शन' है।

---

परिमाण बहुत-कम कहा गया है। यदि मुनियों की दया को बीसा अंश मान लें तो श्रावकों की दया को सवा अंश कहना चाहिये। इसी बात को जैन शास्त्रीय परिभाषा में कहा है कि "साधुओं की दया बीसा बिस्वा और श्रावकों की दया सवा बिस्वा है"। इसका कारण यह है कि श्रावक, त्रस जीवों की हिंसा को छोड़ सकते हैं स्थावर जीवों की हिंसा को नहीं। इससे मुनियों की बीसा बिस्वा दया की अपेक्षा आधा परिमाण रह जाता है इसमें भी श्रावक, त्रसकी संकल्प पूर्वक हिंसा का त्याग कर सकते हैं, आरम्भ-जन्य हिंसा का नहीं। अत एव उस आधे परिमाण में से भी आधा हिस्सा निकल जाने पर पाँच बिस्वा दया बचती है। इरादा-पूर्वक हिंसा भी उन्हीं त्रसों की त्याग की जा सकती है, जो निरपराध हैं। सापराध त्रसों की हिंसा से श्रावक मुक्त नहीं हो सकते इससे ढाई बिस्वा दया रहती। इसमें से भी आधा अंश निकल जाता है; क्योंकि निरपराध त्रसों की भी सापेक्षहिंसा श्रावकों के द्वारा हो ही जाती है, वे उनकी निरपेक्षहिंसा नहीं करते। इसी से श्रावकों की दया का परिमाण सवा बिस्वा माना है। इस भाव को जानने के लिये एक प्राचीन गाथा इस प्रकार है।

"जीवा सुहुमा थूला, संकप्पा आरंभा भवे दुविहा।
सावराह निरवराहा, सविक्खा चेव निरविक्खा॥"

इसके विशेष खुलासे के लिए देखिये, जैनतत्त्वादर्श का परिच्छेद १८वाँ।

१—यद्यपि सब जगह दर्शन के चार भेद ही प्रसिद्ध हैं और इसी से मनः पर्याय दर्शन नहीं माना जाता है। तथापि कहीं-कहीं मनः पर्याय दर्शन की भी स्वीकार किया है। इसका उल्लेख तत्त्वार्थ-अ० सू० २४ की टीका में है:—

"केचित्तु मन्यन्ते प्रज्ञापनायां मनः पर्यायज्ञानेऽपि दर्शनमपि पठ्यते"

(३) अवधिलब्धिवालों को इन्द्रियों की सहायता के बिना ही रूपी द्रव्य-विषयक जो सामान्य बोध होता है, वह 'अवधिदर्शन' है।

(४) सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायों को सामान्य रूप से विषय करने वाला बोध 'केवलदर्शन' है।

दर्शन को अनाकार-उपयोग इसलिये कहते हैं कि इसके द्वारा वस्तु के सामान्य-विशेष, उभय रूपों में से सामान्य रूप ( सामान्य आकार ) मुख्यतया जाना जाता है। अनाकार-उपयोग को न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में 'निर्विकल्पअव्यवसायात्मकज्ञान' कहते हैं ॥१२॥

## (१०)—लेश्या के भेदों का स्वरूप:—

**किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भविवयरा।**
**वेयगखइगुवसमि,-च्छमीससासाण संनियरे ॥१३॥**

कृष्णा नीला कापोता, तेजः पद्मा च शुल्का भव्यतरौ
वेदकक्षायिकोपशममिथ्यामिश्रसासादनाः संज्ञीतरौ ॥१३॥

अर्थ--कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्यायें हैं। भव्यत्व, अभव्यत्व, ये दो भेद भव्यमार्गणा के हैं। वेदक (क्षायोपशमिक), क्षायिक, औपशमिक, मिथ्यात्व, मिश्र और सासादन, ये छह भेद सम्यक्त्वमार्गणा के हैं - संज्ञित्व, असंज्ञित्व, ये दो भेद संज्ञिमार्गणा के हैं ॥१३॥

भावार्थ--(१) काजल के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या-जातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसा परिणाम होता है, जिससे हिंसा आदि पाँच आस्रवों में प्रवृत्ति होती है, मन, वचन तथा शरीर का संयम नहीं रहता; स्वभाव क्षुद्र बन जाता है; गुण-दोष की परीक्षा किये बिना ही कार्य करने की आदतसी हो जाती है और क्रूरता आ जाती है, वह परिणाम 'कृष्णलेश्या' है।

(२) अशोक वृक्ष के समान नीले रँग के लेश्या-पुद्गलों से ऐसा परिणाम आत्मा में उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता तथा माया-कपट होने लगते हैं; निर्लज्जता आ जाती है; विषयों की लालसा तीव्र हो उठती है; रस-लोलुपता होती है और सदा पौद्गलिक सुख की खोज की जाती है, वह परिणाम 'नीललेश्या है।

(३) कबूतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के पुद्गलों से इस प्रकार का परिणाम आत्मा में उत्पन्न होता है, जिससे बोलने, काम करने और विचारने में सब-कहीं वक्रता ही वक्रता होती है; किसी विषय में सरलता नहीं होती; नास्तिकता आती है और दूसरों को कष्ट हो, ऐसा भाषण करने की प्रवृत्ति होती है, वह परिणाम 'कापोतलेश्या' है।

(४) तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के लेश्या-पुद्गलों से एक प्रकार का आत्मा में परिणाम होता है, जिससे कि नम्रता आ जाती है; शठता दूर हो जाती है; चपलता रुक जाती है; धर्म में रुचि तथा दृढ़ता होती है और सब लोगों का हित करने की इच्छा होती है, वह परिणाम 'तेजोलेश्या' है।

(५) हल्दी के समान पीले रँग के लेश्या-पुद्गलों से एक तरह का परिणाम आत्मा में होता है, जिससे क्रोध, मान आदि कषाय बहुत अंशों में मन्द हो जाते हैं, चित्त प्रशान्त हो जाता है, आत्म-संयम किया जा सकता है; मित-भाषिता और जितेन्द्रियता आ जाती है, वह परिणाम 'पद्मलेश्या' है।

(६) 'शुक्ललेश्या' उस परिणाम को समझना चाहिये, जिससे कि आर्त्त-रौद्र-ध्यान बंद होकर धर्म तथा शुक्ल-ध्यान होने लगता है; मन, वचन और शरीर को नियमित बनाने में रुकावट नहीं आती; कषायकी उपशान्ति होती है और वीतराग-भाव सम्पादन करने की भी अनु-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर


कूलता हो जाती है। ऐसा परिणाम शङ्ख के समान श्वेत वर्ण के लेश्या-जातीय-पुद्गलों के सम्बन्ध से होता है।

(११)—भव्यत्वमार्गणा के भेदों का स्वरूप:—

(१) 'भव्य' वे हैं, जो अनादि तादृश-पारिणामिक-भाव के कारण मोक्ष को पाते हैं या पाने की योग्यता रखते हैं[1]।

(२) जो अनादि तथाविध परिणाम के कारण किसी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नहीं रखते, वे 'अभव्य' हैं।

(१२)—सम्यक्त्वमार्गणा के भेदों का स्वरूप:—

(१) चार अनन्तानुबन्धीकषाय और दर्शनमोहनीय के उपशम से प्रकट होने वाला तत्त्व-रुचि रूप आत्म-परिणाम, औपशमिकसम्यक्त्व, है। इसके (क) 'ग्रन्थि-भेद जन्य' और (ख) 'उपशमश्रेणी-भावी' ये दो भेद हैं।

(क) 'ग्रन्थि-भेद-जन्य औपशमिकसम्यक्त्व', अनादि-मिथ्यात्वी भव्यों को होता है। इसके प्राप्त होने की प्रक्रिया का विचार दूसरे

---

१—अनेक भव्य ऐसे हैं कि जो मोक्ष की योग्यता रखते हुए भी उसे नहीं पाते; क्योंकि उन्हें वैसी अनुकूल सामग्री ही नहीं मिलती, जिससे कि मोक्ष प्राप्त हो। इसलिये उन्हें 'जाति-भव्य कहते हैं। ऐसी भी मिट्टी है कि जिसमें सुवर्णके अंश तो हैं; पर अनुकूल साधन के अभाव से वे न तो अब तक प्रकट हुए और न आगे ही प्रकट होने की सम्भावना है; तो भी उस मिट्टी को योग्यता की अपेक्षा से जिस प्रकार 'सुवर्ण-मृत्तिका' (सोने की मिट्टी) कह सकते हैं; वैसे ही मोक्ष की योग्यता होते हुए भी उसके विशिष्ट साधन न मिलने से, मोक्ष को कभी न पा सकने वाले जीवों को 'जातिभव्य' कहना विरुद्ध नहीं। इसका विचार प्रज्ञापना के १८वें पद की टीका में, उपाध्याय-समयसुन्दरगणि-कृत विशेषशतक में तथा भगवती के १२वें शतक के २रे 'जयन्ती' नामक अधिकार में है।

२—देखिये परिशिष्ट 'झ'।

कर्मग्रन्थ की २री गाथा के भावार्थ में लिखा गया है। इसको 'प्रथमोपशमसम्यक्त्व' भी कहा है।

(ख) 'उपशमश्रेणि-भावी औपशमिकसम्यक्त्व' की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है; परन्तु आठवें गुणस्थान में तो उसकी प्राप्ति अवश्य ही होती है।

औपशमिकसम्यक्त्व के समय आयुबन्ध, मरण, अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध तथा अनन्तानुबन्धीकषाय का, उदय, ये चार बातें नहीं होतीं। पर उससे च्युत होने के बाद सास्वादन-भाव के समय उक्त चारों बातें हो सकती हैं।

(२) अनन्तानुबन्धीय और दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से प्रकट होने वाला तत्त्व-रुचिरूप परिणाम, 'क्षायोपशमिकसम्यक्त्व' है।

(३) जो तत्त्व-रुचिरूप परिणाम, अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहनीय-त्रिक के क्षय से प्रकट होता है, वह 'क्षायिकसम्यक्त्व' है।

यह क्षायिकसम्यक्त्व, जिन-कालिक मनुष्यों को होता है। जो जीव आयुबन्ध करने के बाद इससे प्राप्त करते हैं, वे तीसरे या चौथे भव में मोक्ष पाते हैं; परन्तु अगले भव की आयु बाँधने के पहिले जिनको यह सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वे वर्तमान भव में ही मुक्त होते हैं।

---

१—यह मत, श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों को एकसा इष्ट है।

दंसणखवणस्सरिहो, जिणकालीयो पुमट्ठवासुवरि" इत्यादि ॥

—पञ्चसंग्रह पृ० ११६५।

"दंसणमोहक्खवणा,—पट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।
तित्थयरपायमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥११०"

—लब्धिसार।

(४) औपशमिकसम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होने के समय, जीव का जो परिणाम होता है, उसी को 'सासादन-सम्यक्त्व' कहते हैं। इसकी स्थिति, जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट छह आवलिकाओं की होती है। इसके समय, अनन्तानुबन्धी-कषायों का उदय रहने के कारण, जीव के परिणाम निर्मल नहीं होते। सासादन में अतत्त्व-रुचि, अव्यक्त होती है और मिथ्यात्व में व्यक्त, यही दोनों में अन्तर है।

(५) तत्त्व और अतत्त्व, इन दोनों की रुचिरूप मिश्र परिणाम, जो सम्यङ्मिथ्यामोहनीय कर्म के उदय से होता है, वह 'मिश्रसम्य-क्त्व (सम्यङ्मिथ्यात्व) है।

(६) मिथ्यात्व वह परिणाम है, जो मिथ्यामोहनीय कर्म के उदय से होता है जिसके होने से जीव, जड़-चेतन का भेद नहीं जान पाता; इसी से आत्मोन्मुख प्रवृत्तिवाला भी नहीं हो सकता है। हठ, कदाग्रह आदि दोष इसके फल हैं।

[१३]—संज्ञीमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

(१) विशिष्ट मनःशक्ति अर्थात् दीर्घकालिकी संज्ञा का होना 'संज्ञित्व' है।

(२) उक्त संज्ञा का न होना 'असंज्ञित्व' है ॥१३॥

---

(१)—यद्यपि प्राणीमात्र को किसी न किसी प्रकार की संज्ञा होती ही है; क्योंकि उसके बिना जीवत्व ही असम्भव है, तथापि शास्त्र में जो संज्ञी-असंज्ञी का भेद किया गया है, सो दीर्घकालिकी संज्ञा के आधार पर। इसके लिये देखिये, परिशिष्ट 'ग।'

# [१]—मार्गणाओं में जीवस्थान।

[पाँच गाथाओं से]

**आहारेयर भेया, सुरनरग्यविभगमइसुओहिदुगे।**
**सम्मत्ततिगे पम्हा,—सुक्कासन्नीसु सन्निदुगं ॥१४॥**

आहारेतरौ भेदास्सुरनरकविभङ्गमतिश्रुतावधिद्विके।
सम्यक्त्वत्रिके पद्माशुक्लासंज्ञिषु संज्ञिद्विकम् ॥१४॥

अर्थ—आहारकमार्गणा के आहारक और अनाहारक, ये दो भेद हैं। देवगति, नरकगति, विभङ्गज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अवधिदर्शन, तीन सम्यक्त्व (औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक), दो लेश्याएँ (पद्मा और शुक्ला और संज्ञित्व, इन तेरह मार्गणाओं में अपर्याप्त संज्ञी और पर्याप्त संज्ञी, ये दो जीवस्थान होते हैं ॥१४॥

(१४)—आहारकमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

भावार्थ— १) जो जीव, ओज, लोम और केवल, इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को करता है, वह 'आहारक' है।

(२) उक्त तीन तरह के आहार में से किसी भी प्रकार के आहार को जो जीव ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है।

देवगति और नरकगति में वर्तमान कोई भी जीव, असंज्ञी नहीं होता। चाहे अपर्याप्त हो या पर्याप्त, पर होते हैं सभी संज्ञी ही। इसी से इन दो गतियों में दो ही जीवस्थान माने गये हैं।

विभङ्गज्ञान को पाने की योग्यता किसी असंज्ञी में नहीं होती अतः उसमें भी अपर्याप्त--पर्याप्त संज्ञी ये दो ही जीवस्थान माने गये हैं[२]।

---

१—यह विषय पञ्चसंग्रह गाथा २२ से २७ तक में है।

२—यद्यपि पञ्चसंग्रह द्वार १गाथा २७वीं में यह उल्लेख है कि विभङ्गज्ञान में संज्ञी - पर्याप्त एक ही जीवस्थान है,

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधि-द्विक, औपशमिक आदि उक्त तीन सम्यक्त्व और पद्म-शुक्ल-लेश्या, इन नौ मार्गणाओं में दो संज्ञी जीव-स्थान माने गये हैं। इसका कारण यह है कि किसी असंज्ञी में सम्य-क्त्व का सम्भव नहीं है और सम्यक्त्व के सिवाय मति-श्रुत-ज्ञान आदि का होना ही असम्भव है इस प्रकार संज्ञी के सिवाय दूसरे जीवों में पद्म या शुक्ल-लेश्या के योग्य परिणाम नहीं हो सकते। अपर्याप्त-अवस्था में मति-श्रुत ज्ञान और अवधि-द्विक इसलिये माने जाते हैं कि कोई-कोई जीव तीन ज्ञान सहित जन्म ग्रहण करते हैं। जो जीव, आयु बाँधने के बाद क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह बंधी हुई आयु के अनुसार चार गतियों में से किसी भी गति में जाता है। इसी अपेक्षा से अपर्याप्त-अवस्था में क्षायिकसम्यक्त्व, माना जाता है। उस अवस्था में क्षायोपशमिकसम्यक्त्व मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थङ्कर आदि, जब देव आदि गति से निकल कर मनुष्य-जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व सहित होते हैं। औपशमिकसम्यक्त्व के विषय में यह जानना चाहिये कि आयु के पूरे हो जाने से जब कोई औपशमिकसम्यक्त्वी ग्यारहवें गुणस्थान से

---

तथापि उसके साथ इस कर्म ग्रन्थ का कोई विरोध नहीं; क्योंकि मूल पञ्च-संग्रह में विभङ्ग ज्ञान में एक ही जीवस्थान कहा है, सो अपेक्षा-विशेष से। अतः अन्य अपेक्षा से विभङ्गज्ञान में दो जीवस्थान भी उसे इष्ट हैं। इस बात का खुलासा श्रीमलयगिरिसूरि ने उक्त २७वीं गाथा की टीका में स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं कि "संज्ञि-पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य को अपर्याप्त-अवस्था में विभङ्गज्ञान उत्पन्न नहीं होता। तथा जो असंज्ञी जीव मरकर रत्नप्रभानरक में नारक का जन्म लेते हैं, उन्हें भी अपर्याप्त-अवस्था में विभङ्गज्ञान नहीं होता। इस अपेक्षा से विभङ्गज्ञान में एक (पर्याप्त संज्ञिरूप) जीवस्थान कहा गया है। सामान्य-दृष्टि से उसमें दो जीवस्थान ही समझने चाहिये। क्योंकि जो संज्ञी जीव, मरकर देव या नारक रूप से पैदा होते हैं, उन्हें अपर्याप्त अवस्था में भी विभङ्ग-ज्ञान होता है।

च्युत होकर अनुत्तरविमान में पैदा होता है, तब अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व पाया जाता है[1]।

१—यह मन्तव्य "सप्ततिका" नामक छठे कर्मग्रन्थ की चूर्णी और पञ्चसंग्रह के मतानुसार समझना चाहिये। चूर्णी में अपर्याप्त-अवस्था के समय नारकों में क्षायोपशमिक और क्षायिक ये दो; पर देवों में औपशमिकसहित तीन सम्यक्त्व माने हैं। पञ्चसंग्रह में भी द्वार १ गा० २५वीं तथा उसकी टीका में उक्त चूर्णी के मत की ही पुष्टि की गई है। गोम्मटसार भी इसी मत के पक्ष में है; क्योंकि वह द्वितीय—उपमश्रेणी--भावी—उपशमसम्यक्त्व को अपर्याप्त अवस्था के जीवों को मानता है। इसके लिये देखिये, जीवकाण्ड की गा० ७२९वीं।

परन्तु कोई आचार्य यह मानते हैं कि 'अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व नहीं होता। इससे केवल पर्याय संज्ञी जीवस्थान मानना चाहिये।' इस मत के समर्थन में वे कहते हैं कि 'अपर्याप्त-अवस्था में योग्य (विशुद्ध) अध्यवसाय न होने से औपशमिकसम्यक्त्व नया तो उत्पन्न ही नहीं हो सकता। रहा पूर्व-भव में प्राप्त किया हुआ, तो उसका भी अपर्याप्त-अवस्था तक रहना शास्त्र-सम्मत नहीं है; क्योंकि औपशमिकसम्यक्त्व दो प्रकार का है। एक तो वह, जो अनादि मिथ्यात्वी को पहले-पहल होता है। दूसरा वह, जो उपशमश्रेणि के समय होता है। इसमें पहले प्रकार के सम्यक्त्व के सहित तो जीव मरता ही नहीं। उसका प्रमाण आगम में इस प्रकार है:—

"अणबंधोदयमाउग, बंधं कालं च सासणो कुणई॥
उवसमसम्मद्दिट्ठी, चउण्हमिक्कं पि नो कुणई॥"

अर्थात् "अनन्तानुबन्धी का बन्ध, उसका उदय, आयु का बन्ध और मरण, ये चार कार्य दूसरे गुणस्थान में होते हैं, पर इनमें से एक भी कार्य औपशमिकसम्यक्त्व में नहीं होता।"

दूसरे प्रकार के औपशमिकसम्यक्त्व के विषय में यह नियम है कि उसमें वर्तमान जीव मरता तो है, पर जन्म ग्रहण करते ही सम्यक्त्वमोहनीय का उदय होने से वह औपशमिकसम्यक्त्वी न रहकर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी बन जाता है। यह बात शतक। (पाँचवें कर्मग्रन्थ) की बृहच्चूर्णी में लिखी है।

संज्ञिमार्गणा में दो संज्ञि-जीवस्थान के सिवाय अन्य किसी जीवस्थान का सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य सब जीवस्थान असंज्ञी ही हैं।

देवगति आदि उपर्युक्त मार्गणाओं में अपर्याप्त संज्ञी का मतलब करण-अपर्याप्त से है, लब्धि-अपर्याप्त से नहीं। इसका कारण यह है कि देवगति और नरक गति में लब्धि-अपर्याप्त रूप से कोई जीव पैदा नहीं होते और न लब्धि-अपर्याप्त को मति आदि ज्ञान, पद्म आदि लेश्या तथा सम्यक्त्व होता है ॥१४॥

**तमसंनिअपज्जजुअं,—नरे सबायरअपज्ज तेऊए।**
**थावर इगिदि पढमा,—चउ बार असन्नि दु दुविगले ॥१५॥**

तदसंज्ञ्यपर्याप्तयुतं, नरे सबादरायपर्याप्तं तेजसि।
स्थावर एकेन्द्रिये, प्रथमानि, चत्वारि द्वादशसंज्ञिनि द्वे द्वे विकले ॥१५॥

---

'जो उवसमसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढमसमये चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलिआए, छोडूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ।"

अर्थात् "जो उपशमसम्यग्दृष्टि, उपशमश्रेणि में मरता है, वह मरण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्वमोहनीय-पुञ्जको उदयवलिका में उसे लाकर उसे वेदता है; इससे अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व पाया नहीं जा सकता।"

इस प्रकार अपर्याप्त- अवस्था में किसी तरह के औपशमिकसम्यक्त्व का सम्भव न होने से उन आचार्यों के मत से सम्यक्त्व में केवल पर्याप्त संज्ञी जीव स्थान ही माना जाता है।

इस प्रसङ्ग में श्रीजीवविजय जी ने अपने टबेमें ग्रन्थ के नाम का उल्लेख किये बिना ही उसकी गाथा को उद्धृत करके लिखा है कि औपशमिकसम्यक्त्वी ग्यारहवें गुणस्थान से गिरता है सही पर उसमें मरता नहीं। मरनेवाला क्षायिकसम्यक्तवी ही होता है। गाथा इस प्रकार है:—

'उवसमसेढिं पत्ता, मरंति उवसमगुणेसु जे सत्ता ॥
ते लवसत्तम देवा, सव्वट्ठे खयसमत्तजुआ ॥"

अर्थ—मनुष्य गति में पूर्वोक्त संज्ञि-द्विक (अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञी) और अपर्याप्त असंज्ञी, ये तीन जीवस्थान हैं। तेजोलेश्या में बादर अपर्याप्त और संज्ञी-द्विक, ये तीन जीवस्थान हैं। पाँच स्थावर और एकेन्द्रिय में पहले चार (अपर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त सूक्ष्म, अपर्याप्त बादर और पर्याप्त बादर) जीवस्थान हैं। असंज्ञि मार्गणा में संज्ञि-द्विकके सिवाय पहले बारह जीवस्थान हैं। विकलेन्द्रिय में दो-दो अपर्याप्त तथा पर्याप्त जीवस्थान हैं ॥१५॥

भावार्थ मनुष्य दो प्रकार के हैं:—गर्भज और सम्मूर्च्छिम। गर्भज सभी संज्ञी ही होते हैं, वे अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकार के पाये जाते हैं। पर संमर्च्छिम मनुष्य, जो ढाई द्वीप-समुद्र में गर्भज मनुष्य के मल-मूत्र, शुक्र-शोणित आदि में पैदा होते हैं, उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण ही होती है। वे स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, इसी से उन्हें लब्धि-अपर्याप्त ही माना है, तथा वे असंज्ञी ही माने गये हैं[1]। इसलिये सामान्य मनुष्य गति में उपर्युक्त तीन ही जीवस्थान पाये जाते हैं।

---

उसका मतलब यह है कि 'जो जीव उपशमश्रेणी को पाकर ग्यारहवें गुणस्थान में मरते हैं, वे सर्वार्थसिद्धविमान में क्षायिकसम्यक्त्व-युक्त ही पैदा होते हैं और 'लवसत्तम देव' कहलाते हैं।" लवसप्तम कहलाने का सबब यह है कि सात लव-प्रमाण आयु कम होने से उनको देव का जन्म ग्रहण करना पड़ता है। यदि उनकी आयु और भी अधिक होती तो देव हुए बिना उसी जन्म में मोक्ष होता।

१—जैसे, भगवान् श्यामाचार्य प्रज्ञापना पृ० ५९ में वर्णन करते हैं:—

"कहिणं भंते संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति ? गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पनाए अंतरदीवेसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा सुक्केसु वा सोणिएसु वा सुक्कपुग्गपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइठाणेसु इच्छणं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति अंगुलस्स असंखभागमित्ताए ओगाहणाए असन्नी मिच्छद्दिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्ता अंतमुहुत्ताउया चेव कालं करंति त्ति।"

तेजोलेश्या, पर्याप्त तथा अपर्याप्त, दोनों प्रकार के संज्ञियों में पायी जाती है तथा वह बादर एकेन्द्रिय में भी अपर्याप्त-अवस्था में होती है, इसी से उस लेश्या में उपर्युक्त तीन जीवस्थान माने हुये हैं। बादर एकेन्द्रिय को अपर्याप्त-अवस्था में तेजोलेश्या मानी जाती है, सो इस अपेक्षा से कि भवनपति, व्यन्तर[1] आदि देव, जिनमें तेजोलेश्या का सम्भव है वे जब तेजोलेश्यासहित मरकर पृथिवी, पानी या वनस्पति में जन्म ग्रहण[2] करते हैं, तब उनको अपर्याप्त (करण-अपर्याप्त-) अवस्था में कुछ काल तक तेजोलेश्या रहती है।

पहले चार जीवस्थान के सिवाय अन्य किसी जीवस्थान में एकेन्द्रिय तथा स्थावरकायिक जीव नहीं हैं। इसी से एकेन्द्रिय और पाँच स्थावरकाय, इन छह मार्गणाओं में पहले चार जीवस्थान माने गये हैं।

---

इसका सार संक्षेप में इस प्रकार है:—'प्रश्न करने पर भगवान् महावीर, गणधर और गौतम से कहते हैं कि पैंतालिस लाख योजन-प्रमाण मनुष्य-क्षेत्र के भीतर ढाई द्वीप-समुद्र में पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर्द्वीपों में गर्भज-मनुष्यों के मल, मूत्र, कफ आदि सभी अशुचि-पदार्थों में संमूर्च्छिम पैदा होते हैं, जिनका देह-परिणाम अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर है, जो असंयती, मिथ्यात्वी तथा अज्ञानी होते हैं और जो अपर्याप्त ही है तथा अन्तर्मुहूर्त्त-मात्र में मर जाते हैं।

१—"किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणवंतरिया।
जोइससोहम्मीसा,—ण तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥१६३॥"

—बृहत्संग्रहणी।

अर्थात् "भवनपति और व्यन्तर में कृष्ण आदि चार लेश्याएँ होती हैं; किन्तु ज्योतिष और सौधर्म-ईशान देवलोक में तेजोलेश्या ही होती है।"

२—"पुढवी आउवणस्सइ, गब्भे पज्जत्त संखजीवेसु।
सग्गचुयाणं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा॥"

—विशेषावश्यक भाष्य।

अर्थात् "पृथ्वी, जल, वनस्पति और संख्यात-वर्ष-आयु वाले गर्भज-पर्याप्त, इन स्थानों ही में स्वर्ग-च्युत देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानों में नहीं।"

चौदह जीवस्थानों में से दो ही जीवस्थान संज्ञी हैं। इसी कारण असंज्ञिमार्गणा में बारह जीवस्थान समझना चाहिये।

प्रत्येक विकलेन्द्रिय में अपर्याप्त तथा पर्याप्त दो-दो जीवस्थान पाये जाते हैं, इसी से विकलेन्द्रियमार्गणा में दो-ही दो जीवस्थान माने गये हैं ॥१५॥

**दस चरम तसे अजया,-हारगतिरितणुकसायदुअनाणे।**
**पढमतिलेसाभवियर,-अचक्खुनपुमिच्छि सव्वे वि ॥१६॥**

दश चरमाणि त्रसेऽयताहारकतिर्यक्तनुकषायद्व्यज्ञाने।
प्रथमत्रिलेश्याभव्येतराऽचक्षुर्नपुंमिथ्यात्वे सर्वाण्यपि ॥ १६ ॥

अर्थ—त्रसकाय में अन्तिम दस जीवस्थान हैं। अविरति, आहारक, तिर्यञ्चगति, काययोग, चार कषाय, मति-श्रुत दो अज्ञान, कृष्ण आदि पहली तीन लेश्याएँ, भव्यत्व, अभव्यत्व, अचक्षुर्दर्शन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व, इन अठारह मार्गणाओं में सभी (चौदह) जीवस्थान पाये जाते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—चौदह में से अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त और पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय, इन चार के सिवाय शेष दस जीवस्थान त्रसकाय में हैं; क्योंकि उन दस में ही त्रसनामकर्म का उदय होता है और इससे वे ही स्वतन्त्रतापूर्वक चल-फिर सकते हैं।

अविरति आदि उपर्युक्त अठारह मार्गणाओं में सभी जीवस्थान इसलिये माने जाते हैं कि सब प्रकार के जीवों में इन मार्गणाओं का सम्भव[1] है।

मिथ्यात्व में सब जीवस्थान कहे हैं। अर्थात् सब जीवस्थानों में सामान्यतः मिथ्यात्व कहा है; किन्तु पहले बारह जीवस्थानों में अनाभोग मिथ्यात्व समझना चाहिये; क्योंकि उनमें अनाभोग-जन्य (अज्ञान-जन्य) अतत्त्व-रुचि है। पञ्चसंग्रह में 'अनभिग्रहिक-मिथ्यात्व'

१—देखिये, परिशिष्ट 'ट'।

उन जीवस्थानों में लिखा है, सो अन्य अपेक्षा से। अर्थात् देव-गुरु-धर्म-का स्वीकार न होने के कारण उन जीवस्थानों का मिथ्यात्व 'अनभिग्रहिक' भी कहा जा सकता है ॥१६॥

**पजसन्नी केवलदुग,-संजयमणनाणदेसमणमीसे ।**
**पण चरमपज्ज वयणे, तिय छ व पज्जियर चक्खुंमि ॥१७॥**

पर्याप्तसंज्ञी केवलद्विक-संयतमनोज्ञानदेशमनोमिश्रे ।
पञ्च चरमपर्याप्तानि वचने, त्रीणि षड् वा पर्याप्तेतराणि चक्षुषि ॥१७॥

अर्थ—केवल-द्विक (केवलज्ञान-केवलदर्शन) सामायिक आदि पाँच संयम, मनःपर्यायज्ञान, देशविरति, मनोयोग और मिश्रसम्यक्त्व, इन ग्यारह मार्गणाओं में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान है। वचनयोग में अन्तिम पाँच (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) पर्याप्त जीवस्थान हैं। चक्षुर्दर्शन में पर्याप्त तीन (चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) जीवस्थान हैं या मतान्तर से पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के उक्त तीन अर्थात् कुल छह जीवस्थान हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—केवल-द्विक आदि उपर्युक्त ग्यारह मार्गणाओं में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना जाता है। इसका कारण यह है कि पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में न सर्वविरति का और न देशविरतिका संभव है। अत एव संज्ञि-भिन्न जीवों में केवल-द्विक, पाँच संयम, देशविरति और मनःपर्यायज्ञान, जिनका सम्बन्ध विरति-से है, वे हो ही नहीं सकते। इसी तरह पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य जीवों में तथाविध-द्रव्यमन का सम्बन्ध न होने के कारण मनोयोग नहीं होता और मिश्रसम्यक्त्व की योग्यता भी नहीं होती।

एकेन्द्रिय में भाषापर्याप्ति नहीं होती। भाषापर्याप्ति के सिवाय वचनयोग का होना संभव नहीं। द्वीन्द्रिय आदि जीवों में भाषापर्याप्ति का संभव है। वे जब सम्पूर्ण स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं, तभी उनमें भाषापर्याप्ति के हो जाने से वचनयोग हो सकता है। इसी से

वचनयोग में पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि उपर्युक्त पांच जीवस्थान माने हुये है।

आँखवालों को ही चक्षुर्दर्शन हो सकता है। चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन तीन प्रकार के ही जीवों को आँखें होती हैं। इसी से इनके सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में चक्षुर्दर्शन का अभाव है। उक्त तीन प्रकार के जीवों के विषय में भी दो मत[1] हैं।

---

१—इन्द्रियपर्याप्ति की नीचे-लिखी दो व्याख्यायें, इन मतों की जड़ हैं:—

(क) "इन्द्रियपर्याप्ति जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा धातुरूप में परिणत आहार-पुद्गलों में से योग्य पुद्गल, इन्द्रियरूप में परिणत किये जाते हैं।"

यह व्याख्या, प्रज्ञापना-वृत्ति तथा पञ्चसंग्रह वृत्ति पृ० ६ में है। इस व्याख्या के अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति का मतलब, इन्द्रिय-जनक शक्ति से है। इस व्याख्या को मानने वाले पहले मत का आशय यह है कि स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकने के बाद (पर्याप्त-अवस्था में) सबको इन्द्रियजन्य उपयोग होता है, अपर्याप्त-अवस्था में नहीं। इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन चुकने के बाद, नेत्र होने पर भी अपर्याप्त-अवस्था में चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षुर्दर्शन नहीं माना जाता।

(ख)—"इन्द्रियपर्याप्ति जीव की वह शक्ति है, जिसके द्वारा योग्य आहार पुद्गलों को इन्द्रिय रूप में परिणत करके इन्द्रिय-जन्य बोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है"

यह व्याख्या बृहत्संग्रहणी पृ० १३८ तथा भगवती-वृत्ति पृ० २५१ में है। इसके अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति का मतलब, इन्द्रिय-रचना से लेकर, इन्द्रिय-जन्य उपयोग तक की सब क्रियाओं को करने वाली शक्ति से है। इस व्याख्या को मानने वाले दूसरे मत के अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जाने से अपर्याप्त-अवस्था में भी सबको इन्द्रिय-जन्य उपयोग होता है। इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति बन जाने के बाद नेत्र-जन्य उपयोग होने के कारण अपर्याप्त-अवस्था में भी चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षुर्दर्शन मानना चाहिये। इस मत की पुष्टि, पञ्चसंग्रह-मलयगिरि-वृत्ति के ८ पृष्ठ पर उल्लिखित इस मन्तव्य से होती है:—

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



पहले मत के अनुसार उनमें स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने के बाद ही चक्षुर्दर्शन माना जाता है। दूसरे मत के अनुसार स्वभोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के पहले भी—अपर्याप्त-अवस्था में भी—चक्षुर्दर्शन माना जाता है; किन्तु इसके लिये इन्द्रियपर्याप्ति का पूर्ण बन जाना आवश्यक है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति न बन जाय तब तक आँख के पूर्ण न बनने से चक्षुदर्शन हो ही नहीं सकता। इस दूसरे मत के अनुसार चक्षुर्दर्शन में छह जीवस्थान माने हुए हैं और पहले मत के अनुसार तीन जीवस्थान ।। १७ ।।

थीनरपणिंदि चरमा, चउ अणहारेदु संनि छ अपज्जा।
ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणिइत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

स्त्रीनरपञ्चेन्द्रिये चरमाणि, चत्वार्यनाहारके द्वौ साञ्ज्ञनो षडपर्याप्ताः।
ते सूक्ष्मापर्याप्त विना, सासादन इतो गुणान् वक्ष्ये ॥ १८ ॥

अर्थ—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और पञ्चेन्द्रियजाति में अन्तिम चार (अपर्याप्त तथा पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) जीवस्थान हैं। अनाहारकमार्गणा में अपर्याप्त-पर्याप्त दो संज्ञी और सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, बादर-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये छह अपर्याप्त, कुल आठ जीवस्थान हैं। सासादनसम्यक्त्व में उक्त आठ में से सूक्ष्म-अपर्याप्त को छोड़कर शेष सात जीवस्थान हैं।

अब आगे गुणस्थान कहे जायेंगे ॥ १८ ॥

भावार्थ—स्त्रीवेद आदि उपर्युक्त तीन मार्गणाओं में अपर्याप्त

---

"करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते ॥"

इन्द्रियपर्याप्ति की उक्त दोनों व्याख्याओं का उल्लेख, लोक प्र० स० ३ श्लोक २०–२१ में है।

असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय आदि चार जीवस्थान कहे हुए हैं। इसमें अपर्याप्त-का मतलब करण-अपर्याप्त से है, लब्धि-अपर्याप्त से नहीं; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त को द्रव्यवेद, नपुंसक ही होता है।

असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय को यहाँ स्त्री और पुरुष, ये दो वेद माने हैं और सिद्धान्त[1] में नपुंसक; तथापि इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि यहाँ-का कथन द्रव्यवेद की[2] अपेक्षा से और सिद्धान्त का कथन भाववेद की अपेक्षा से है। भावनपुंसकवेद वाले को स्त्री या पुरुष के भी चिन्ह होते हैं।

अनाहारकमार्गणा में जो आठ जीवस्थान ऊपर कहे हुए हैं, इनमें सात अपर्याप्त हैं और एक पर्याप्त। सब प्रकार के अपर्याप्त जीव, अनाहारक[3] उस समय होते हैं, जिस समय वे विग्रहगति (वक्रगति) में एक, दो या तीन समय तक आहार ग्रहण नहीं करते। पर्याप्त संज्ञी को अनाहारक इस अपेक्षा से माना है कि केवलज्ञानी, द्रव्यमन के संबन्ध से संज्ञी कहलाते हैं और वे केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मणकाययोगी होने के कारण किसी प्रकार के आहारको ग्रहण नहीं करते।

---

१—"तेणं भंते असंनिपञ्चेन्दिय तिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा पुरिसवेयगा नपुंसकवेयगा ? गोयमा ! नो इत्थिवेयग नो पुरिसवे-यगा नपुंसकवेयगा।" —भगवती।

२—"यद्यपि चासंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुंसकौ तथापि स्त्रीपुंसलि-ङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीपुंसावुक्ताविति।"

—पञ्चसंग्रह द्वार १, गा० २४ की मूल टीका।

३—देखिये, परिशिष्ट 'ठ।'

सासादनसम्यक्त्व में सात जीवस्थान कहे हैं, जिनमें से छह अपर्याप्त हैं और एक पर्याप्त। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय को छोड़कर अन्य छह प्रकार के अपर्याप्त जीवस्थानों में सासादनसम्यक्त्व इसलिये माना जाता है कि जब कोई औपशमिकसम्यक्त्व वाला जीव, उस सम्यक्त्व-को छोड़ता हुआ बादर-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय या संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में जन्म ग्रहण करता है, तब उसको अपर्याप्त-अवस्था में सासादनसम्यक्त्व पाया जाता है; परन्तु कोई जीव औपशमिकसम्यक्त्व को वमन करता हुआ सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-में पैदा नहीं होता, इसलिये उसमें अपर्याप्त-अवस्था में सासादन-सम्यक्त्व का संभव नहीं है। संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव, पर्याप्त-अवस्था में सासादनसम्क्त्वी नहीं होता; क्योंकि इस अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व पाने वाले संज्ञी ही होते हैं, दूसरे नहीं ॥ १८ ॥

# (२)—मार्गणाओं में गुणस्थान ।

[ पाँच गाथाओं से । ]

**पणतिरि चउ सुरनरए, नरसंनिपणिंदिभव्वतसि सव्वे ।**
**इगविगलभूदगवणे, दु दु एगं गइतसअभव्वे ॥ १९ ॥**

पञ्च तिरश्चि चत्वारि सुरनर के, नरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियभव्यत्रस सर्वाणि ।
एकविकलभूदकवने द्वे द्वे एक गतित्रसाभव्ये ॥ १९ ॥

अर्थ—तिर्यञ्चगति में पाँच गुणस्थान हैं । देव तथा नरकगति में चार गुणस्थान हैं । मनुष्यगति, संज्ञी, पञ्चेन्द्रियजाति, भव्य और त्रसकाय, इन पाँच मार्गणाओं में सब गुणस्थान हैं । एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान हैं । गतित्रस (तेजःकाय और वायुकाय) और अभव्य में एक ( पहला ) ही गुणस्थान है ॥ १९ ॥

भावार्थ—तिर्यञ्चगति में पहले पाँच गुणस्थान हैं; क्योंकि उसमें जाति-स्वभाव से सर्वविरतिका संभव नहीं होता और सर्वविरति के सिवाय छठे आदि गुणस्थानों का संभव नहीं है ।

देवगति और नरकगति में पहले चार गुणस्थान माने जाने का सबब यह है कि देव या नारक, स्वभाव से ही विरतिरहित होते हैं और विरति के बिना अन्य गुणस्थानों का संभव नहीं है ।

मनुष्यगति आदि उपर्युक्त पाँच मार्गणाओं में हर प्रकार के परिणामों के संभव होने के कारण सब गुणस्थान पाये जाते हैं ।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में दो गुणस्थान कहे हैं । इनमें से दूसरा गुणस्थान अपर्याप्त-अवस्था में ही होता है । एकेन्द्रिय आदि की आयु का बन्ध हो जाने के

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी म



बाद जब किसी को औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब वह उसे त्याग करता हुआ सासादनसम्यक्त्वसहित एकेन्द्रिय आदि में जन्म ग्रहण करता है। उस समय अपर्याप्त-अवस्था में कुछ काल तक दूसरा गुणस्थान पाया जाता है। पहला गुणस्थान तो एकेन्द्रिय आदि के लिये सामान्य है। क्योंकि वे सब अनाभोग (अज्ञान-) के कारण तत्त्व-श्रद्धा-हीन होने से मिथ्यात्वी होते हैं। जो अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थान के अधिकारी कह गये हैं, वे करण-अपर्याप्त हैं, लब्धि-अपर्याप्त नहीं; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त तो सभी जीव, मिथ्यात्वी ही होते हैं।

तेजःकाय और वायुकाय, जो गतित्रस या लब्धित्रस कहे जाते हैं, उनमें न तो औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है और न औपशमिकसम्यक्त्व को वमन करने वाला जीव ही उनमें जन्म ग्रहण करता है; इसीसे उनमें पहला ही गुणस्थान कहा गया है।

अभव्यों में सिर्फ प्रथम गुणस्थान, इस कारण माना जाता है कि वे स्वभाव से ही सम्यक्त्व-लाभ नहीं कर सकते और सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना दूसरे आदि गुणस्थान असम्भव हैं ॥१९॥

**वेयतिकसाय नव दस, लोभेचउ अजय दुति अनाणतिगे।**
**बारस अचक्खु चक्खुसु, पढमा अहखाइ चरम चउ ॥२०॥**

वेदत्रिकषाये नव दश, लोभे चत्वार्ययते द्वे त्राण्यज्ञानत्रिके।
द्वादशाचक्षुश्चेक्षुषोः, प्रथमानि यथाख्याते चरमाणि चत्वारि ॥२०॥

अर्थ—तीन वेद तथा तीन कषाय (संज्वलन-क्रोध, मान और माया-) में पहले नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। लोभ में (संज्वलन-लोभ-) में दस गुणस्थान होते हैं। अयत (अविरति-) में चार गुणस्थान हैं। तीन अज्ञान (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान-) में पहले दो या तीन गु० थस्न माने जाते हैं। अचक्षुर्दर्शन और चक्षु-

दर्शन में पहले बारह गुणस्थान होते हैं। यथाख्यातचारित्र में अन्तिम चार गुण स्थान हैं ॥२०॥

भावार्थ—तीन वेद और तीन संज्वलन-कषाय में नौ गुणस्थान कहे गये है, सो उदय की अपेक्षा से समझना चाहिये; क्योंकि उनकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त पाई जा सकती है। नववें गुणस्थान के अन्तिम समय तक में तीन वेद और तीन सञ्ज्वलनकषाय या तो क्षीण हो जाते हैं या उपशान्त; इस कारण आगे के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं रहता।

सञ्ज्वलन लोभ में दस गुणस्थान उदय की अपेक्षा से ही समझने चाहिये; क्योंकि सत्ता तो उसकी ग्यारहवें गुणस्थान तक पायी जा सकती है।

अविरति में पहले चार गुणस्थान इसलिये कहे हुए हैं कि पाँचवे से लेकर आगे के सब गुणस्थान विरतिरुप हैं।

अज्ञान-त्रिकमें गुणस्थानों की संख्या के विषय में दो मत[1] हैं। पहला उसमें दो गुणस्थान मानता है और दूसरा तीन गुणस्थान। ये दोनों मत कार्मग्रन्थिक हैं।

(१) दो गुणस्थान माननेवाले आचार्य का अभिप्राय यह है कि कि तीसरे गुणस्थान के समय शुद्ध सम्यक्त्व न होने के कारण पूर्ण यथार्थ ज्ञान भले ही न हो, पर उस गुणस्थान में मिश्र-दृष्टि होने से यथार्थ ज्ञान की थोड़ी-बहुत मात्रा[2] रहती ही है। क्योंकि मिश्र

---

१—इनमें से पहला मत ही गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ६८६वीं गाथा में उल्लिखित है।

२—'मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्यं सम्यक्त्वाधिकस्य पुनः सम्यग्ज्ञानबाहुल्यमिति।"

अर्थात्—"मिथ्यात्व अधिक होने पर मिश्र-दृष्टि में अज्ञान की बहुलता और सम्यक्त्व अधिक होने पर ज्ञान की बहुलता होती है।"

दृष्टि के समय मिथ्यात्व का उदय जब अधिक प्रमाण में रहता है, तब तो अज्ञान का अंश अधिक और ज्ञान का अंश कम होता है। पर जब मिथ्यात्व का उदय मन्द और सम्यक्त्व-पुद्गल का उदय तीव्र रहता है, तब ज्ञान की मात्रा ज्यादा और अज्ञान की मात्रा कम होती है। चाहे मिश्र-दृष्टि की कैसी भी अवस्था हो, पर उसमें न्यून-अधिक प्रमाण में ज्ञान की मात्रा का संभव होने के कारण उस समय के ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानना उचित है। इसलिये अज्ञान-त्रिक में दो ही गुणस्थान मानने चाहिये।

(२) तीन गुणस्थान मानने वाले आचार्य का आशय यह है कि यद्यपि तीसरे गुणस्थान के समय अज्ञान को ज्ञान-मिश्रित कहा[1] है तथापि मिश्र-ज्ञान को ज्ञान मानना उचित नहीं; उसे अज्ञान ही कहना चाहिये। क्योंकि शुद्ध सम्यक्त्व हुए बिना चाहे कैसा भी ज्ञान हो, पर वह है अज्ञान। यदि सम्यक्त्व के अंश के कारण तीसरे गुणस्थान में ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मान लिया जाय तो दूसरे गुणस्थान में भी सम्यक्त्व का अंश होने के कारण ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानना पड़ेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इष्ट न होने का सबब यही है कि अज्ञान-त्रिकमें दो गुणस्थान मानने वाले भी, दूसरे गुणस्थान में मति आदि को अज्ञान मानते हैं। सिद्धान्त वादी के सिवाय किसी भी कार्मग्रन्थिक विद्वान् को दूसरे गुणस्थान में मति आदि को ज्ञान मानना इष्ट नहीं है। इस कारण सासादन की तरह मिश्रगुणस्थान में भी मति आदि को अज्ञान मानकर अज्ञान-त्रिकमें तीन गुणस्थान मानना युक्त है।

अचक्षुर्दर्शन तथा चक्षुर्दर्शन में बारह गुणस्थान इस अभिप्राय से

---

१—'मिस्संमि वा मिस्सा" इत्यादि।
अर्थात् "मिश्रगुणस्थान में अज्ञान, ज्ञान-मिश्रित है।"

माने जाते हैं कि उक्त दोनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं; इससे क्षायिक-दर्शन के समय अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में उनका अभाव हो जाता है; क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का साहचर्य नहीं रहता।

यथाख्यात चारित्र में अन्तिम चार गुणस्थान माने जाने का अभिप्राय यह है कि यथाख्यात चारित्र, मोहनीय कर्म का उदय रुक जाने पर प्राप्त होता है और मोहनीय कर्म का उदयाभाव ग्यारहवें से चौदहवें तक चार गुणस्थानों में रहता है ॥२०॥

मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलदुगि दो चरमा जयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥२१॥

मनोज्ञाने सप्त यतादीनि, सामायिकच्छेदे चत्वारि द्वे परिहारे।
केवलद्विके द्वे चरमेऽयतादीनि नव मतिश्रुतावधिद्विके ॥२१॥

अर्थ—मनः पर्यायज्ञान में प्रमत्तसंयत आदि सात गुणस्थान; सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय-संयम में प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान; परिहारविशुद्धसंयम में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान; केवल-द्विकमें अन्तिम दो गुणस्थान; मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-द्विक, इन चार मार्गणाओं में अविरतसम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान हैं ॥२१॥

भावार्थ—मन पर्यायज्ञान वाले, छठे आदि सात गुणस्थानों में वर्तमान पाये जाते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति के समय सातवाँ और प्राप्ति के बाद अन्य गुणस्थान होते हैं।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय, ये दो संयम, छठे आदि चार गुणस्थान में माने जाते हैं; क्योंकि वीतराग-भाव होने के कारण ऊपर के गुणस्थानों में इन सराग-संयमों का संभव नहीं है।

परिहारविशुद्धसंयम में रहकर श्रेणि नहीं की जा सकती; इसलिये उसमें छठा और सातवाँ, ये दो ही गुणस्थान समझने चाहिये।

केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों क्षायिक हैं। क्षायिक-ज्ञान और क्षायिक-दर्शन, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होते हैं, इसी से केवल-द्विक में उक्त दो गुणस्थान माने जाते हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-द्विकवाले, चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थान में वर्तमान होते हैं; क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले अर्थात् पहले तीन गुणस्थानों में मति आदि अज्ञानरूप ही हैं और अन्तिम दो गुणस्थान में क्षायिक-उपयोग होने से इनका अभाव ही हो जाता है।

इस जगह अवधिदर्शन[1] में नव गुणस्थान कहे हुये हैं, सो कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार। कार्मग्रन्थिक विद्वान् पहले तीन गुणस्थानों में अवधिदर्शन नहीं मानते। वे कहते हैं कि विभङ्गज्ञान से अवधिदर्शन की भिन्नता न माननी चाहिये। परन्तु सिद्धान्त के मतानुसार उसमें और भी तीन गुणस्थान गिनने चाहिये। सिद्धान्ती, विभङ्गज्ञान से अवधिदर्शन को जुदा मानकर पहले तीन गुणस्थानों में भी अवधिदर्शन मानते हैं॥ २१॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमे य सठाणं तेर.-स जोग आहार सुक्काए॥ २२॥

अष्टोपशमे चत्वारि वेद के, क्षायिक एकादश मिथ्यात्रिके देशे।
सूक्ष्मे च स्वस्थानं त्रयोदश योगे आहारे शुक्लायाम्॥ २२॥

अर्थ—उपशमसम्यक्त्व में चौथा आदि आठ, वेदक (क्षायोपशमिक-) सम्यक्त्व में चौथा आदि चार और क्षायिकसम्यक्त्व चौथा

१—देखिये, परिशिष्ट 'ड'।

आदि ग्यारह गुणस्थान हैं। मिथ्यात्व-त्रिक (मिथ्यादृष्टि, सास्वादन और मिश्रदृष्टि-) में, देशविरति में तथा सूक्ष्मसम्परायचरित्र में स्व-स्व स्थान ( अपना-अपना एक ही गुणस्थान ) है। योग, आहारक और शुक्ललेश्यामार्गणा में पहले तेरह गुणस्थान हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—उपशमसम्यक्त्व में आठ गुणस्थान माने हैं। इनमें से चौथा आदि चार गुणस्थान, ग्रन्थि-भेद-जन्य प्रथम सम्यक्त्व पाते समय और आठवाँ आदि चार गुणस्थान, उपशमश्रेणी करते समय होते हैं।

वेदकसम्यक्त्व तभी होता है, जब कि सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो। सम्यक्त्वमोहनीय का उदय, श्रेणी का आरम्भ न होने तक ( सातवें गुणस्थान तक ) रहता है। इसी कारण वेदकसम्यक्त्व में चौथे से लेकर चार ही गुणस्थान समझने चाहिये।

चौथे और पाँचवें आदि गुणस्थान में क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, जो सदा के लिये रहता है; इसी से उसमें चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान कहे गये हैं।

पहला ही गुणस्थान मिथ्यात्वरूप, दूसरा ही सास्वादन-भावरूप, तीसरा ही मिश्र-दृष्टिरूप, पाँचवाँ ही देशविरतिरूप और दसवाँ ही सूक्ष्मसम्परायचारित्ररूप है। इसी से मिथ्यात्व-त्रिक, देशविरति और सूक्ष्मसम्पराय में एक-एक गुणस्थान कहा गया है।

तीन प्रकार का योग, आहारक[1] और शुक्ललेश्या, इन छह मार्गणाओं में तेरह गुणस्थान होते हैं; क्योंकि चौदहवें गुणस्थान के समय न तो किसी प्रकार का योग रहता है, न किसी तरह का आहार ग्रहण किया जाता है और न लेश्या का ही सम्भव है।

योग में तेरह गुणस्थानों का कथन मनोयोग आदि सामान्य योगों-

---

१—देखिये, परिशिष्ट 'ढ।'

की अपेक्षा से किया गया है। सत्यमनोयोग आदि विशेष योगों की अपेक्षा से गुणस्थान इस प्रकार हैं—

(क) सत्यमन, असत्यामृषामन, सत्यवचन, असत्यामृषावचन और औदारिक, इन पाँच योगों में तेरह गुणस्थान हैं।

(ख) असत्यमन, मिश्रमन, असत्यवचन, और मिश्रवचन, इन चार में पहले बारह गुणस्थान हैं।

(ग) औदारिकमिश्र तथा कार्मणकाययोग में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ, ये चार गुणस्थान हैं।

(घ) वैक्रियकाययोग मे पहले सात और वैक्रियमिश्रकाययोग में पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवा और छठा, ये पाँच गुणस्थान हैं।

(च) आहारककाययोग में छठा और सातवाँ, ये दो और आहारकमिश्रकाययोग में केवल छठा गुणस्थान है ॥ २२ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विजयसागर जी महाराज

अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त।
पढमंतिदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥

असंज्ञिषु प्रथमद्विकं, प्रथमत्रिलेश्यासु षट् च द्वयोस्सप्त।
प्रथमान्तिमद्विकायतान्यनाहारे मार्गणासु गुणाः ॥ २३ ॥

अर्थ—असंज्ञिओं में पहले दो गुणस्थान पाये जाते हैं। कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओं में पहले छह गुणस्थान और तेजः और पद्म, इन तीन लेश्याओं में पहले सात गुणस्थान है। अनाहारकमार्गणा में पहले दो, अन्तिम दो और अविरतसम्यग्दृष्टि, ये पाँच गुणस्थान हैं। इस प्रकार मार्गणाओं में गुणस्थान का वर्णन हुआ ॥ २३ ॥

भावार्थ—असंज्ञी में दो गुणस्थान कहे हुए हैं। पहला गुणस्थान सब प्रकार के असंज्ञियों को होता है और दूसरा कुछ असंज्ञिओंको ऐसे असंज्ञी, करण-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि ही हैं, क्योंकि

लब्धि-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि में कोई जीव सास्वादन-भावसहित आकर जन्म ग्रहण नहीं करता।

कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओं में छह गुणस्थान माने जाते हैं। इनमें से पहले चार गुणस्थान ऐसे हैं कि जिनकी प्राप्ति के समय और प्राप्ति के बाद भी उक्त तीन लेश्याएँ होती हैं। परन्तु पाँचवाँ और छठा, ये दो गुणस्थान ऐसे नहीं हैं। ये दो गुणस्थान सम्यक्त्व-मूलक विरतिरूप हैं; इसलिये इनकी प्राप्ति तेजः आदि शुभ लेश्याओं के समय होती है; कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओं के समय नहीं। तो भी प्राप्ति हो जाने के बाद परिणाम-शुद्धि कुछ घट जाने पर इन दो गुणस्थानों में अशुभ लेश्याएँ भी आ जाती हैं[1]।

कहीं-कहीं कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं में पहले चार ही गुणस्थान कहे गये हैं, सो प्राप्ति-काल की अपेक्षा से अर्थात् उक्त तीन लेश्याओं के समय पहले चार गुणस्थानों के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तेजोलेश्या और पद्मलेश्या में पहले सात गुणस्थान माने हुए हैं, सो प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न, दोनों की अपेक्षा से अर्थात् सात गुणस्थानों को पाने के समय और पाने के बाद भी उक्त दो लेश्याएँ रहती हैं।

---

१—यही बात श्रीभद्रबाहुस्वामी ने कही है:—

"सम्मत्तसुयं सव्वा,-सु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥८२२॥"

—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० $\frac{3}{4}$८

अर्थात् "सम्यक्त्व की प्राप्ति सब लेश्याओं में होती है, चारित्र की प्राप्ति पिछली तीन शुद्ध लेश्याओं में ही होती है। परन्तु चारित्र प्राप्त होने के बाद छह में से कोई लेश्या आ सकती है।"

२—इसके लिये देखिये, पञ्चसंग्रह, द्वार १, गा० ३० तथा बन्ध-स्वामित्व, गा० २४ और जीवकाण्ड गा० ५३१।

अनाहारकमार्गणा में पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे हुए हैं। इनमें से पहले तीन गुणस्थान विग्रहगति-कालीन अनाहारक-अवस्था की अपेक्षा से, तेरहवाँ गुणस्थान केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में होने वाली अनाहारक-अवस्था की अपेक्षा से। और चौदहवाँ गुणस्थान योग-निरोध-जन्य अनाहारक-अवस्था की अपेक्षा से समझना चाहिये।

कहीं-कहीं यह लिखा हुआ मिलता है कि तीसरे, बारहवें और तेरहवें, इन तीन गुणस्थानों में मरण नहीं होता, शेष ग्यारह गुणस्थानों में इसका संभव है। इसलिये इस जगह यह शङ्का होती है कि जब उक्त शेष ग्यारह गुणस्थानों में मरण का संभव है, तब विग्रहगति में पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन ही गुणस्थान क्यों माने जाते हैं?

इसका समाधान यह है कि मरण के समय उक्त ग्यारह गुणस्थानों के पाये जाने का कथन है, सो व्यावहारिक मरण को लेकर (वर्तमान भवका अन्तिम समय, जिसमें जीव मरणोन्मुख हो जाता है, उसको लेकर), निश्चय मरण को लेकर नहीं। परभव की आयु का प्राथमिक उदय, निश्चय मरण है। उस समय जीव विरति-रहित होता है। विरतिका सम्बन्ध वर्तमान भव के अन्तिम समय तक ही है। इसलिये निश्चय मरण-काल में अर्थात् विग्रहगति में पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान को छोड़कर विरतिवाले पाँचवें आदि आठ गुणस्थानों का संभव ही नहीं है॥ २३॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

# (३)—मार्गणाओं में योग ।

[ छह गाथाओं से । ]

**सच्चयरमीसअस,—च्चमोसमणवइविउव्वियाहारा ।**
**उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥**

सत्येतरमिश्रासत्यमृषमनोवचोवैकुर्विकाहारकाणि ।
औदारिकं मिश्राणि कार्मणमिति योगाः कार्मणमनाहारे ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्य, असत्य, मिश्र (सत्यासत्य) और असत्यामृष, ये चार भेद मनोयोग के हैं। वचनयोग भी उक्त चार प्रकार का ही है। वैक्रिय, आहारक और औदारिक, ये तीन शुद्ध तथा ये ही तीन मिश्र और कार्मण, इस तरह सात भेद काययोग के हैं। सब मिलाकर पन्द्रह योग हुए।

अनाहारक-अवस्था में कार्मणकाययोग ही होता है ॥ २४ ॥

## मनोयोग के भेदों का स्वरूपः—

भावार्थ—( १ ) जिस मनोयोगद्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप विचारा जाय; जैसेः—जीव द्रव्यार्थिकनय से नित्य और पर्यायार्थिकनय से अनित्य है, इत्यादि, वह 'सत्यमनोयोग' है।

( २ ) जिस मनोयोग से वस्तु के स्वरूप का विपरीत चिन्तन हो; जैसेः—जीव एक ही है या नित्य ही है, इत्यादि, वह 'असत्यमनोयोग' है।

( ३ ) किसी अंश में यथार्थ और किसी अंश में अयथार्थ, ऐसा मिश्रित चिन्तन, जिस मनोयोग के द्वारा हो, वह 'मिश्रमनोयोग' है। जैसेः—किसी व्यक्ति में गुण-दोष दोनों के होते हुए भी उसे सिर्फ

दोषी समझना । इसमें एक अंश मिथ्या है; क्योंकि दोष की तरह गुण भी दोष रूप से खयाल किये जाते हैं ।

(४) जिस मनोयोग के द्वारा की जाने वाली कल्पना विधि-निषेध-शून्य हो—जो कल्पना, न तो किसी वस्तु का स्थापन ही करती हो और न उत्थापन, वह 'असत्यामृषामनोयोग' है । जैसे:—हे देवदत्त ! हे इन्द्रदत्त ! इत्यादि । इस कल्पना का अभिप्राय अन्य कार्य में व्यग्र-व्यक्ति को सम्बोधित करना मात्र है, किसी तत्व के स्थापन-उत्थापन का नहीं ।

उक्त चार भेद, व्यवहारनयकी अपेक्षा से हैं; क्योंकि निश्चय-दृष्टि से सबका समावेश सत्य और असत्य, इन दो भेदों में ही हो जाता है । अर्थात् जिस मनोयोग में छल-कपट की बुद्धि नहीं है, चाहे मिश्र हो या असत्यामृष, उसे 'सत्यमनोयोग' ही समझना चाहिये । इसके विपरीत जिस मनोयोग में छल-कपट का अंश है, वह 'असत्यमनोयोग' ही है ।

## वचन योग के भेदों का स्वरूप:—

(१) जिस 'वचनयोग' के द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप स्थापित किया जाय; जैसे:—यह कहना कि जीव सद्रूप भी है और असद्रूप भी, वह 'असत्यवचनयोग' है ।

(२) किसी वस्तु को अयथार्थ रूप से सिद्ध करने वाला वचन-योग, 'असत्यवचनयोग' है; जैसे:—यह कहना कि आत्मा कोई चीज नहीं है या पुण्य-पाप कुछ भी नहीं है ।

(३) अनेक रूप वस्तु को एकरूप ही प्रतिपादन करने वाला वचनयोग 'मिश्रवचनयोग' है । जैसे:—आम, नीम, आदि अनेक प्रकार के वृक्षों के वन को आम का ही वन कहना, इत्यादि ।

(४) जो 'वचनयोग' किसी वस्तु के स्थापन-उत्थापन के लिये

प्रवृत्त नहीं होता, वह असत्यामृषवचनयोग' है; जैसे--किसी का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिये कहना कि हे भोजदत्त ! हे मित्रसेन ! इत्यादि पद सम्बोधनमात्र हैं, स्थापन-उत्थापन नहीं। वचनयोग के भी मनोयोग की तरह, तत्त्व-दृष्टि से सत्य और असत्य, ये दो ही भेद समझने चाहिये।

काययोग के भेदों का स्वरूपः—

(१) सिर्फ वैक्रिय शरीर के द्वारा वीर्य-शक्ति का जो व्यापार होता है, वह 'वैक्रियकाययोग'। यह योग, देवों तथा नारकों को पर्याप्त-अवस्था में सदा ही होता है। और मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों को वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रियशरीर धारण कर लेने पर ही होता है। वैक्रिय शरीर' उस शरीर को कहते हैं, जो कभी एकरूप और कभी अनेक रूप होता है, तथा कभी छोटा, कभी बड़ा कभी आकाश-गामी, कभी भूमि-गामी, कभी दृश्य और कभी अदृश्य होता है। ऐसा-वैक्रिय-शरीर देवों तथा नारकों को जन्म-समय से ही प्राप्त होता है; इसलिये वह 'औपपातिक' कहलाता है। मनुष्यों तथा तिर्यञ्चोंका वैक्रियशरीर 'लब्धिप्रत्यय' कहलाता है; क्योंकि उन्हें ऐसा शरीर, लब्धि के निमित्त से प्राप्त होता है, जन्म से नहीं।

(२) वैक्रिय और कार्मण तथा वैक्रिय और औदारिक, इन दो-दो शरीरों के द्वारा होने वाला वीर्य-शक्ति का व्यापार, वैक्रियमिश्रकाय-योग' है। पहले प्रकार का वैक्रियमिश्रकाययोग, देवों तथा नारकों को उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त-अवस्था तक रहता है। दूसरे प्रकार का वैक्रियमिश्रकाययोग, मनुष्यों और तिर्यञ्चों में तभी पाया जाता है जब कि वे लब्धि के सहारे से वैक्रिय शरीर का आरम्भ और परित्याग करते हैं।

(३) सिर्फ आहारक शरीर की सहायता से होने वाला वीर्य-शक्ति का व्यापार, 'आहारककाययोग' है।

(४) 'आहारकमिश्रकाययोग' वीर्य-शक्ति का वह व्यापार है, जो आहारक और औदारिक, इन दो शरीरों के द्वारा होता है। आहारक शरीर धारण करने के समय, आहारकशरीर और उसका आरम्भ-परित्याग करने के समय आहारकमिश्रकाययोग होता है। चतुर्दश-पूर्वधर मुनि, संशय दूर करने, किसी सूक्ष्म विषय को जानने अथवा समृद्धि देखने के निमित्त, दूसरे क्षेत्र में तीर्थङ्कर के पास जाने के लिये विशिष्ट-लब्धि के द्वारा आहारकशरीर बनाते हैं।

(५) औदारिककाययोग, वीर्य-शक्ति का वह व्यापार है, जो सिर्फ औदारिक शरीर से होता है। यह योग, सब औदारिकशरीरी जीवों को पर्याप्त-दशा में होता है। जिस शरीर को तीर्थङ्कर आदि महान् पुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जिसके बनने में मिंडी के समान थोड़े पुद्गलों की आवश्यकता होती है और जो मांस-हड्डी और नस आदि अवयवों से बना होता है, वही शरीर, 'औदारिक' कहलाता है।

(६) वीर्य-शक्ति का जो व्यापार, औदारिक और कार्मण इन दोनों शरीरों की सहायता से होता है, वह 'औदारिकमिश्रकाययोग' है। यह योग, उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त-अवस्था पर्यन्त सब औदारिकशरीरी जीवों को होता है।

(७) सिर्फ कार्मणशरीर की मदत से वीर्य-शक्ति की जो प्रवृत्ति होती है, वह 'कार्मणकाययोग' है। यह योग, विग्रह गति में तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में सब जीवों को होता है। और केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में केवली को होता है। 'कार्मणशरीर' वह है, जो कर्म-पुद्गलों से बना होता है और आत्माके प्रदेशों में इस तरह मिला रहता है, जिस तरह दूध में पानी। सब शरीरों की जड़, कार्मणशरीर ही है अर्थात् जब इस शरीर का समूल नाश होता है, तभी संसार का उच्छेद हो जाता है। जीव, नये जन्मको

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ग्रहण करने के लिये जब एक स्थान से दुसरे स्थान को जाता है, तब वह इसी शरीर से वेष्टित रहता है। यह शरीर इतना सूक्ष्म है कि वह रूपवाला होने पर भी नेत्र आदि इन्द्रियों का विषय बन नहीं सकता। इसी शरीर को दूसरे दार्शनिक ग्रन्थों में 'सूक्ष्मशरीर' या 'लिङ्गशरीर' कहा[1] है।

यद्यपि तैजस नाम का एक और भी शरीर माना गया है, जो कि खाये हुए आहार को पचाता है और विशिष्ट लब्धि-धारी तपस्वी, जिसकी सहायता से तेजोलेश्या का प्रयोग करते हैं। इसलिये यह शङ्का हो सकती है कि कार्मणकाययोग के समान तैजसकाययोग भी मानना आवश्यक है।

इस शङ्का का समाधान यह है कि तैजसशरीर और कार्मणशरीर का सदा साहचर्य रहता है। अर्थात् औदारिक आदि अन्य शरीर कभी-कभी कार्मणशरीर को छोड़ भी देते हैं; पर तैजसशरीर उसे कभी नहीं छोड़ता। इसलिये वीर्य-शक्ति का जो व्यापार, कार्मण-शरीर के द्वारा होता है, वही नियम से तैजस शरीर के द्वारा भी होता रहता है। अतः कार्मणकाययोग में ही तैजसकाययोग का समावेश हो जाता है; इसलिये उसको जुदा नहीं गिना है।

### आठ मार्गणाओं में योग का विचार:—

ऊपर जिन पन्द्रह योगों का विचार किया गया है उनमें से कार्मण काययोग ही ऐसा है, जो अनाहारक-अवस्था में पाया जाता है। शेष चौदह योग, आहारक-अवस्था में ही होते हैं। यह नियम नहीं है कि अनाहारक-अवस्था में कार्मणकाययोग होता ही है; क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक-अवस्था होने पर भी किसी तरह का

---

१—'उक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य स्वरूपमाह—"सप्तदशैकं लिङ्गम्।"
—सांख्यदर्शन-अ० ३, सू० ९।

योग नहीं होता। यह भी नियम नहीं है कि कार्मणकाययोग के समय अनाहारक-अवस्था अवश्य होती है; क्योंकि उत्पत्ति-क्षणमें कार्मण-काययोग होने पर भी जीव, अनाहारक नहीं होता, बल्कि वह, उसी योग के द्वारा आहार लेता है, परन्तु यह तो नियम ही है कि जब जीव की अनाहारक-अवस्था होती है, तब कार्मणकाययोग के सिवाय अन्य योग होता ही नहीं। इसीसे अनाहारक-मार्गणा में एक मात्र कार्मणकाययोग माना गया है ॥२४॥

नरगइपणिंदितसतणु-अचक्खुनरनपुंकसायसंदुगे ।
संनिछलेसाहारग,-भवमइसुओहिदुगे सव्वे ॥२५॥

नरगतिपञ्चेन्द्रियत्रसतन्वचक्षुर्नरनपुंसककषायसम्यक्त्वद्विके ।
संज्ञिषड्लेश्याहारकभव्यमतिश्रुतावधिद्विके सर्वे ॥२५॥

अर्थ—मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, त्रसकाय, काययोग, अचक्षु-र्दर्शन, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, चार कषाय, क्षायिक तथा क्षायोपश-मिक, ये दो सम्यक्त्व, संज्ञी, छह लेश्याएँ, आहारक, भव्य, मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधि द्विक, इन छब्बीस मार्गणाओं में सब पन्द्रहों-योग होते हैं ॥२५॥

भावार्थ—उपर्युक्त छब्बीस मार्गणाओं में पन्द्रह योग इसलिये कहे गये हैं कि इन सब मार्गणाओं का सम्बन्ध मनुष्यपर्याय के साथ है और मनुष्यपर्याय सब योगों का सम्भव है।

यद्यपि कहीं-कहीं यह कथन मिलता है कि आहारकमार्गणा में कर्मणयोग नहीं होता, शेष चौदह योग होते हैं। किन्तु वह युक्ति-सङ्गत नहीं जान पड़ता; क्योंकि जन्म के प्रथम समय में, कार्मण-योग के सिवाय अन्य किसी योग का संभव नहीं है। इसलिये उस समय, कार्मणयोग के द्वारा ही आहाकत्व घटाया जा सकता है।

जन्म के प्रथम समय में जो आहार किया जाता है, उसमें गृह्यमाण

पुद्गल ही साधन होते हैं; इसलिये उस समय, कार्मणकाययोग मानने-की जरूरत नहीं है। ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है। क्योंकि प्रथम समय में, आहाररूप से ग्रहण किये हुए पुद्गल उसी समय शरीर-रूप में परिणत होकर दूसरे समय में आहार लेने में साधन बन सकते हैं, पर अपने ग्रहण में आप साधन नहीं बन सकते ॥२५॥

तिरिइत्थिअजयसासण,-अनाणउवसमअभव्वमिच्छेसु ।
तेराहारदुगूणा, ते उरलदुगूण सुरनरए ॥२६॥

तिर्यक्स्त्र्ययतसासादनाज्ञानोपशमाभव्यमिथ्यात्वेषु
त्रयोदशाहारकद्विकोनास्त औदारिकद्विकोनाः सुरनरके ॥२६॥

अर्थ तिर्यञ्चगति, स्त्रीवेद, अविरति, सास्वादन, तीन अज्ञान, उपशमसम्यक्त्व, अभव्य और मिथ्यात्व, इन दस मार्गणाओं में आहारक-द्विकके सिवाय तेरह योग होते हैं। देवगति और नरक-गति में उक्त तेरह में से औदारिक-द्विकके सिवाय शेष ग्यारह योग होते हैं ॥२६॥

भावार्थ—तिर्यञ्चगति आदि उपर्युक्त दस मार्गणाओं में आहारक-द्विकके सिवाय शेष सब योग होते हैं। इनमें से स्त्रीवेद और उपशमसम्यक्त्व को छोड़कर शेष आठ मार्गणाओं में आहारकयोग न होने का कारण सर्वविरतिका अभाव ही है। स्त्रीवेद में सर्वविरतिका संभव होने पर भी आहारकयोग न होने का कारण स्त्री जाति को दृष्टिवाद[1]—जिसमें चौदह पूर्व हैं—पढ़ने का निषेध है। उपशमसम्यक्त्व में सर्वविरतिका संभव है तथापि उसमें आहारक योग न मानने का कारण यह है कि उपशमसम्यक्त्वी आहारकलब्धि का प्रयोग नहीं करते।

---

१. देखिये, परिशिष्ट 'त'।

तिर्यञ्चगति में तेरह योग कहे गये हैं। इनमें से चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग, इस तरह से ये नौ योग पर्याप्त-अवस्था में होते हैं। वैक्रियकाययोग और वैक्रियमिश्रकाययोग पर्याप्त-अवस्था में होते हैं सही; पर सब तिर्यञ्चों को नहीं; किन्तु वैक्रिय-लब्धि के बल से वैक्रियशरीर बनाने वाले कुछ तिर्यञ्चों को ही। कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग, तिर्यञ्चों को अपर्याप्त-अवस्था में ही होते हैं।

स्त्रीवेद[1] में तेरह योगों का संभव इस प्रकार है:—मन के चार वचन के चार, दो वैक्रिय और एक औदारिक, ये ग्यारह योग मनुष्य-तिर्यञ्च-स्त्री को पर्याप्त-अवस्था में, वैक्रियमिश्रकाययोग देव-स्त्री को अपर्याप्त-अवस्था में, औदारिकमिश्रकाययोग मनुष्य-तिर्यञ्च-स्त्री को अपर्याप्त-अवस्था में और कार्मणकाययोग पर्याप्त-मनुष्य-स्त्री को केवलिसमुद्घात-अवस्था में होता है।

अविरति, सम्यग्दृष्टि, सास्वादन, तीन अज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्व, इन सात मार्गणाओं में चार मन के, चार वचन के, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्था में होते हैं। कार्मण-काययोग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के प्रथम क्षण में होता है। औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अपर्याप्त-अवस्था में होते है।

---

१—स्त्रीवेद का मतलब इस जगह द्रव्यस्त्रीवेद से ही है। क्योंकि उसी में आहारकयोग का अभाव घट सकता है। भावस्त्रीवेद में तो आहारकयोग का संभव है अर्थात् जो द्रव्य से पुरुष होकर भावस्त्रीवेद का अनुभव करता है, वह भी आहारकयोग वाला होता है। इसी तरह आगे उपयोगाधिकार में जहाँ वेद में बारह उपयोग कहे हैं, वहाँ भी वेद का मतलब द्रव्यवेद से ही है। क्योंकि क्षायिक-उपयोग भाववेदरहितको ही होते हैं, इसलिये भाववेद में बारह उपयोग नहीं घट सकते। इससे उलटा, गुणस्थान-अधिकार में वेद का मतलब भाववेद से ही है; क्योंकि वेद में नौ गुणस्थान कहे हुए हैं, सो भाववेद में ही घट सकते है, द्रव्यवेद तो चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है।

उपशमसम्यक्त्व में चार मन के, चार वचन के, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्था में पाये जाते है। कार्मण और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अपर्याप्त-अवस्था में देवों की अपेक्षा से समझने चाहिये; क्योंकि जिनका यह मत है कि उपशमश्रेणि से गिरने-वाले जीव मरकर अनुत्तरविमान में उपशमसम्यक्त्व सहित जन्म लेते हैं, उनके मत से अपर्याप्त देवों में उपशमसम्यक्त्व के समय उक्त दोनों योग पाये जाते हैं। उपशमसम्यक्त्व में औदारिकमिश्रयोग गिना है, सो सैद्धान्तिक मत के अनुसार, कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार नहीं; क्योंकि कार्मग्रन्थिक मत से पर्याप्त-अवस्था में केवली के सिवाय अन्य किसी को वह योग नहीं होता। अपर्याप्त-अवस्था में मनुष्य तथा तिर्यञ्च को होता है सही, पर उन्हें उस अवस्था में किसी तरह का उपशमसम्यक्त नहीं होता। सैद्धान्तिक मत से उपशम-सम्यक्त्व में औदारिकमिश्रयोग घट सकता है; क्योंकि सैद्धान्तिक विद्वान् वैक्रियशरीर की रचना के समय वैक्रियमिश्रयोग न मानकर औदारिकमिश्रयोग मानते हैं; इसलिये वह योग, ग्रन्थि-भेद-जन्य उपशमसम्यक्त्व वाले वैक्रियलब्धि-संपन्न मनुष्य में वैक्रियशरीर की रचना के समय पाया जा सकता है।

देवगति और नरकगति में विरति न होने से दो आहारकयोगों का सम्भव नहीं है तथा औदारिकशरीर न होने से दो औदारिकयोगों का संभव नहीं है। इसलिये इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग उक्त दो गतियों में कहे गये हैं; सो यथासम्भव विचार लेना चाहिये ॥ २६ ॥

---

१—यह मत स्वयं ग्रन्थकारने ही आगे की ४६ वीं गाथा में इस अंश से निर्दिष्ट किया है—

"विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं"

**कम्मुरलदुगं थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।**
**छ असंनि चरमवइजुय, ते विउवदुगुण चउ विगले ॥२७॥**

कार्मणौदारिकद्विकं स्थावरे, ते सवैक्रियद्विकाः पञ्चैकस्मिन् पवने ।
षडसञ्ज्ञिनि चरमवचोयुतास्ते वैक्रियद्विकोनाश्चत्वारो विकले ॥२७॥

अर्थ—स्थावरकाय में, कार्मण तथा औदारिक-द्विक, ये तीन योग होते हैं। एकेन्द्रिय जाति और वायुकाय में उक्त तीन तथा वैक्रिय-द्विक, ये कुल पाँच योग होते हैं। असंज्ञी में उक्त पाँच और चरम वचनयोग (असत्यामृषावचन) कुल छह योग होते हैं। विकलेन्द्रिय में उक्त छह-में से वैक्रिय-द्विक को घटाकर शेष चार (कार्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक और असत्यामृषावचन) योग होते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—स्थावरकाय में तीन योग कहे गये हैं, सो वायुकाय के सिवाय अन्य चार प्रकार के स्थावरों में समझना चाहिये। क्योंकि वायुकाय में और भी दो योगों का संभव है। तीन योगों में से कार्मणकाय-योग, विग्रहगति में तथा उत्पत्ति-समय में, औदारिकमिश्रकाययोग, उत्पत्ति-समय को छोड़कर शेष अपर्याप्त-काल में और औदारिक-काययोग, पर्याप्त-अवस्था में समझना चाहिये।

एकेन्द्रियजाति में, वायुकाय के जीव भी आ जाते हैं। इसलिये उसमें तीन योगों के अतिरिक्त, दो वैक्रिययोग मानकर पाँच योग कहे हैं।

वायुकाय में अन्य स्थानों की तरह कार्मण आदि तीन योग पाये जाते हैं; पर इनके सिवाय और भी दो योग (वैक्रिय और वैक्रियमिश्र) होते हैं। इसी से उसमें पाँच योग माने गये हैं। वायुकाय[1] में पर्याप्त बादर

---

१—यही बात प्रज्ञापना-चूर्णि में कही हुई:—

जीव, वैक्रियलब्धि-संपन्न होते हैं, वे ही वैक्रिय-द्विक के अधिकारी हैं, सब नहीं। वैक्रियशरीर बनाते समय, वैक्रियमिश्रकाययोग और बना चुकने के बाद उसे धारण करते समय वैक्रियकाययोग होता है।

असंज्ञी में छह योग कहे गये हैं। इनमें से पाँच योग तो वायुकाय-की अपेक्षा से; क्योंकि सभी एकेन्द्रिय असंज्ञी ही हैं। छठा असत्या-मृषावचनयोग, द्वीन्द्रिय आदिकी अपेक्षा से; क्योंकि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिय, ये सभी असंज्ञी हैं। द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीव, भाषालब्धि-युक्त होते हैं; इसलिये उनमें असत्यामृषावचनयोग होता है।

विकलेन्द्रिय में चार योग कहे गये हैं; क्योंकि वे, वैक्रियलब्धि-संपन्न न होने के कारण वैक्रियशरीर नहीं बना सकते। इसलिये उनमें असंज्ञीसम्बन्धी छह योगों में से वैक्रिय-द्विक नहीं होता ॥२७॥

कम्मुरलमीसविणु मण,-वइसमइयदेयचक्खुमणनाणे।
उरलदुगकम्मपढमं,-तिममणवइ केवलदुगंमि ॥ २८ ॥

कार्मौदारिकमिश्रं विना मनोवचस्सामायिकच्छेदचक्षुर्मनोज्ञाने।
औदारिकद्विककार्मणप्रथमान्तिममनोवचः केवलद्विके ॥ २८ ॥

अर्थ—मनोयोग, वचनयोग, सामायिकचारित्र, छेदोपस्थाप-नीयचारित्र, चक्षुर्दर्शन और मनःपर्यायज्ञान, इन छह मार्गणाओं में

---

"तिण्हं ताव रासीणं, वेउव्विअलद्धी चेव नत्थि।
बादरपज्जताणं पि, संखेज्जइ भागस्स त्ति।।"

—पञ्चसंग्रह-द्वार १ की टीका में प्रमाणरूप से उद्धृत।

अर्थात्—"अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म और अपर्याप्त बादर' इन तीन प्रकार के वायुकायिकों में तो वैक्रियलब्धि है ही नहीं। पर्याप्त बादर वायुकाय में है, परन्तु वह सबमें नहीं; सिर्फ उसके संख्यातवें भाग में ही है।"

कार्मण तथा औदारिकमिश्रको को छोड़कर तेरह योग होते हैं। केवल द्विकमें औदारिक-द्विक, कार्मण, प्रथम तथा अन्तिम मनोयोग (सत्य तथा असत्यामृषामनोयोग) और प्रथम तथा अन्तिम वचनयोग (सत्य तथा असत्यामृषावचनयोग), ये सात योग होते हैं ॥२८॥

भावार्थ—मनोयोग आदि उपर्युक्त छह मार्गणाएँ पर्याप्त-अवस्था में ही पायी जाती हैं। इसलिये इनमें कार्मण तथा औदारिक-मिश्र, ये अपर्याप्त-अवस्था-भावी दो योग नहीं होते। केवली को केवलिसमुद्घात में ये योग होते हैं। इसलिये यद्यपि पर्याप्त-अवस्था में भी इनका संभव है तथापि यह जानना चाहिये कि केवलि-समुद्घातमें जब कि ये योग होते हैं, मनोयोग आदि उपर्युक्त छह में से कोई भी मार्गणा नहीं होती) इसीसे इन छह मार्गणाओं में उक्त दो योग के सिवाय, शेष तेरह योग कहे गये हैं[1]।

केवल-द्विकमें औदारिक-द्विक आदि सात योग कहे गये हैं, सो इस प्रकार:—सयोगी केवली को, औदारिककाययोग सदा ही रहता है; सिर्फ केवलिसमुद्घात के मध्यवर्ती छह समयों में नहीं होता। औदारिकमिश्रकाययोग, केवलिसमुद्घातके दूसरे, छठे और सातवें समय में तथा कार्मणकाययोग तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में होता है। दो वचनयोग, देशना देने के समय होते हैं और दो मनोयोग किसी के प्रश्न का मन से उत्तर देने के समय। मन से उत्तर देने का मतलब यह है कि जब कोई अनुत्तरविमानवासी देव या मन पर्यायज्ञानी अपने स्थान में रहकर मनसे ही केवली को प्रसन्न करते हैं, तब उनके प्रसन्न को केवलज्ञान से जानकर केवली भगवान् उसका उत्तर मनसे ही देते हैं। अर्थात् मनोद्रव्य को ग्रहणकर उसकी ऐसी रचना करते हैं कि

---

१—देखिये, परिशिष्ट 'थ'।

२—गोम्मटसार-जीवकाण्ड की २२८वीं गाथा में भी केवली को द्रव्य मन का सम्बन्ध माना है।

जिसको अवधिज्ञान या मनः पर्यायज्ञान के द्वारा देखकर प्रश्नकर्ता केवली भगवान् के दिये हुए उत्तर को अनुमान द्वारा जान लेते हैं। यद्यपि मनोद्रव्य बहुत सूक्ष्म है तथापि अवधिज्ञान और मनः पर्याय ज्ञान में उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेने की शक्ति है। जैसे कोई मानस-शास्त्रज्ञ किसी के चेहरे पर होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को देखकर उसके मनो-गत-भाव को अनुमान द्वारा जान लेता है, वैसे ही अवधिज्ञानी या मनः पर्यायज्ञानी मनोद्रव्य की रचना को साक्षात् देखकर अनुमान-द्वारा यह जान लेते हैं कि इस प्रकार की मनो-रचना के द्वारा अमुक अर्थ का ही चिन्तन किया हुआ होना चाहिये ॥२८॥

मणवइउरला परिहा,-रिसुहुमि नवते उमीसि सविउव्वा।
देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमीस अहखाए ॥२९॥

मनोवच औदारिकाणि परिहारे सूक्ष्मे नव ते तु मिश्रे सर्वक्रियाः।
देशे सर्वक्रियद्विकाः, सकार्मणौदारिकमिश्राः यथाख्याते ॥२९॥

अर्थ—परिहारविशुद्ध और सूक्ष्मसम्परायचारित्र में मन के चार, वचन के चार और एक औदारिक, ये नौ योग होते हैं। मिश्र में (सम्यग्मिथ्यादृष्टि में) उक्त नौ तथा एक वैक्रिय, कुल दस योग होते हैं। देशविरति में उक्त नौ तथा वैक्रिय-द्विक, कुल ग्यारह योग होते हैं। यथाख्यातचारित्र में चार मनके, चार वचन के, कार्मण और औदारिक-द्विक, ये ग्यारह योग होते हैं ॥२९॥

भावार्थ—कार्मण और औदारिक मिश्र, ये दो योग छद्मस्थ के-लिये अपर्याप्त-अवस्था-भावी हैं, किन्तु चारित्र कोई भी अपर्याप्त-अवस्था में नहीं होता। वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये दो योग वैक्रिय-लब्धि का प्रयोग करने वाले ही मनुष्य को होते हैं। परन्तु परिहार-विशुद्ध या सूक्ष्मसम्परायचारित्र वाला कभी वैक्रियलब्धि का प्रयोग नहीं करता। आहारक और आहारकमिश्र, ये दो योग चतुर्दश-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

पूर्व-धर प्रमत्त मुनि को ही होते हैं; किन्तु परिहारविशुद्ध चारित्र का अधिकारी कुछ-कम दस पूर्व का ही पाठी होता है और सूक्ष्मसंपराय-चारित्र वाला चतुर्दश-पूर्व-धर होने पर भी अप्रमत्त ही होता है; इस कारण परिहार विशुद्ध और सूक्ष्मसंपराय में कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक और आहारक मिश्र, ये छह योग नहीं होते, शेष नौ होते हैं।

मिश्रसम्यक्त्व के समय मृत्यु नहीं होती। इस कारण अपर्याप्त-अवस्था में वह सम्यक्त्व नहीं पाया जाता इसीसे उसमें कार्मण-औदारिक मिश्र और वैक्रियमिश्र, ये अपर्याप्त-अवस्था-भावी तीन योग नहीं होते। तथा मिश्रसम्यक्त्व के समय चौदह पूर्व के ज्ञान का संभव न होने के कारण दो आहारकयोग नहीं होते। इस प्रकार कार्मण आदि उक्त पाँच योगों को छोड़कर शेष दस योग मिश्रसम्यक्त्व में होते हैं।

इस जगह यह शङ्का होती है कि मिश्रसम्यक्त्व में अपर्याप्त-अवस्था-भावी वैक्रियमिश्रयोग नहीं माना जाता, सो तो ठीक है; परन्तु वैक्रियलब्धि का प्रयोग करते समय मनुष्य और तिर्यञ्चको पर्याप्त-अवस्था में जो वैक्रियमिश्रयोग होता है, वह मिश्रसम्यक्त्व में क्यों नहीं माना जाता? इसका समाधान इतना ही दिया जाता है कि मिश्रसम्यक्त्व और लब्धि-जन्य वैक्रियमिश्रयोग: ये दोनों पर्याप्त-अवस्था-भावी हैं; किन्तु इनका साहचर्य नहीं होता। अर्थात् मिश्र-सम्यक्त्व के समय लब्धि का प्रयोग न किये जाने के कारण वैक्रिय-मिश्रकाययोग नहीं होता।

व्रतधारी श्रावक, चतुर्दश-पूर्वी और अपर्याप्त नहीं होता; इस कारण देशविरति में दो आहारक और अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण और औदारिकमिश्र, इन चार के सिवाय शेष ग्यारह योग माने जाते हैं। ग्यारहमें वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये दो योग गिने हुए हैं,

सो इसलिये कि 'अम्बड' आदि श्रावक द्वारा वैक्रियलब्धि से वैक्रिय-शरीर बनाये जाने की बात शास्त्र में प्रसिद्ध है।

यथाख्यात चारित्र वाला अप्रमत्त ही होता है, इसलिये उस चारित्र में दो वैक्रिय और दो आहारक, ये प्रमाद-सहचारी चार योग नहीं होते, शेष ग्यारह होते हैं। ग्यारहवें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग गिने गये हैं, सो केवलि समुद्घात की अपेक्षा से। केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र और तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मणयोग होता है ॥२९॥

---

१—देखिये, औपपातिक पृ० ९६।

२—देखिये, परिशिष्ट 'द'।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



# (४)—मार्गणाओं में उपयोग ।

[ छह गाथाओं से]

**तिअनाण नाण पण च३, दंसण बार जियलक्खणुवओगा ।**
**विणु मणनाणदुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥**

त्रीण्यज्ञानानि ज्ञानानि पञ्च चत्वारि,दर्शनानि द्वादश जीवलक्षणमुपयोगाः । विना समोज्ञानद्विकेवलं नव सुरतिर्यङ्निरयायतेषु ॥३०॥

अर्थ—तीन अज्ञान- पांच ज्ञान और चार दर्शन ये बारह उपयोग हैं, जो जीव के लक्षण है । इनमें से मनः पर्याय ज्ञान और केवल-द्विक, इन तीन के सिवाय शेष नौ उपयोग देवगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और अविरत में पाये जाते हैं ॥३०॥

भावार्थ – किसी वस्तु का लक्षण, उसका असाधारण धर्म है; क्योंकि लक्षण का उद्देश्य, लक्ष्य को अन्य वस्तुओं से भिन्न बतलाना है; जो असाधारण धर्म में ही घट सकता है । उपयोग, जीव के असाधारण (खास) धर्म हैं और अजीव से उसकी भिन्नता को दरसाते हैं; इसी कारण वे जीव के लक्षण कहे जाते हैं ।

मनः पर्याय और केवल-द्विक, ये तीन उपयोग सर्वविरति-सापेक्ष हैं; परन्तु देवगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और अविरति, इन चार मार्गणाओं में सर्वविरति का संभव नहीं है; इस कारण इनमें तीन उपयोगों को छोड़कर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं ।

अविरति वालों में से शुद्ध सम्यक्त्वी को तीन ज्ञान, तीन दर्शन ये छह उपयोग और शेष सबको तीन अज्ञान और दो दर्शन, ये पाँच उपयोग समझने चाहिये ॥३०॥

**तसजोयवेयसुक्का,-हारनरपणिंदिसंनिभवि सव्वे ।**
**नयणेयरपणलेसा,-कसाइ दस केवलदुगूणा ॥३१॥**

त्रसयोगवेदशुक्लाहारकनरपञ्चेन्द्रियसंज्ञिभव्ये सर्वे ।
नयनेतरपञ्चलेश्याकषाये दश केवलद्विकोनाः ॥३१॥

अर्थ—त्रसकाय, तीन योग, तीन वेद, शुक्ल लेश्या, आहारक, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, संज्ञी और भव्य, इन तेरह मार्गणाओं में सब उपयोग होते हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, शुक्ल के सिवाय शेष पाँच लेश्याएँ और चार कषाय, इन ग्यारह मार्गणाओं में केवल-द्विक को छोड़कर शेष दस उपयोग पाये जाते हैं ॥३१॥

भावार्थ—त्रसकाय आदि उपर्युक्त तेरह मार्गणाओं में से योग, शुक्लेश्या और आहारकत्व, ये तीन मार्गणाएँ तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त और शेष दस, चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त पायी जाती हैं; इसलिये इन सब में बारह उपयोग माने जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त वेद पाये जाने का मतलब, द्रव्य वेद से है; क्योंकि भाववेद तो नवें गुणस्थान तक ही रहता है।

चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, ये दो बारहवें गुणस्थान पर्यन्त, कृष्ण-आदि तीन लेश्याएँ छठे गुणस्थान पर्यन्त, तेजः पद्म, दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान पर्यन्त और कषायोदय अधिक से अधिक दसवें गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है; इस कारण चक्षुर्दर्शन आदि उक्त ग्यारह मार्गणाओं में केवल-द्विकके सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं ॥३१॥

**चउरिंदिअसंनि दुअना, णदंसण इगिबितिथावरि अचक्खु ।**
**तिअनाण दंसणदुगं, अनाणतिगअभवि मिच्छदुगे ॥३२॥**

चतुरिन्द्रियासंज्ञिनि द्वयज्ञानदर्शनमेकद्वित्रिस्थावरऽचक्षुः ।
व्यज्ञानं दर्शनद्विकमज्ञानत्रिकाभव्ये मिथ्यात्वद्विके ॥ ३२ ॥

अर्थ—चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में मति और श्रुत दो अज्ञान तथा चक्षुः और अचक्षुः दो दर्शन, कुल चार उपयोग होते हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और पाँच प्रकार के स्थावर में उक्त चार में से चक्षुर्दर्शन के सिवाय, शेष तीन उपयोग होते हैं। तीन अज्ञान, अभव्य, और मिथ्यात्व-द्विक ( मिथ्यात्व तथा सासादन ), इन छह मार्गणाओं में तीन अज्ञान और दो दर्शन कुल पाँच उपयोग होते हैं। ३२ ॥

भावार्थ—चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में विभङ्गज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नहीं है तथा उनमें सम्यक्त्व न होने के कारण, सम्यक्त्व के सहचारी पाँच ज्ञान और अवधि और केवल दो दर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते, इस तरह कुल आठ के सिवाय शेष चार उपयोग होते हैं।

एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त आठ मार्गणाओं में नेत्र न होने के कारण चक्षुर्दर्शन और सम्यक्त्व न होने के कारण पाँच ज्ञान तथा अवधि और केवल, ये दो दर्शन और तथाविध योग्यता न होने के कारण विभङ्गज्ञान, इस तरह कुल नौ उपयोग नहीं होते, शेष तीन होते हैं।

अज्ञान-त्रिक आदि उपर्युक्त छह मार्गणाओं में सम्यक्त्व तथा विरति नहीं है; इसलिये उनमें पाँच ज्ञान और अवधि-केवल, ये दो दर्शन, इन सात के सिवाय शेष पाँच उपयोग होते हैं।

सिद्धान्ती, विभङ्गज्ञानी में अवधिदर्शन मानते हैं और सास्वादन-गुणस्थान में अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानते[1] हैं; इसलिये इस जगह अज्ञान-त्रिक आदि छह मार्गणाओं में अवधिदर्शन नहीं माना है और

---

१—खुलासे के लिये २१वीं तथा ४९वीं गाथा का टिप्पण देखना चाहिये।

सास्वादनमार्गणा में ज्ञान नहीं माना है, सो कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

केवलदुगे नियदुगं, नव तिअनाण विणु खइयअहखाये ।
दंसणनाणतिगं दे,-सि मीसि अ·नाणमीसं तं ॥ ३३ ॥

केवलद्विके निजद्विकं, नव व्यज्ञानं विना क्षायिकयथाख्याते ।
दर्शनज्ञानत्रिकं देशे मिश्रेऽज्ञानमिश्रं तत् ॥३३॥

अर्थ—केवल-द्विक में निज-द्विक (केवलज्ञान और केवलदर्शन) दो ही उपयोग हैं । क्षायिकसम्यक्त्व और यथाख्यातचारित्र में तीन अज्ञान को छोड़ शेष नौ उपयोग होते हैं । देशविरति में तीन ज्ञान और तीन दर्शन, ये छह उपयोग होते हैं । मिश्र-दृष्टि में वही उपयोग अज्ञान-मिश्रित होते हैं ॥३३

भावार्थ—केवल-द्विक में केवलज्ञान और केवलदर्शन दो ही उपयोग माने जाने का कारण यह है कि मतिज्ञान आदि शेष दस छाद्मस्थिक उपयोग, केवली को नहीं होते ।

क्षायिकसम्यक्त्व के समय, मिथ्यात्व का अभाव ही होता है । यथाख्यातचारित्र के समय, ग्यारहवें गुणस्थान में मिथ्यात्व भी है, पर सिर्फ सत्तागत, उदयमान नहीं; इस कारण इन दो मार्गणाओं में मिथ्यात्वोदय-सहभावी तीन अज्ञान नहीं होते । शेष नौ उपयोग होते हैं । सो इस प्रकार:—उक्त दो मार्गणाओं में छद्मस्थ-अवस्था में पहले चार ज्ञान तथा तीन दर्शन, ये सात उपयोग और केवलि-अवस्था में केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग ।

देशविरति में, मिथ्यात्व का उदय न होने के कारण तीन अज्ञान नहीं होते और सर्वविरतिकी अपेक्षा रखने वाले मनःपर्यायज्ञान और

---

१—यही मत गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ७०४वीं गाथा में उल्लिखित है।

केवल-द्विक, ये तीन उपयोग भी नहीं होते; शेष छह होते हैं। छह में अवधि-द्विकका परिगणन इसलिये किया गया है कि श्रावकों को अवधि-उपयोग का वर्णन, शास्त्र में मिलता है।

मिश्र-दृष्टि में छह उपयोग वही होते हैं, जो देशविरति में; पर विशेषता इतनी है कि मिश्र-दृष्टि में तीन ज्ञान, मिश्रित[2] होते हैं, शुद्ध नहीं अर्थात् मतिज्ञान, मति-अज्ञान-मिश्रित, श्रुतज्ञान, श्रुत-अज्ञान-मिश्रित और अवधिज्ञान, विभङ्गज्ञान-मिश्रित होता है। मिश्रितता इसलिये मानी जाती है कि मिश्र-दृष्टिगुणस्थान के समय अर्द्ध-विशुद्ध दर्शनमोहनीय-पुञ्ज का उदय होने के कारण परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध अर्थात् मिश्र होते हैं। शुद्धि की अपेक्षा से मति आदि को ज्ञान और अशुद्ध की अपेक्षा से अज्ञान कहा जाता है।

गुणस्थान में अवधिदर्शन का सम्बन्ध विचारने वाले कार्मग्रन्थिक पक्ष दो हैं। पहला चौथे आदि नौ गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है, जो २१वी गा० में निर्दिष्ट है। दूसरा पक्ष, तीसरे गुणस्थान में भी अवधिदर्शन मानता है, जो ४८वीं गाथा में निर्दिष्ट है। इस जगह दूसरे पक्ष को लेकर ही मिश्र-दृष्टि के उपयोगों में अवधिदर्शन गिना है॥ ३३॥

मणनाणचक्खुवज्जा, अणहारि तिन्नि दंसण चउ नाणा।
चउनाणसंजमोवस,–मवेयगे ओहिदंसे य॥ ३४॥

मनोज्ञानचक्षुर्वर्जा अनाहारे त्रीणि दर्शनानि चत्वारि ज्ञानानि।
चतुर्ज्ञानसंयमोपशमवेदकेऽवधिदर्शनने च॥३४॥

अर्थ –अनाहारकमार्गणा में मनःपर्यायज्ञान और चक्षुर्दर्शन को छोड़कर, शेष दस उपयोग होते हैं। चार ज्ञान, चार संयम, उप-

१–जैसे:–श्रीयुत् धनपतिसिंह जी द्वारा मुद्रित उपासकदशा पृ० ७०।

२—गोम्मटसार में यही बात मानी हुई है। देखिये, जीवकाण्ड की गाथा ७०४।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्व, वेदक अर्थात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और अवधि-दर्शन, इन ग्यारह मार्गणाओं में चार ज्ञान तथा तीन दर्शन, कुल सात उपयोग होते हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—विग्रहगति, केवलिसमुद्घात और मोक्ष में अनाहारकत्व होता है। विग्रहगति में आठ उपयोग होते हैं। जैसे:—भावी तीर्थंकर आदि सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी को तीन ज्ञान, मिथ्यात्वीको तीन अज्ञान और सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी उभय को अचक्षु और अवधि, ये दो दर्शन। केवलिसमुद्घात और मोक्ष में केवलज्ञान और केवलदर्शन, दो उपयोग होते हैं। इस तरह सब मिलाकर अनाहारकमार्गणा में दस उपयोग हुए। मनःपर्यायज्ञान और चक्षुर्दर्शन, ये दो उपयोग पर्याप्त-अवस्था-भावी होने के कारण अनाहारकमार्गणा में नहीं होते।

केवलज्ञान के सिवाय चार ज्ञान, यथाख्यात के सिवाय चार चारित्र, औपशमिक-क्षायोपशमिक दो सम्यक्त्व और अवधिदर्शन ये ग्यारह मार्गणाएं चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक में ही पायी जाती हैं; इस कारण इनमें तीन अज्ञान और केवल-द्विक, इन पाँच-के सिवाय शेष सात उपयोग माने हुए हैं।

इस जगह अवधिदर्शन में तीन अज्ञान नहीं माने हैं। सो २१ वीं गाथा में कहे हुए "जयाइ नव मइसुओहिदुगे" इस कर्मग्रन्थिक मत-के अनुसार समझना चाहिये ॥ ३४।

दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे।
चउ दु पण तिन्नि काये, जियगुणजोगोवओगन्ने ॥ ३५ ॥

द्वे त्रयोदश त्रयोदश द्वादश, मनसि क्रमादष्ट द्वे चत्वारश्चत्वारो वचने।
चत्वारि द्वे पञ्च त्रयः काये, जीवगुणयोगोपयोगा अन्ये ॥ ३५ ॥

अर्थ—अन्य आचार्य मनोयोग में जीवस्थान दो, गुणस्थान तेरह, योग तेरह, उपयोग बारह, वचनयोग में जीवस्थान आठ, गुणस्थान

दो, योग चार, उपयोग, चार और काययोग में जीवस्थान चार, गुणस्थान दो, योग पाँच और उपयोग तीन मानते हैं ॥३५॥

भावार्थ—पहले किसी प्रकार की विशेष विवक्षा किये बिना ही मन, वचन और काययोग में जीवस्थान आदि का विचार किया गया है; पर इस गाथा में कुछ विशेष विवक्षा करके। अर्थात् इस जगह प्रत्येक योग यथासम्भव अन्य योग से रहित लेकर उसमें जीवस्थान आदि दिखाये हैं। यथासम्भव कहने का मतलब यह है कि मनोयोग को अन्य योग रहित नितान्त [illegible] इस कारण वह वचन-काय उभय योग-सहचरित ही लिया जाता है; पर वचन तथा काय-योग के विषय में यह बात नहीं; वचनयोग कहीं काययोग रहित न मिलने पर भी द्वीन्द्रियादि में मनोयोग रहित मिल जाता है। इसलिये वह मनोयोग रहित लिया जाता है। काययोग एकेन्द्रिय में मन-वचन उभय योगरहित मिल जाता है। इसीसे वह वैसा ही लिया जाता है।

मनोयोग में अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी, ये दो जीवस्थान हैं, अन्य नहीं; क्योंकि अन्य जीवस्थानों में मनःपर्याप्ति, द्रव्यमन आदि सामग्री न होने से मनयोग नहीं होता। मनोयोग में गुणस्थान तेरह हैं; क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में कोई भी योग नहीं होता। मनोयोग पर्याप्त-अवस्था-भावी है, इस कारण उसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण और औदारिकमिश्र, इन दो को छोड़ शेष तेरह योग होते हैं। यद्यपि केवलिसमुद्घात के समय पर्याप्त-अवस्था में भी उक्त दो योग होते हैं। तथापि उस समय प्रयोजन न होने के कारण केवलज्ञानी मनोद्रव्य को ग्रहण नहीं करते। इसलिये उस अवस्था में भी उक्त दो योग के साथ मनोयोग का साहचर्य नहीं घटता। मनवाले प्राणिओं में सब प्रकार के बोध की शक्ति पायी जाती है; इस कारण मनोयोग में बारह उपयोग कहे गये हैं।

१७वीं गाथा में मनोयोग में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना है, सो वर्तमान-मनोयोग वालों को मनोयोगी मानकर। इस गाथा में मनोयोग में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय दो जीव स्थान माने हैं, सो वर्तमान-भावी उभय मनोयोग वालों को मनोयोगी मानकर। मनोयोग सम्बन्धी गुणस्थान, योग और उपयोग के सम्बन्ध में क्रम से २२, २८, ३१वीं गाथा का जो मन्तव्य है, इस जगह भी वही है; तथापि फिर से उल्लेख करने का मतलब सिर्फ मतान्तर को दिखाना है। मनोयोग में जीवस्थान और योग विचारने में विवक्षा भिन्न-भिन्न की गयी है। जैसे—भावी मनोयोग वाले अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय को भी मनोयोगी मानकर उसे मनोयोग में गिना है। पर योग के विषय में ऐसा नहीं किया है। जो योग मनोयोग के समकालीन हैं, उन्हीं को मनोयोग में गिना है। इसी से उसमें कामण और औदारिकमिश्र, ये दो योग नहीं गिने हैं।

वचनयोग में आठ जीवस्थान कहे गये हैं। वे ये हैं:—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये चार पर्याप्त तथा अपर्याप्त। इस जगह वचनयोग, मनोयोग रहित लिया गया है, सो इन आठ जीवस्थानों में ही पाया जाता है। १७वीं गाथा में सामान्य वचनयोग लिया गया है। इसलिये उस गाथा में वचनयोग में संज्ञि पञ्चेन्द्रिय जीवस्थान भी गिना गया है। इसके सिवाय यह भी भिन्नता है कि उस गाथा में वर्तमान वचनयोग वाले ही वचनयोग के स्वामी विवक्षित हैं; पर इस गाथा में वर्तमान की तरह भावी वचनयोग वाले भी वचनयोग के स्वामी माने गये हैं; इसी कारण वचनयोग में वहाँ पाँच और यहाँ आठ जीवस्थान गिने गये हैं।

वचनयोग में पहला, दूसरा दो गुणस्थान, औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मण और असत्यामृषावचन, ये चार योग; तथा मति-अज्ञान: श्रुत-अज्ञान, चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, ये चार उपयोग हैं।

२२, २८ और ३१वीं गाथा में अनुक्रम से वचनयोग तेरह गुण-स्थान, तेरह योग और बारह उपयोग माने गये हैं। इस भिन्नता-का कारण यही है। अर्थात् वहाँ वचनयोग सामान्यमात्र लिया गया है, पर इस गाथा में विशेष—मनोयोगरहित। पूर्व में वचनयोग में सम-कालीन योग विवक्षित हैं; इसलिये उसमें कार्मण- औदारिकमिश्र-ये दो अपर्याप्त-अवस्था भावी योग नहीं गिने गये हैं। परन्तु इस जगह असम-कालीन भी योग विवक्षित हैं। अर्थात् कार्मण और औदा-रिकमिश्र, अपर्याप्त-अवस्था-भावी होने के कारण, पर्याप्त-अवस्था-भावी वचन योग के असम-कालीन हैं तथापि उक्त दो योग वालों को भवि-ष्यत् में वचनयोग होता है। इस कारण उसमें ये दो योग गिने गये है।

काययोग में सूक्ष्म और बादर, ये दो पर्याप्त तथा अपर्याप्त कुल चार जीवस्थान, पहला और दूसरा दो गुणस्थान, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कार्मण, ये पाँच योग तथा मति-अज्ञान-श्रुत-अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग समझने चाहिये। १६, २२, २५ और ३१वीं गाथा में चौदह जीवस्थान, तेरह गुण-स्थान, पन्द्रह योग और बारह उपयोग, काययोग में बतलाये गये हैं। इस मत-भेद का तात्पर्य भी ऊपर के कथनानुसार है। अर्थात् वहाँ सामान्य काययोग को लेकर जीवस्थान आदि का विचार किया गया है, पर इस जगह विशेष। अर्थात् मनोयोग और वचनयोग, उभयरहित काययोग, जो एकेन्द्रिय मात्र में पाया जाता है, उसे लेकर ॥३५॥

## (४)—मार्गणाओं में लेश्या।

छसु लेसासु सठाणं, एगिंदिअसंनिभूदगवणेसु।
पढमा चउरो तिन्नि उ, नारयविगलग्गिपवणेसु ॥३६॥

षट्सु लेश्यासु स्वस्थानमेकेन्द्रियासंज्ञिभूदकवनेषु।
प्रथमाश्चतस्रस्तिस्रस्तु, नारकविकलाग्निपवनेषु ॥३६॥

अर्थ—छह लेश्यामार्गणाओं में अपना-अपना स्थान है। एकेन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय, इन पाँच मार्गणाओं में पहली चार लेश्याएँ हैं। नरकगति, विकलेन्द्रिय-त्रिक, अग्निकाय और वायुकाय, इन छह मार्गणाओं में पहली तीन लेश्याएँ हैं ॥३६॥

भावार्थ—छह लेश्याओं में अपना-अपना स्थान है, इसका मतलब यह है कि एक समय में एक जीव में एक ही लेश्या होती है, दो नहीं। क्योंकि छहों लेश्याएं समान कालकी अपेक्षा से आपस में विरुद्ध हैं; कृष्ण लेश्या वाले जीवों में कृष्ण लेश्या ही होती है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।

एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त पाँच मार्गणाओं में कृष्ण से तेजः पर्यन्त चार लेश्याएँ मानी जाती हैं। इनमें से पहली तीन तो भवप्रत्यय होने के कारण सदा ही पायी जा सकती हैं, पर तेजोलेश्या के सम्बन्ध में यह बात नहीं; वह सिर्फ अपर्याप्त-अवस्था में पायी जाती है। इसका कारण यह है कि जब कोई तेजोलेश्या वाला जीव मरकर पृथ्वीकाय जलकाय या वनस्पतिकाय में जनमता है तब उसे कुछ काल तक पूर्व जन्म की मरण-कालीन तेजोलेश्या रहती है।

नरकगति आदि उपर्युक्त छह मार्गणाओं के जीवों में ऐसे अशुभ परिणाम होते हैं, जिससे कि वे कृष्ण आदि तीन लेश्याओं के सिवाय अन्य लेश्याओं के अधिकारी नहीं बनते ॥३६॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर


# (६)—मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व ।

[ आठ गाथाओं से ]

**अहखायसुहुमकेवल,- दुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।**
**नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असंखणंतगुणा[1] ॥३७॥**

यथाख्यातसूक्ष्मकेवलद्विके शुक्ला षडपि शेषस्थानेषु ।
नरनिरयदेवतिर्यञ्चः, स्तोकद्व्यसंख्यानन्तगुणाः ॥ ३७ ॥

**अर्थ**—यथाख्यातचारित्र, सूक्ष्मसंपरायचारित्र और केवल-द्विक, इन चार मार्गणाओं में शुक्लेश्या है; शेष मार्गणास्थानों में छहों लेश्याएँ होती हैं ।

[गतिमार्गणा का अल्प-बहुत्व:—] मनुष्य सबसे कम हैं, नारक उनसे असंख्यातगुण हैं, नारकों से देव असंख्यातगुण हैं और देवों से तिर्यञ्च अनन्तगुण हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यथाख्यात आदि उपर्युक्त चार मार्गणाओं में परिणाम इतने शुद्ध होते हैं कि जिससे उनमें शुक्लेश्या के सिवाय अन्य लेश्या का संभव नहीं है । पूर्व गाथा में सत्रह और इस गाथा में यथाख्यातचारित्र आदि चार, सब मिलाकर इक्कीस मार्गणाएँ हुई ।

---

१—यहाँ से लेकर ४४वीं गाथा तक, चौदह मार्गणाओं में अल्प-बहुत्व का विचार है; वह प्रज्ञापना के अल्प-बहुत्व नामक तीसरे पद से उद्धृत है । है । उक्त पद में मार्गणाओं के सिवाय और भी तेरह द्वारों में अल्प-बहुत्व का विचार है । गति-विषयक अल्प-बहुत्व, प्रज्ञापना के ११६ वें पृष्ठ पर है । इस अल्प-बहुत्व का विशेष परिज्ञान करने के लिये इस गाथा की व्याख्या में, मनुष्य आदि की सख्या दिखायी गयी है, जो अनुयोगद्वार में वर्णित है:—मनुष्य-संख्या, पृ० २०५; नारक-सख्या, पृ० १०६ असुरकुमार संख्या, पृ० २००; व्यन्तर-सख्या, पृ० २०८; ज्योतिष्क—संख्या, पृ० २०८; वैमानिक-संख्या, पृ० २०६ । यहाँ के समान पञ्चसंग्रह में थोड़ा सा वर्णन है:—व्यन्तर-संख्या, द्वा० २, गा० १४; ज्योतिष्क—सख्या, द्वा० २, गा० १५; मनुष्य—संख्या; द्वा० २, गा० २१ ।

इनको छोड़कर, शेष इकतालीस मार्गणाओं में छहों लेश्याएँ पायी जाती हैं। शेष मार्गणाएँ ये हैं :—

१ देवगति, १ मनुष्यगति, १ तिर्यञ्चगति, १ पञ्चेन्द्रियजाति, १ त्रसकाय, ३ योग, ३ वेद, ४ कषाय, ४ ज्ञान ( मति आदि ), ३ अज्ञान, ३ चारित्र ( सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहार-विशुद्ध ), १ देशविरति, १ अविरति, ३ दर्शन, १ भव्यत्व, १ अभव्यत्व, ३ सम्यक्त्व ( क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ), १ सासादन, १ सम्यग्मिथ्यात्व, १ मिथ्यात्व, १ संज्ञित्व, १ आहारकत्व और १ अनाहारकत्व, कुल ४१ ।

[मनुष्यों, नारकों देवों और तिर्यञ्चों का परस्पर अल्प-बहुत्व, ऊपर कहा गया है, उसे ठीक-ठीक समझने के लिये मनुष्य आदि की संख्या शास्त्रोक्त[1] रीति के अनुसार दिखायी जाती है ]:—

मनुष्य, जघन्य उन्तीस अङ्क-प्रमाण और उत्कृष्ट, असंख्यात होते हैं।

( क ) जघन्य:—मनुष्यों के गर्भज और संमूर्च्छिम, ये दो भेद हैं। इनमें से संमूर्च्छिम मनुष्य किसी समय बिलकुल ही नहीं रहते, केवल गर्भज रहते हैं। इसका कारण यह है कि संमूर्च्छिम मनुष्यों की आयु, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण होती है। जिस समय, संमूर्च्छिम मनुष्यों-की उत्पत्ति में एक अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय का अन्तर पड़ जाता है, उस समय, पहले के उत्पन्न हुए सभी संमूर्च्छिम मनुष्य मर चुकते हैं। इस प्रकार नये संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति न होने के समय तथा पहले उत्पन्न हुए सभी संमूर्च्छिम मनुष्यों के मर चुकने पर, गर्भज मनुष्य ही रह जाते हैं, जो कम से कम नीचे-लिखे उन्तीस अङ्कों के बराबर होते हैं। इसलिये मनुष्यों की कम से कम यही संख्या हुई।

---

१—अनुयोगद्वार, पृ० २०५—[२०९]।

पाँचवें वर्ग के[1] साथ छठे वर्ग को गुणने से जो उन्तीस अङ्क होते हैं, वे ही यहाँ लेने चाहिये। जैसे:—२ को २ के साथ गुणने से ४ होते हैं, यह पहला वर्ग। ४ के साथ ४ को गुणने से १६ होते हैं, यह दूसरा वर्ग। १६ को १६ से गुणने पर २५६ होते हैं, यह तीसरा वर्ग। २५६ को २५६ से गुणने पर ६५५३६ होते हैं, यह चौथा वर्ग। ६५५३६ को ६५५३६ से गुणने पर ४२९४९६७२९६ होते हैं, यह पाँचवाँ वर्ग। इसी पाँचवें वर्ग की सङ्ख्या को उसी सङ्ख्या के साथ गुणने से १८४४६७४४०७३७०९५१६१६ होते हैं, यह छठा वर्ग। इस छठे वर्ग की संख्या को उपर्युक्त पाँचवें वर्ग की संख्या से गुणने पर ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ होते हैं, ये उन्तीस अङ्क[2] हुए। अथवा १ का दूना २, २ का दूना ४, इस तरह पूर्व-पूर्व संख्या को, उत्तरोत्तर [illegible] दूना करने से, ये ही उन्तीस अङ्क होते हैं।

( ख ) उत्कृष्ट:—जब संमूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं, तब वे एक साथ अधिक से अधिक असंख्यात तक होते हैं, उसी समय मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या पायी जाती है। असंख्यात संख्या के असंख्यात भेद हैं, इनमें से जो असंख्यात संख्या मनुष्यों के लिये इष्ट है, उसका परिचय शास्त्र में काल[3] और क्षेत्र[4], दो प्रकार से दिया गया है।

---

१—समान दो संख्या के गुणनफल को उस संख्या का वर्ग कहते हैं। जैसे:—५ का वर्ग २५।

२—ये ही उन्तीस अङ्क, गर्भज-मनुष्य की संख्या के लिये अक्षरों के संकेत द्वारा गोम्मटसार-जीवकाण्ड की १५७वीं गाथा में बतलाये हैं।

३—देखिये, परिशिष्ट 'ध।'

४—काल से क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है। क्योंकि अंगुल-प्रमाण सूचि-श्रेणि के प्रदेशों-की संख्या असंख्यात अवसर्पिणी के समयों के बराबर मानी हुई है।

( १ ) काल:—असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं, मनुष्य अधिक से अधिक उतने पाये जा सकते हैं।

( २ ) क्षेत्र:—सात[1] रज्जु-प्रमाण घनीकृत लोक की अङ्गुलमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेशों के तीसरे वर्गमूल[2] को उन्हीं के प्रथम वर्ग-मूल के साथ गुणना, गुणने पर जो संख्या प्राप्त हो, उसका संपूर्ण सूचि-श्रेणि-गत प्रदेशों में भाग देना, भाग देने पर जो संख्या लब्ध होती है, एक-कम वही संख्या मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या है। यह संख्या, अङ्गुलमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेश की संख्या, उनके तीसरे वर्ग-मूल और प्रथम वर्गमूल की संख्या तथा संपूर्ण सूचि-श्रेणि के प्रदेशों की संख्या वस्तुत: असंख्यात ही है, तथापि उक्त भाग-विधि से मनुष्यों की जो उत्कृष्ट संख्या दिखायी गयी है, उसका कुछ खयाल आने के लिये कल्पना करके इस प्रकार समझाया जा सकता है।

मान लीजिये कि संपूर्ण सूचि-श्रेणि के प्रदेश ३२००००० हैं और अलङ्गुमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेश २५६। २५६ का प्रथम वर्गमूल १६ और तीसरा वर्गमूल २ होता है। तीसरे वर्गमूल के साथ, प्रथम वर्गमूल को गुणने से ३२ होते हैं, ३२ का ३२००००० में भाग देने पर १००००० लब्ध होते हैं; इनमें से १ कम कर देने पर, शेष बचे ९९९९९। कल्पनानु-सार यह संख्या, जो वस्तुत: असंख्यातरूप है, उसे मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या समझनी चाहिये[3]।

---

"सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खित्तं।
अङ्गुलसेढीमित्ते, ओसप्पिणीउ असंखेज्जा ॥३७॥"

—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० $\frac{३६}{१}$।

१—रज्जु, घनीकृत लोक, सूचि-श्रेणि और प्रतर आदि का स्वरूप पाँचवें कर्मग्रन्थ की ९७वीं गाथा से जान लेना चाहिये।

२—जिस संख्या का वर्ग किया जाय, वह संख्या उस वर्ग का वर्ग-मूल है।

३—मनुष्य की यही संख्या इसी रीति से गोम्मटसार-जीवकाण्ड की १५६ वीं गाथा में बतलाया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी



नारक भी असंख्यात हैं, परन्तु नारकों की असंख्यात संख्या मनुष्यों की असंख्यात संख्या से असंख्यातगुनी अधिक है। नारकों की संख्या को शास्त्र में इस प्रकार बतलाया है:

काल से वे असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के समयों के तुल्य हैं। तथा क्षेत्र से, सात रज्जु-प्रमाण घनीकृत लोक के अङ्गुलमात्र प्रतर-क्षेत्र में जितनी सूचि-श्रेणियाँ होती हैं, उनके द्वितीय वर्गमूल को, उन्हीं के प्रथम वर्गमूल के साथ गुणने पर, जो गुणनफल हो उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों की संख्या और नारकों की संख्या बराबर होती है। इसको कल्पना से इस प्रकार समझ सकते हैं।

कल्पना कीजिये कि अङ्गुलमात्र प्रतर-क्षेत्र में २५६ सूचि-श्रेणियाँ हैं। इनका प्रथम वर्गमूल १६ हुआ और दूसरा ४। १६ को ४ के साथ गुणने से ६४ होता है। ये ६४ सूचि-श्रेणियाँ हुईं। प्रत्येक सूचि श्रेणी के ३२००००० प्रदेशों के हिसाब से, ६४ सूचि-श्रेणियों के २०४८००००० प्रदेश हुए, इतने ही नारक हैं।

भवनपति देव असंख्यात हैं, इनमें से असुर कुमार की संख्या इस प्रकार बतलायी गयी है:—अङ्गुलमात्र आकाश-क्षेत्र के जितने प्रदेश हैं, उनके प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश-प्रदेश आ सकते हैं, उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर असुरकुमार की संख्या होती है। इसी प्रकार नागकुमार आदि अन्य सब भवनपति देवों की भी संख्या समझ लेनी चाहिये[2]।

इस संख्या को समझने के लिये कल्पना कीजिये कि अङ्गुलमात्र आकाश- क्षेत्र में २५६ प्रदेश हैं। उनका प्रथम वर्गमूल होगा १६।

---

१—गोम्मटसार में दी हुई नारकों की संख्या, इस संख्या से नहीं मिलती। इसके लिये देखिये, जीवकाण्ड की १५२वीं गाथा।

२—गोम्मटसार में प्रत्येक निकाय की जुदा-जुदा संख्या न देकर सब भवनपतियों की संख्या एक साथ दिखायी है। इसके लिये देखिये, जीवकाण्ड की १६०वीं गाथा।

१६का कल्पना से असंख्यातवाँ भाग २ मान लिया जाया तो २ सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर असुरकुमार हैं। प्रत्येक सूचि-श्रेणियों ३२००००० प्रदेश कल्पना से माने गये हैं। तदनुसार २ सूचि-श्रेणियों के ६४००००० प्रदेश हुए। यही संख्या असुरकुमार आदि प्रत्येक भवनपति की समझनी चाहिये, जो कि वस्तुतः असंख्यात ही है।

व्यन्तरनिकाय के देव भी असंख्यात हैं। इनमें से किसी एक प्रकार के व्यन्तर देवों की संख्या का मान इस प्रकार बतलाया गया है। सङ्ख्यात योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश हैं, उनसे घनीकृत लोक के असंख्यातवें भाग में रहने वाले प्रदेशों को भाग दिया जाय, भाग देने पर जितने प्रदेश लब्ध होते हैं, प्रत्येक प्रकार के व्यन्तर देव उतने होते हैं[1]।

इसे समझने के लिये कल्पना कीजिये कि सङ्ख्यात योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणि के १००००० प्रदेश हैं। प्रत्येक सूचि-श्रेणि के ३२००००० प्रदेशों की कल्पित संख्या के अनुसार, समग्र प्रतर के १०२४०००००००००० प्रदेश हुए। अब इस संख्या को १००००० भाग देने पर १०२४०००० लब्ध होते हैं। यही एक व्यन्तर निकाय की संख्या हुई। यह सङ्ख्या वस्तुतः असंख्यात है।

ज्योतिषी देवों की असङ्ख्यात सङ्ख्या इस प्रकार मानी गयी है। २५६ अङ्गुल-प्रमाण-श्रेणी के जितने प्रदेश होते हैं, उनसे समग्र प्रतर के प्रदेशों को भाग देना, भाग देने से जो लब्ध हों, उतने ज्योतिषी देव[2] हैं।

---

१—व्यन्तर का प्रमाण गोम्मटसार में यही जान पड़ता है, देखिये, जीवकाण्ड की १५६वीं गाथा।

२—ज्योतिषी देवों की संख्या गोम्मटसार में भिन्न है। देखिये जीवकाण्ड की १५६वीं गाथा।

इसको भी कल्पना से इस प्रकार समझना चाहिये। २५६ अङ्गुल-प्रमाण सूचि-श्रेणि में २५६ प्रदेश होते हैं, उनसे समग्र प्रतर के कल्पित १०२४०००००००००० को भाग देना, भागने से लब्ध हुए १५६२५०००० । यही, मान ज्योतिषी देवों का समझना चाहिये।

वैमानिक देव, असङ्ख्यात हैं। इनकी असङ्ख्यात संख्या इस प्रकार दरसायी गयी है:—अङ्गुलमात्र आकाश-क्षेत्र के जितने प्रदेश हैं, उनके तीसरे वर्गमूल का घन[1] करने से जितने आकाश-प्रदेश हों, उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर वैमानिकदेव[2] है।

इसको कल्पना से इस प्रकार बतलाया जा सकता है:—अङ्गुलमात्र आकाश के २५६ प्रदेश हैं। २५६ का तीसरा वर्गमूल २। २ का घन ८ है। ८ सूचि-श्रेणियों के प्रदेश २५६००००० होते हैं; क्योंकि प्रत्येक सूचि-श्रेणियों के प्रदेश, कल्पना से ३२००००० मान लिये गये हैं। यही संख्या वैमानिकों की संख्या समझनी चाहिये।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक सब देव मिलकर नारकों से असङ्ख्यातगुण होते हैं।

देवों से तिर्यञ्चों के अनन्तगुण होने का कारण यह है कि अनन्त-कायिक-वनस्पति जीव, जो संख्या में अनन्त हैं, वे भी तिर्यञ्च हैं। क्योंकि-वनस्पतिकायिक जीवों को तिर्यञ्चगतिनाम कर्म का उदय होता है ॥३७॥

---

१—किसी संख्या के वर्ग के साथ उस संख्या को गुणने से जो गुणनफल प्राप्त होता है, वह उस संख्या का घन है'। जैसे:—४ का वर्ग १६- उसके साथ ४ को गुणने से ६४ होता है। यही चार का घन है।

२—सब वैमानिकों की संख्या गोम्मटसार में एक साथ न देकर जुदा-जुदा दी है।

—जीव० गा० १६०—१६२।

## इन्द्रिय और कायमार्गणा का अल्प-बहुत्वः—

**पणचउतिदुएगिंदि थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा ।**
**तस थोव असंखग्गी, भूजलनिल अहिय वण णंता ॥३८॥**

पञ्चचतुस्त्रिद्वयेकेन्द्रियाः, स्तोकास्त्र्यधिका अनन्तगुणाः ।
त्रसाःस्तोका असंख्या, अग्नयो भूजलानिला अधिका वना अनन्ताः॥३७ ।

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय जीव सबसे थोडे हैं । पञ्चेन्द्रियों से चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रियों से त्रीन्द्रिय और त्रीन्द्रियों से द्वीन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं । द्वीन्द्रियों से एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुण हैं ।

त्रसकायिक जीव अन्य सब काय के जीवों से थोड़े हैं । इनसे अग्निकायिक जीव असङ्ख्यात गुण हैं । अग्निकायिकों से पृथिवीकायिक, पृथिवीकायिकों से जलकायिक और जलकायिकों से वायुकायिक विशेषाधिक हैं । वायुकायिकों से वनस्पतिकायिक अनन्तगुण हैं ॥३८॥

भावार्थ—असङ्ख्यात कोटाकोटी योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणी के जितने प्रदेश हैं, घनीकृत लोक की उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर द्वीन्द्रिय जीव आगम में कहे गये हैं । त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च द्वीन्द्रिय के बराबर ही कहे गये हैं ।

---

१—यह अल्प-बहुत्व प्रज्ञापना में पृ० १२०—१/६ तक है । गोम्मटसार की इन्द्रियमार्गणा में द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त का विशेषाधिकत्व यहाँ के समान वर्णित है ।

—जीव० गा० १७७—७८ ।

कायमार्गणा में तेजःकायिकआदि का भी विशेषाधिकत्व यहाँ के समान है ।

—जीव० गा० २०३ से आगे ।

२—एक संख्या अन्य संख्या से बड़ी होकर भी जब तक दूनी न हो: तब तक वह उसे 'विशेषाधिक' कही जाती है । यथा ४ या ५की संख्या ३ से विशेषाधिक है, पर ६ की संख्या ३ से दूनी है, विशेषाधिक नहीं ।

इसलिये यह शङ्का होती है कि जब आगम में[1] द्वीन्द्रिय आदि जीवों की संख्या समान कही हुई है तब पञ्चेन्द्रिय आदि जीवों का उपर्युक्त अल्प-बहुत्व कैसे घट सकता है ? । इसका समाधान यह है कि असंख्यात सङ्ख्या के असङ्ख्यात प्रकार हैं । इसलिये असंख्यात कोटाकोटी योजन-प्रमाण 'सूचि-श्रेणी' शब्द से सब जगह एक ही असङ्ख्यात सङ्ख्या न लेकर भिन्न-भिन्न लेनी चाहिये । पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के परिमाण की असङ्ख्यात सङ्ख्या इतनी छोटी ली जाती है कि जिससे अन्य सब पञ्चेन्द्रियों को मिलाने पर भी कुल पञ्चेन्द्रिय जीव चतुरिन्द्रियों की अपेक्षा कम ही होते हैं । द्वीन्द्रियों से एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुण इसलिये कहे गये हैं कि साधारण वनस्पतिकाय के जीव अनन्तानन्त हैं, जो सभी एकेन्द्रिय है ।

सब प्रकार के त्रस घनीकृत लोक के एक प्रतर के प्रदेशों के बराबर भी नहीं होते और केवल तेज कायिक जीव, असङ्ख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर होते हैं । इसी कारण त्रस सबसे थोड़े और तेजः कायिक उनसे असङ्ख्यातगुण माने जाते हैं । तेजः कायिक, पृथिवीकायिक, जलकायिक और वायुकायिक, ये सभी सामान्यरूप से असंख्यात लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण आगम में[2] माने गये हैं । तथापि इनके परिमाण सम्बन्धी असङ्ख्यात सङ्ख्या भिन्न-भिन्न समझनी चाहिये । वायुकायिक जीवों से वनस्पतिकायिक इसलिये अनन्तगुण कहे गये हैं कि निगोद के जीव अनन्त लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण हैं, जो वनस्पतिकायिक हैं ॥३८॥

---

१—अनुयोग द्वार-सूत्र, पृ० २०३, २०४ ।
२—अनुयोग द्वार, पृ० २०५ ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



## योग और वेदमार्गणा का अल्प-बहुत्व[1]

**मणवयणकायजोगा, थोवा असंखगुण अणंतगुणा ।**
**पुरिसा थोवा इत्थी संखगुणाणंतगुण कीवा ॥३९॥**

मनोवचनकाययोगाः, स्तोका असङ्ख्यगुणा अनन्तगुणाः ।
पुरुषाः स्तोकाः स्त्रियः, सङ्ख्यगुणा अनन्तगुणाः क्लीबाः ॥३९॥

**अर्थ**—मनोयोगवाले अन्य योगवालों से थोड़े हैं । वचनयोग वाले उनसे असंख्यातगुण और काययोगवाले वचनयोग वालों से अनन्तगुण हैं ।

पुरुष सबसे थोड़े हैं । स्त्रियाँ पुरुषों से संख्यातगुण और नपुंसक स्त्रियों से अनन्तगुण हैं ॥३९॥

**भावार्थ**—मनोयोग वाले अन्य योगवालों से इसलिये थोड़े माने गये हैं कि मनोयोग संज्ञी जीवों में ही पाया जाता है । और संज्ञी जीव अन्य सब जीवों से अल्प ही हैं । वचनयोग वाले मनोयोग वालों से असंख्यगुण कहे गये हैं । इसका कारण यह है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये सभी वचनयोग वाले हैं । काययोग वाले वचनयोगियों से अनन्तगुण इस अभिप्राय से कहे गये हैं कि मनोयोगी तथा वचनयोगी के अतिरिक्त एकेन्द्रिय भी काययोग वाले हैं ।

तिर्यञ्च-स्त्रियाँ तिर्यञ्च पुरुषों से तीन गुनी और तीन अधिक होती

---

१—यह अल्प-बहुत्व, प्रज्ञापना के १३४वें पृष्ट में है । गोम्मटसार में पन्द्रह योगों को लेकर संख्या का विचार किया है । देखिये, जीव० गा० २५८—२६९ ।

वेद-विषयक अल्प-बहुत्व का विचार भी उसमें कुछ भिन्न प्रकार से है । देखिये, जीव० गाथा० २७३–२८० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी


है। मनुष्य-स्त्रियाँ मनुष्य जाति के पुरुषों से सताईसगुनी[1] और सत्ताईस अधिक होती हैं। देवियाँ देवों से बत्तीसगुनी[2] और बत्तीस अधिक होती हैं। इसी कारण पुरुषों से स्त्रियाँ संख्यातगुण मानी हुई हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और नारक, ये सब नपुंसक ही हैं। इसी से नपुंसक स्त्रियों की अपेक्षा अनन्तगुण माने हुए हैं ॥ ३९ ॥

**कषाय, ज्ञान, संयम और दर्शनमार्गणाओं का अल्प-बहुत्व:—**

[ तीन गाथाओं से ]

**माणी कोही माई, लोही अहिय मणनाणिनो थोवा।**
**ओहि अस खा मइसुय, अहियसम असंख विब्भंगा ॥४०॥**

मानिनः क्रोधिनो मायिनो, लोभिनोऽधिका मनोज्ञानिनः स्तोकाः।
अवधयोऽसंख्या मतिश्रुता, अधिकास्समा असङ्ख्या विभङ्गाः ॥४०॥

अर्थ—मानकषायवाले अन्य कषायवालों से थोड़े हैं। क्रोधी मानियों से विशेषाधिक हैं। मायावी क्रोधियों से विशेषाधिक हैं। लोभी मायावियों से विशेषाधिक हैं।

मनःपर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियों से थोड़े हैं। अवधिज्ञानी मनःपर्यायज्ञानियों से असंख्यगुण हैं। मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी आपस में तुल्य हैं। परन्तु अवधिज्ञानियों से विशेषाधिक ही हैं। विभङ्गज्ञानी श्रुतज्ञानवालों से असङ्ख्यगुण हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ— मान वाले क्रोध आदि अन्य कषाय वालों से कम हैं, इसका कारण यह है कि मान की स्थिति क्रोध आदि अन्य कषायों की स्थिति की अपेक्षा अल्प है। क्रोध मान की अपेक्षा अधिक देर तक ठहरता है। इसी से क्रोध वाले मानियों से अधिक हैं। माया की स्थिति क्रोध की स्थिति से अधिक है तथा वह क्रोधियों की अपेक्षा

---

१—देखिये, पञ्चसंग्रह द्वा० २, गा० ६५।

२—देखिये, पञ्चसंग्रह द्वा० २, गा० ६८।

अधिक जीवों में पायी जाती है। इसी से मायावियों को क्रोधियों की अपेक्षा अधिक कहा है। मायावियों से लोभियों को अधिक कहने का कारण यह है कि लोभ का उदय दसवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है, पर माया का उदय नववें गुणस्थान तक ही है।

जो जीव मनुष्य-देहधारी, संयम वाले और अनेक-लब्धि-सम्पन्न हों उनको ही मनःपर्यायज्ञान होता है। इसी से मनःपर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियों से अल्प हैं सम्यक्त्वी कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चों को और सम्यक्त्वी सब देव-नारकों को अवधिज्ञान होता है। इसी कारण अवधिज्ञानी मनःपर्यायज्ञानियों से असंख्यगुण हैं। अवधिज्ञानियों के अतिरिक्त सभी सम्यक्तवी मनुष्य-तिर्यञ्च मति-श्रुत-ज्ञान वाले हैं। अतएव मति-श्रुत-ज्ञानी अवधिज्ञानियों से कुछ अधिक हैं। मति-श्रुत दोनों, नियम से सहचारी हैं, इसी से मति-श्रुत-ज्ञान वाले आपस में तुल्य हैं। मति-श्रुत-ज्ञानियों से विभङ्गज्ञानियों के असङ्ख्यगुण होने का कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि वाले देव-नारक, जो कि विभङ्ग-ज्ञानी ही हैं, वे सम्यक्त्वी जीवों से असङ्ख्यातगुण हैं॥ ४०॥

केवलिणो णंतगुणा, मइसुय अन्नाणि णंतगुण तुल्ला।
सुहुमा थोवा परिहा-र संख अहखाय संखगुणा॥४१॥

केवलिनोऽनन्तगुणाः, मतिश्रुताऽज्ञानिनोऽनन्तगुणास्तुल्या।
सूक्ष्माः स्तोकाः परिहाराः संख्या यथाख्याताःसंख्यगुणाः॥४१॥

अर्थ—केवलज्ञानी विभगज्ञानियों से अनन्तगुण हैं। मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी, ये दोनों आपस में तुल्य हैं; परन्तु केवल-ज्ञानियों से अनन्तगुण हैं।

सूक्ष्मसम्परायचारित्र वाले अन्य चारित्र वालों से अल्प हैं। परिहारविशुद्ध चारित्र वाले सूक्ष्मसम्पराय चारित्रियों से संख्यात गुण हैं। यथाख्यात चारित्र वाले परिहार विशुद्ध चारित्रियों से संख्यात गुण हैं।

भावार्थ—सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी केवलज्ञानी हैं, इसी से केवलज्ञानी विभङ्गज्ञानियों से अनन्तगुण हैं। वनस्पतिक कायिक जीव

सिद्धों से भी अनन्त गुण हैं और वे सभी मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी ही हैं। अत एव मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी, दोनों का केवल ज्ञानियों से अनन्तगुण होना संगत है। मति और श्रुत-ज्ञान की तरह मति और श्रुत-अज्ञान, नियम से सहचारी हैं, इसी से मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी आपस में तुल्य है।

सूक्ष्मसंपराय चारित्री उत्कृष्ट दो सौ से नौ सौ तक, परिहार-विशुद्ध चारित्री उत्कृष्ट दो हजार से नौ हजार तक और यथाख्यात-चारित्री उत्कृष्ट दो करोड़ से नौ करोड़ तक हैं। अत एव इन तीनों प्रकार के चारित्रियों का उत्तरोत्तर संख्यात गुण अल्प-बहुत्व माना गया है ॥४१॥

छेयसमईय संखा, देस असंखगुण णंतगुण अजया।
थोवअसंखदुणंता, ओहिनयणकेवलअचक्खू ॥४२॥

छेदसामायिकाः संख्या., देशा असंख्यगुणा अनन्तगुणा अयताः।
स्तोकाऽसंख्यद्व्यनन्तान्यवधिदृग् केवलाऽचक्षूणि ॥४२॥

अर्थ—छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले यथाख्यात चारित्रियों से संख्यात गुण हैं। सामायिक चारित्र वाले छेदोपस्थापनीय चारित्रियों से संख्यात गुण हैं। अविरत वाले देशविरतों से अनन्त गुण हैं।

अवधिदर्शनी अन्य सब दर्शन वालों से है। चक्षुर्दर्शनी अवधिदर्शन वालों से असंख्यात गुण हैं। केवलदर्शनी चक्षुर्दर्शन वालों से अनन्तगुण हैं। अचक्षुर्दर्शनी केवल दर्शनियों से भी अनन्तगुण हैं।

भावार्थ—यथाख्यात चारित्र वाले उत्कृष्ट दो करोड़ से नौ करोड़ तक होते हैं; छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले उत्कृष्ट दो सौ करोड़ से नौ सौ करोड़ तक और सामायिक चारित्र वाले उत्कृष्ट दो हजार करोड़ से नौ हजार करोड़ तक पाये जाते हैं। इसी कारण ये उपर्युक्त रीति से संख्यातगुण माने गये हैं। तिर्यञ्च भी देशविरत होते हैं; ऐसे तिर्यञ्च असंख्यात होते हैं। इसी से सामायिक चारित्र-वालों से देशविरति वाले असंख्यातगुण कहे गये हैं। उक्त चारित्र-

वालों को छोड़ अन्य सब जीव अविरत हैं, जिनमें अनन्तानन्त वनस्पतिकायिक जीवों का समावेश है। इसी अभिप्राय से अविरत जीव देशविरति वालों की अपेक्षा अनन्तगुण माने गये है।

देवों, नारकों तथा कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चों को ही अवधिदर्शन होता है। इसी से अन्य दर्शनवालों की अपेक्षा अवधिदर्शनी अल्प है। चक्षुर्दर्शन, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन तीनों प्रकार के जीवों में होता है। इसलिये चक्षुर्दर्शन वाले अवधिदर्शनियों की अपेक्षा असंख्यातगुण कहे गये हैं। सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी केवलदर्शनी हैं, इसी से उनकी संख्या चक्षुर्दर्शनियों की संख्या से अनन्तगुण है। अचक्षुर्दर्शन सभी संसारी जीवों में होता है, जिनमें अकेले वनस्पतिकायिक जीव ही अनन्तानन्त है। इसी कारण अचक्षुर्दर्शनि को केवलदर्शनियों से अनन्तगुण कहा है।

## लेश्या आदि पांच मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व[1]।

[ दो गाथाओं से। ]

पच्छाणुपुव्विलेसा, थोवा दो संख णंत दो अहिया।
अभवियर थोवणंता, सासण थावोवसम संखा ॥४३॥

पश्चानुपूर्व्या लेश्याः, स्तोका द्वे संख्ये अनन्ता द्वे अधिके।
अभव्येतराः स्तोकानन्ताः, सासादना स्तोका उपशमाः संख्याः ॥४३॥

अर्थ – लेश्याओं का अल्प-बहुत्व पश्चानुपूर्वी से—पीछे की ओर से—जानना चाहिये। जैसे:—शुक्कलेश्यावाले, अन्य सब लेश्यावालों से अल्प हैं। पद्मलेश्यावाले, शुक्कलेश्यावालों से संख्यातगुण हैं। तेजोलेश्या वाले, पद्मलेश्यावालों से संख्यातगुण हैं। तेजोलेश्यावालों से कापोतलेश्यावाले अनन्तगुण हैं। कापोतलेश्यावालों से नीललेश्यावाले विशेषाधिक हैं। कृष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावालों से भी विशेषाधिक हैं।

अभव्य जीव, भव्य जीवों से अल्प हैं। भव्य जीव, अभव्य जीवों की अपेक्षा अनन्तगुण हैं।

---

१—लेश्या का अल्प-बहुत्व प्रज्ञापना पृ $\frac{१३५}{१}$ $\frac{३५२}{२}$ भव्य मार्गणा का पृ० $\frac{१३६}{१}$

सासादनसम्यग्दृष्टिवाले, अन्य सब दृष्टिवालों से कम हैं। औपशमिकसम्यग्दृष्टि वाले, सासादन सम्यग्दृष्टि वालों से संख्यातगुण हैं ॥४३॥

भावार्थ—लान्तक देवलोक से लेकर अनुत्तरविमान तक के वैमानिकदेवों को तथा गर्भ-जन्य संख्यातवर्ष आयुवाले कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चों को शुक्ललेश्या होती है। पद्मलेश्या, सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक के वैमानिकदेवों को और गर्भ-जन्य संख्यात वर्ष आयु वाले कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चों को होती है। तेजोलेश्या, बादर पृथ्वी, जल और वनस्पतिकायिक जीवों को, कुछ पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च-मनुष्य, भवनपति और व्यन्तरों को, ज्योतिषों को तथा सौधर्म-ईशान कल्प के वैमानिकदेवों को होती है। सब पद्मलेश्या वाले मिलाकर सब शुक्ललेश्यावालों की अपेक्षा संख्यातगुण[1] हैं। इसी तरह सब तेजोलेश्यावाले मिलाये जायँ तो सब पद्मलेश्यावालों से संख्यातगुण ही होते हैं। इसी से इनका

---

संज्ञिमार्गणा का पृ० १३६ और आहारकमार्गणा का पृ० १३२ पर है। अल्प-बहुत्व पद में सम्यक्त्वमार्गणा का जो अल्प-बहुत्व पृ० १३६ पर है, वह संक्षिप्तमात्र है।

गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ५३६ से लेकर ५४१ वीं तक की गाथाओं में जो लेश्या का अल्प-बहुत्व द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि को लेकर बतलाया गया है, वह कहीं-कहीं यहाँ से मिलता है और कहीं-कहीं नहीं मिलता।

भव्यमार्गणा में अभव्य की संख्या उसमें कर्मग्रन्थ की तरह जघन्ययुक्तानन्त कही हुई है।

—जी० गा० ५५६।

सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारकमार्गणा का अल्प-बहुत्व उसमें वर्णित है।

—जी० गा० ६५६—६५८—६६२—६७०।

अल्प-बहुत्व संख्यातगुण कहा है। कापोतलेश्या, अनन्तवनस्पतिकायिक जीवों को होती है, इसी सबब से कापोतलेश्यावाले तेजोलेश्यावालों से अनन्तगुण कहे गये हैं। नीललेश्या, कापोतलेश्या वालों से भी अधिक

---

१—लान्तक से लेकर अनुत्तरविमान तक के वैमानिकदेवों की अपेक्षा सनत्कुमार से लेकर ब्रह्मलोक तक के वैमानिकदेव असंख्यातगुण हैं। इसी प्रकार सनत्कुमार आदि के वैमानिक देवों की अपेक्षा केवल ज्योतिषदेव ही असंख्यात गुण हैं। अत एव यह शङ्का होती है कि पद्मलेश्या वाले शुक्ललेश्या वालों से और तेजोलेश्या वाले पद्मलेश्या वालों से असंख्यातगुण न मानकर संख्यातगुण क्यों माने जाते हैं?

इसका समाधान इतना ही है कि पद्मलेश्या देव शुक्ललेश्या वाले देवों से असंख्यातगुण है सही, पर पद्मलेश्या वाले देवों की अपेक्षा शुक्ललेश्या वाले तिर्यञ्च असंख्यातगुण हैं। इसी प्रकार पद्मलेश्या वाले देवों से तेजोलेश्या वाले देवों के असंख्यातगुण होने पर भी तेजलेश्या वाले देवों से पद्मलेश्यावाले तिर्यञ्च असंख्यातगुण हैं। अत एव सब शुक्ललेश्या वालों से सब पद्मलेश्यावाले इनसे सब तेजोलेश्यावाले संख्यातगुण ही होते हैं। सारांश, केवल देवों की अपेक्षा शुक्ल आदि उक्त तीन लेश्याओं का अल्प-बहुत्व विचारा जाता, तब तो असंख्यातगुण कहा जाता; परन्तु यह अल्प-बहुत्व सामान्य जीवराशि को लेकर कहा गया है और पद्मलेश्यावाले देवों से शुक्ललेश्यावाले तिर्यञ्चों की तथा तेजोलेश्यावाले देवों से पद्मलेश्यावाले तिर्यञ्चों की संख्या इतनी बड़ी है; जिससे कि उक्त संख्यातगुण ही अल्प-बहुत घट सकता है।

श्रीजयसोमसूरि ने शुक्ललेश्या से तेजोलेश्या तक का अल्प-बहुत्व असंख्यातगुण लिखा है; क्योंकि उन्होंने गाथा-गत 'दो संखा' पद के स्थान में 'दोऽसंख्या' का पाठान्तर लेकर व्याख्या की है और अपने टबे में यह भी लिखा है कि किसी-किसी प्रति में 'दो संखा' का पाठान्तर है, जिसके अनुसार संख्यातगुण का अल्प-बहुत्व समझना चाहिये, जो सुज्ञों को विचारणीय है।

'दोऽसंखा' यह पाठान्तर वास्तविक नहीं है। 'दो संखा' पाठ ही तथ्य है। इसके अनुसार संख्यातगुण अल्प-बहुत्व का शङ्का-समाधान-पूर्वक विचार, सुज्ञ श्रीमलयगिरिसूरि ने प्रज्ञापना के अल्प-बहुत्व तथा लेश्यापद की अपनी वृत्ति में बहुत स्पष्ट रीति से किया है।—पृ० $\frac{३६}{१}$, $\frac{३६५}{१}$।

जीवों में होती है; क्योंकि नीललेश्या कापोत की अपेक्षा विलष्टतर अध्यवसायरूप और कृष्णलेश्या नीललेश्या से क्लिष्टतम अध्यवसायरूप है। यह देखा जाता है कि क्लिष्ट, क्लिष्टतर और क्लिष्टतम परिणामवाले जीवों की संख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती है।

भव्य जीव, अभव्य जीवों की अपेक्षा अनन्तगुण हैं; क्योंकि अभव्य-जीव 'जघन्ययुक्त' नामक चौथी अनन्तसंख्या-प्रमाण हैं, पर भव्य जीव अनन्तानन्त हैं।

औपशमिकसम्यक्त्व को त्याग कर जो जीव मिथ्यात्व की ओर झुकते हैं, उन्हीं को सासादनसम्यक्त्व होता है, दूसरों को नहीं। इसी से अन्य सब दृष्टिवालों से सासादनसम्यग्दृष्टिवाले कम ही पाये जाते हैं। जितने जीवों को औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, वे सभी उस सम्यक्तव को दमन कर मिथ्यात्व के अभिमुख नहीं होते, किन्तु कुछ ही होते हैं; इसी से औपशमिकसम्यक्त्व से गिरने वालों की अपेक्षा उसमें स्थिर रहने वाले संख्यातगुण पाये जाते हैं॥ ४३॥

मीसा संखा वेयग, असंखगुण खइयमिच्छ दु अणंता।
संनियर थोव णंता,-णहार थोवेयर असंखा॥ ४४॥

मिश्राः संख्या वेदका, असंख्यगुणाः क्षायिकमिश्रा द्वावनन्तौ।
संज्ञीतरे स्तोकानन्ता, अनाहारकाः स्तोका इतरेऽसंख्याः॥ ४४॥

अर्थ—मिश्रदृष्टिवाले, औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालों से संख्यातगुण हैं। वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टिवाले जीव, मिश्रदृष्टिवालों से असंख्यातगुण हैं। क्षायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीव, वेदकसम्यग्दृष्टिवालों से अनन्तगुण हैं। मिथ्यादृष्टिवाले जीव, क्षायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीवों से भी अनन्तगुण हैं।

प्रेरणिक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संज्ञी जीव, असंज्ञी जीवों की अपेक्षा कम हैं और असंज्ञी जीव, उनसे अनन्तगुण हैं। अनाहारक जीव, आहारक जीवों की अपेक्षा कम हैं और आहारक जीव, उनसे असंख्यातगुण हैं ॥८४॥

भावार्थ—मिश्रदृष्टि पाने वाले जीव दो प्रकार के हैं। एक तो वे, जो पहले गुणस्थान को छोड़कर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते हैं और दूसरे वे, जो सम्यग्दृष्टि से च्युत होकर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते हैं। इसी से मिश्रदृष्टिवाले औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालों से संख्यातगुण हो जाते हैं। मिश्रसम्यग्दृष्टिवालों से क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिवालों के असंख्यातगुण होने का कारण यह है कि मिश्रसम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की स्थिति बहुत अधिक है; मिश्रसम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की ही होती है, पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छयासठ सागरोपमकी। क्षायिकसम्यक्त्वी-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वियों से अनन्तगुण हैं; क्योंकि सिद्ध अनन्त हैं और वे सब क्षायिकसम्यक्त्वी ही हैं। क्षायिकसम्यक्त्वियों से भी मिथ्यात्वियों के अनन्तगुण होने का कारण यह है कि सब वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यात्वी ही हैं और वे सिद्धों से भी अनन्तगुण हैं।

देव, नारक, गर्भज-मनुष्य तथा गर्भज-तिर्यञ्च ही संज्ञी हैं, शेष सब संसारी जीव असंज्ञी हैं, जिनमें अनन्त वनस्पतिकायिक जीवों का समावेश है; इसीलिये असंज्ञी जीव संज्ञियों की अपेक्षा अनन्तगुण कहे जाते हैं।

विग्रहगति में वर्तमान, केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में वर्तमान, चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान और सिद्ध ये सब जीव अनाहारक हैं; शेष सब आहारक हैं। इसी से अनाहारकों की अपेक्षा आहारक जीव असंख्यातगुण कहे जाते हैं। वनस्पतिकायिक जीव सिद्धों से भी अनन्तगुण हैं और वे सभी संसारी होने के कारण आहारक हैं। अत एव यह शङ्का होती है कि आहारक

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



जीव, अनाहारकों की अपेक्षा अनन्तगुण होने चाहिये, असंख्य- गुण कैसे ?

इसका समाधान यह है कि एक-एक निगोद-गोलक में अनन्त जीव होते हैं; इनका असंख्यातवाँ भाग प्रतिसमय मरता और विग्रहगति में वर्तमान रहता है । ऊपर कहा गया है कि विग्रहगति में वर्तमान जीव अनाहारक ही होते हैं । ये अनाहारक इतने अधिक होते हैं, जिससे कुल आहारक जीव, कुल अनाहारकों की अपेक्षा अनन्तगुण कभी नहीं होने पाते, किन्तु असंख्यातगुण ही रहते हैं ॥४४॥

# द्वितीयाधिकार के परिशिष्ट ।

## परिशिष्ट "ज" ।

पृष्ठ ५२, पङ्क्ति २३ के 'योगमार्गणा' शब्द पर—

तीन योगों के बाह्य और आभ्यन्तर कारण दिखा कर उनकी व्याख्या राजवार्तिक में बहुत ही स्पष्ट की गई है। उसका सारांश इस प्रकार है: —

(क) बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से होने वाला जो मनन के अभिमुख आत्मा का प्रदेश-परिस्पन्द, वह 'मनोयोग' है। इसका बाह्य कारण मनोवर्गणा का आलम्बन और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम तथा नो-इन्द्रियावरणकर्म का क्षय-क्षयोपशम (मनोलब्धि) है।

(ख) बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य आत्मा का भाषाभिमुख प्रदेश परिस्पन्द वचन-योग' है। इसका बाह्य कारण पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म के उदय से होने वाला वचनवर्गणा का आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम तथा मतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञानावरण आदि कर्म का क्षय-क्षयोपशम (वचनलब्धि) है।

(ग) बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य गमनादि-विषयक आत्मा का प्रदेश-परिस्पन्द 'काययोग' है। इसका बाह्य कारण किसी-न किसी प्रकार की शरीरवर्गणा का आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम है।

यद्यपि तेरहवें और चौदहवें, इन दोनों गुणस्थानों के समय वीर्यान्तरायकर्म का क्षयरूप आभ्यन्तर कारण समान ही है, परन्तु वर्गणालम्बनरूप बाह्य कारण समान नहीं है। अर्थात् वह तेरहवें गुणस्थान के समय पाया जाता है, पर चौदहवें गुणस्थान के समय नहीं पाया जाता। इसी से तेरहवें गुणस्थान में योग-विधि होती है, चौदहवें नहीं। इसके लिये देखिये, तत्त्वार्थ-अध्याय ६, सू० १, राजवार्तिक १०।

योग के विषय में शङ्का-समाधान:—

(क) यह शङ्का होती है कि मनोयोग और वचनयोग, काययोग ही है; क्योंकि इन दोनों योगों के समय, शरीर का व्यापार अवश्य रहता ही

है और इन योगों के आलम्बनभूत मनोद्रव्य तथा भाषाद्रव्य का ग्रहण भी किसी-न किसी प्रकार के शारीरिक-योग से ही होता है।

"इसका समाधान यही है कि मनोयोग तथा वचनयोग, काययोग से जुदा नहीं हैं; किन्तु काययोग-विशेष ही है। जो काययोग मनन करने में सहायक होता है, वही उस समय 'मनोयोग' और जो काययोग, भाषा के बोलने में सहकारी होता है, वही उस समय 'वचनयोग' माना गया है। सारांश यह है कि व्यवहार के लिये ही काययोग के तीन भेद किये हैं।

(ख) यह भी शङ्का होती है कि उक्त रीति से श्वासोछ्वास में सहायक होने वाले काययोगको 'श्वासोछ्वासयोग' कहना चाहिये और तीन की जगह चार योग मानने चाहिये।

इसका समाधान यह दिया गया है कि व्यवहार में, जैसा भाषा का और मन का विशिष्ट प्रयोजन दीखता है, वैसा श्वासोच्छ्वास और शरीर का प्रयोजन वैसा भिन्न नहीं है, जैसा शरीर और मन-वचन का। इसी से तीन ही योग माने गये हैं? इस विषय के विशेष विचार के लिये विशेषावश्यक-भाष्य, गा० ३५६–३६४ तथा लोकप्रकाश–सर्ग ३, श्लो० १३५४–१३५५ के बीच का गद्य देखना चाहिये।

द्रव्यमन, द्रव्यवचन और शरीर का स्वरूप:—

(क) जो पुद्गल मन बनने के योग्य हैं, जिनको शास्त्र में 'मनोवर्गणा' कहते हैं वे जब मनरूप में परिणत हो जाते हैं—विचार करने में सहायक हो सकें, ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं—तब उन्हें 'मन' कहते हैं। शरीर में द्रव्यमन के रहने का कोई खास स्थान तथा उसका नियत आकार श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में नहीं है। श्वेताम्बर–सम्प्रदाय के अनुसार द्रव्यमन को शरीर–व्यापी और शरीराकार समझना चाहिये। दिगम्बर-सम्प्रदाय में उसका स्थान "हृदय तथा आकार" कमल कासा माना है।

(ख) वचन रूप में परिणत एक प्रकार के पुद्गल, जिन्हें भाषा-वर्गणा कहते हैं, वे ही 'वचन' कहलाते हैं।

(ग) जिससे चलना-फिरना, खाना-पीना आदि हो सकता है, जो सुख–दुःख भोगने का स्थान है और जो औदारिक, वैक्रिय आदि वर्गणाओं से बनता है, वह 'शरीर' कहलाता है।

★★★

## परिशिष्ट "झ"।

पृष्ठ ६५, पङ्क्ति ८ के 'सम्यक्त्व' शब्दपर—

इसका स्वरूप, विशेष प्रकार से जानने के लिये निम्नलिखित कुछ बातों का विचार करना बहुत उपयोगी है:—

(१) सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक ?

(२) क्षायोपशमिक आदि भेदों का आधार क्या है ?

(३) औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व का आपस में अन्तर तथा क्षायिक सम्यक्त्व की विशेषता।

(४) शङ्का-समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदय का स्वरूप।

(५) क्षयोपशम और उपशमकी व्याख्या तथा खुलासावार विचार।

(१)— सम्यक्त्व-परिणाम सहेतुक है या निर्हेतुक ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उसको निर्हेतुक नहीं मान सकते; क्योंकि जो वस्तु निर्हेतुक हो, वह सब काल में, सब जगह एक सी होनी चाहिये अथवा उसका अभाव होना चाहिये। सम्यक्त्व-परिणाम, न तो सबमें समान है और न उसका अभाव है। इसलिये उसे सहेतुक ही मानना चाहिये। सहेतुक मान लेने पर वह प्रश्न होता है कि उसका नियत हेतु क्या है; प्रवचन-श्रवण, भगवत्पूजन आदि जो-जो बाह्य निमित्त माने जाते हैं, ये तो सम्यक्त्व के नियम हो ही नहीं सकते; क्योंकि इन बाह्य निमित्तों के होते हुए भी अभव्यों की तरह अनेक भव्यों को सम्यक्त्व-परिणाम प्रकट होने में नियत कारण जीवका तथाविध भव्यत्व-नामक अनादि परिणामिक-स्वभाव विशेष ही है। जब इस परिणामिक भव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व-लाभ होता है। भव्यत्व परिणाम साध्य रोग के समान है। कोई साध्य रोग, स्वयमेव (बाह्य उपाय के बिना ही) शान्त हो जाता है। किसी साध्य रोग के शान्त होने में वैद्य का उपचार भी दरकार है और कोई साध्य रोग ऐसा भी होता है, जो बहुत दिनों के बाद मिटता है। भव्यत्व-स्वभाव ऐसा ही है। अनेक जीवों का भव्यत्व, बाह्य निमित्त के बिना ही परिपाक प्राप्त करता है। ऐसे भी जीव हैं, जिनके भव्यत्व-स्वभाव का परिपाक होने में शास्त्र श्रवण आदि बाह्य निमित्तों की आवश्यकता पड़ती है। और अनेक जीवों का भव्यत्व परिणाम दीर्घ-काल व्यतीत हो चुकने पर स्वयं ही परिपाक प्राप्त करता है। शास्त्र-श्रमण, अर्हत्पूजन आदि जो बाह्य निमित्त है, वे सहकारी मात्र हैं। उनके द्वारा कभी-कभी भव्यत्व का परिपाक होने में मदद मिलती है, इसी से व्यवहार में वे सम्यक्त्व के कारण माने गये है और उनके आलम्बन की आवश्यकता दिखायी जाती है। परन्तु निश्चय-दृष्टि से तथाविध-भव्यत्व के विपाक को ही सम्यक्त्व का

अव्यभिचारी (निश्चित) कारण मानना चाहिये । इससे शास्त्र-श्रवण, प्रतिमा-पूजन आदि बाह्य क्रियाओं की अनैकान्तिकता, जो अधिकारी भेद पर अवलम्बित है, उसका खुलासा हो जाता है । यही भाव, भगवान् उमास्वाति ने 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' – तत्त्वार्थ-अ० १, सूत्र ३ से प्रकट किया है और यही बात पञ्चसंग्रह-द्वार १, गा० ८ की मलयगिरि टीका में भी है।

(२)—सम्यक्त्व गुण, प्रकट होने के आभ्यन्तर कारणों की जो विविधता है, वही क्षायोपशमिक आदि भेदों का आधार है:—अनन्तानुबन्धि चतुष्क और दर्शनमोहनीय-त्रिक, इन सात प्रकृतियों का क्षयोपशम, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वका; उपशम, औपशमिकसम्यक्त्वका और क्षय, क्षायिकसम्यक्त्वका कारण है । तथा सम्यक्त्व से गिरा कर मिथ्यात्व की ओर झुकानेवाला अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय, सासादनसम्यक्त्वका कारण और मिश्रमोहनीय का उदय, मिश्रसम्यक्त्वका कारण है । औपशमिकसम्यक्त्वमें काललब्धि आदि अन्य क्या-२ निमित्त अपेक्षित हैं और वह किस-२ गति में किन-२ कारणों से होता है, इसका विशेष वर्णन तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकसम्यक्त्वका वर्णन क्रमशः—तत्त्वार्थअ० २, सू० ३के १ले और २रे राजवार्तिक में तथा सू० ४ और ५ के ७वें राजवार्तिक में है।

(३)—औपशमिकसम्यक्त्व के समय, दर्शनमोहनीय का किसी प्रकार का उदय नहीं होता; पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्व के समय, सम्यक्त्व मोहनीयका विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय का प्रदेशोदय होता है । इसी भिन्नता के कारण शास्त्र में औपशमिकसम्यक्त्व को, 'भावसम्यक्त्व' और क्षायोपशमिकसम्यक्त्वको, 'द्रव्यसम्यक्त्व' कहा है । इन दोनों सम्यक्त्वों से क्षायिकसम्यक्त्व विशिष्ट है;क्योंकि वह स्थायी है और ये दोनों अस्थायीहैं।

(४)—यह शङ्का होती है कि मोहनीयकर्म घातिकर्म है । वह सम्यक्त्व और चारित्रपर्याय का घात करता है, इसलिये सम्यक्त्वमोहनीय के विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय के प्रदेशोदय के समय, सम्यक्त्व-परिणाम व्यक्त कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय, मोहनीयकर्म है सही, पर उसके दलिक विशुद्ध होते हैं ; क्योंकि शुद्ध अध्यवसाय से जब मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के दलिकों का सर्वघाती रस नष्ट हो जाता है, तब वे ही एक-स्थान रसवाले और द्विस्थान अतिमन्द रसवाले दलिक 'सम्यक्त्वमोहनीय' कहलाते हैं । जैसे:—काँच आदि पारदर्शक वस्तुएँ नेत्र दर्शन-कार्य में रुकावट नहीं डालतीं, वैसे ही मिथ्यात्वमोहनीय के शुद्ध दलिकों का विपाकोदय सम्यक्त्व-परिणाम के आविर्भाव में प्रतिबन्ध नहीं

करता। अब रहा मिथ्यात्व का प्रदेशोदय, सो वह भी, सम्यक्त्व-परिणाम का प्रतिबन्धक नहीं होता; क्योंकि नीरस दलिकों का ही प्रदेशोदय होता है। जो दलिक, मन्द रसवाले हैं, उनका विपाकोदय भी, जब गुण का घात नहीं करता, तब नीरस दलिकों के प्रदेशोदय से गुण के घात होने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। देखिये, पञ्चसंग्रह-द्वार १, १५वीं गाथा की टीका में ग्यारहवें गुणस्थान की व्याख्या।

(५)—क्षयोपशम-जन्य पर्याय 'क्षायोपशमिक' और उपशम-जन्य पर्याय 'औपशमिक' कहलाता है। इसलिये किसी भी क्षायोपशिक और औपशमिक भाव का यथार्थ ज्ञान करने के लिये पहले क्षयोपशम और उपशमका ही स्वरूप जान लेना आवश्यक है। अतः इसका स्वरूप शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार लिखा जाता है:—

(क) क्षयोपशम शब्द में दो शब्द हैं:—क्षय तथा उपशम। 'क्षयोपशम' शब्द का मतलब, कर्म के क्षय और उपशम दोनों से है। क्षय का मतलब आत्मा से कर्म का विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाना और उपशम का मतलब कर्म का अपने स्वरूप में आत्मा के साथ संलग्न रह कर भी उसपर असर न डालना है। यह तो हुआ सामान्य अर्थ; पर उसका पारिभाषिक अर्थ कुछ अधिक है। बन्धावलिका पूर्ण हो जाने पर किसी विवक्षित कर्म का जब क्षयोपशम शुरू होता है, तब विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यन्त के दलिक, जिन्हें उदयावलिका-प्राप्त या उदीर्ण-दलिक कहते हैं, उनका तो प्रदेशोदय व विपाकोदयद्वारा क्षय (अभाव) होता रहता है; और जो दलिक, विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका तक में उदय पाने योग्य नहीं हैं—जिन्हें उदयवलिका बहिर्भूत या अनुदीर्ण दलिक कहते हैं—उनका उपशम (विपाकोदय की योग्यता का अभाव या तीव्र रससे मन्द रस में परिणमन) हो जाता है, जिससे वे दलिक, अपनी उदयावलिका प्राप्त होने पर, प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदयद्वारा क्षीण हो जाते हैं अर्थात् आत्मापर अपना फल प्रकट नहीं कर सकते या कम प्रकट करते हैं।

इस प्रकार आवलिका पर्यन्त के उदय-प्राप्त कर्मदलिकों का प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय और आवलिका के बाद के उदय पाने योग्य कर्मदलिको की विपाकोदयसम्बन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मन्द रस में परिणमन होते रहने से कर्म का क्षयोपशम कहलाता है।

क्षयोपशम-योग्य कर्म:—क्षयोपशम, सब कर्मों का नहीं होता; सिर्फ घातिकर्मों का होता है। घातिकर्म के देशघाति और सर्वघाति, ये दो भेद हैं। दोनों के क्षयोपशम में कुछ विभिन्नता है।

(क) जब देशघातिकर्म का क्षयोपशम प्रवृत्त होता है, तब उसके

मन्द रस-युक्त कुछ दलिकों का विपाकोदय, साथ ही रहता है। विपाकोदय-प्राप्त दलिक, अल्प रस युक्त होने से स्वावार्य गुण का घात नहीं कर सकते इससे यह सिद्धान्त माना गया है कि देशघातिकर्म के क्षयोपशम के समय, विपाकोदय विरुद्ध नहीं है अर्थात् वह क्षयोपशम के कार्य को—स्वावार्य गुण के विकास को रोक नहीं सकता। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि देशघातिकर्म के विपाकोदय-मिश्रित क्षयोपशम के समय, उसका सर्वघाति-रस-युक्त कोई भी दलिक, उदयमान नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि जब, सर्वघाति-रस, शुद्ध-अध्यवसाय से देशघातिरूप में परिणत हो जाता है, तभी अर्थात् देशघाति-स्पर्धक के ही विपाकोदय-काल में क्षयोपशम अवश्य प्रवृत्त होता है।

घातिकर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं, जिनमें से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और पाँच अन्तराय, इन आठ प्रकृतियों का क्षयोपशम तो सदा से ही प्रवृत्त है; क्योंकि आवार्य मतिज्ञान आदि पर्याय, अनादि काल से क्षायोपशमिक रूप में रहते ही हैं। इसलिये, यह मानना चाहिये कि उक्त आठ प्रकृतियों के देशघाति-रसस्पर्धक का ही उदय होता है, सर्वघाति-रसस्पर्धकका कभी नहीं।

अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण और अवधि-दर्शनावरण, इन चार प्रकृतियों का क्षयोपशम कादाचित्क (अनियत) है, अर्थात् जब उनके सर्वघाति-रसस्पर्धक, देशघातिरूप में परिणत हो जातेहैं; तभी उनका क्षयोपशम होता है और जब सर्वघाति-रसस्पर्धक उदयमानहोते हैं,तब अवधिज्ञान आदि का घात ही होताहै। उक्त चार प्रकृतियों का क्षयो-पशम भी देशघाति-रसस्पर्धकके विपाक दय से मिश्रितही समझना चाहिये।

उक्त बारह के सिवाय शेष तेरह (चार संज्वलन और नौ नोकषाय) प्रकृतियाँ जो मोहनीय की हैं, वे अध्रुवोदयिनी हैं। इसलिये जब उनका क्षयोपशम, प्रदेशोदयमात्र से युक्त होता है, तब तो वे स्वावार्य गुण का लेश भी घात नहीं करतीं और न देशघातिनी ही मानी जाती है; पर जब उनका क्षयोपशम विपाकोदय से मिश्रित होता है, तब वे स्वावार्य गुण का कुछ घात करती हैं और देशघातिनी कहलाती हैं।

(ख) घातिकर्म की बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी है। इनमें से केवल-ज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण, इन दो का तो क्षयोपशम होता ही नहीं; क्योंकि उनके दलिक कभी देशघाति-रसयुक्त बनते ही नहीं और न उनका विपाकोदय ही रोका जा सकता है। शेष अठारह प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनका क्षयोपशम हो सकता है; परन्तु यह बात, ध्यान में रखनी चाहिये कि देश

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



घातिनी प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय, जैसे विपाकोदय होता है, वैसे इन अठारह सर्वघातिनी प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय नहीं होता, अर्थात् इन अठारह प्रकृतियों का क्षयोपशम, तभी सम्भव है, जब उनका प्रदेशोदय ही हो। इसलिये यह सिद्धान्तमाना है कि 'विपाकोदयवती प्रकृतियों का क्षयोपशम, यदि होता है तो देशघातिनी ही का सर्वघातिनी का नहीं'।

अत एव उक्त अठारह प्रकृतियाँ, विपाकोदय के निरोध के योग्य मानी जाती हैं; क्योंकि उनके आवार्य गुणों का क्षायोपशमिक स्वरूप में व्यक्त होना माना गयाहै,जो विपाकोदय केनिरोध के सिवाय घट नहीं सकता।

(२) **उपशमः**—क्षयोपशम की व्याख्या में, उपशम शब्द का जो अर्थ किया गया है, उससे औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ कुछ उदार है। अर्थात् क्षयोपशम के उपशम शब्द का अर्थ सिर्फ विपाकोदयसम्बन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मन्द रस में परिणमन होना है; पर औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का अभाव है; क्योंकि क्षयोपशम में कर्म का क्षय भी जारी रहता है, जो कम से कम प्रदेशोदय के सिवाय हो ही नहीं सकता। परन्तु उपशम में यह बात नहीं, जब कर्म का उपशम होता है, तभी से उसका क्षय रुक ही जाता है, अतएव उसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसी से उपशम- अवस्था तभी मानी जाती है, जब कि अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त में उदय पाने के योग्य दलिकों को कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते हैं और कुछ दलिक पीछे उदय पाने योग्य बना दिये जाते हैं, अर्थात् अन्तरकरण में वेद्य-दलिकों का अभाव होता है।

अतएव क्षयोपशम और उपशम की संक्षिप्त व्याख्या इतनी ही की जाती है कि क्षयोपशम केसमय विपाकोदय या मन्द विपाकोदय होता है, पर उपशम के समय वह भी नहीं होता। यह नियम याद रखना चाहिये कि उपशम भी घातिकर्म का ही हो सकता है, सो भी सब घातिकर्म का नहीं किन्तु केवल मोहनीय कर्म का। अर्थात् प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार का उदय, यदि रोका जा सकता है तो मोहनीय कर्म का ही। इसके लिये देखिये, नन्दी, सू० ८ की टीका, पृ० ७७ कम्मपयडी, श्रीयशोविजयजी-कृत टीका, पृ० १३; पञ्च द्वा० १, गा० २६ की मलयगिरि-व्याख्या सम्यक्त्व के स्वरूप, उत्पत्ति और भेद-प्रभेदादि का सविस्तार विचार देखने के लिये देखिये, लोक प्र०-सर्ग ३, श्लोक ५६६–७००।

---

मार्गदर्शक आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज


## परिशिष्ट "ट"।

**पृष्ठ ७४, पंक्ति २१ के "सम्भव" शब्दपर—**

अठारह मार्गणा में अचक्षुर्दर्शन परिगणित है; अतएव उसमें भी चौदह जीवस्थान समझने चाहिये। परन्तु इस पर प्रश्न यह होता है कि अचक्षुर्दर्शन में जो अपर्याप्त जीवस्थान माने जाते हैं, सो क्या अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अचक्षुर्दर्शन मान कर या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुर्दर्शन होता है; यह मान कर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाय तब तो ठीक है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अपर्याप्त-अवस्था में ही चतुरिन्द्रियद्वारा सामान्य बोध मान करना जैसे:—चक्षुर्दर्शन में तीन अपर्याप्त जीवस्थान १७वीं गाथा में मतान्तर से बतलाये हुये है वैसे ही इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अपर्याप्त-अवस्था में चक्षुर्भिन्न इन्द्रिय द्वारा सामान्य बोध मान कर अचक्षुर्दर्शन में सात अपर्याप्त जीवस्थान घटाये जा सकते हैं।

परन्तु श्रीजयसोमसूरि ने इस गाथा के अपने टबे में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुर्दर्शन मान कर उसमें अपर्याप्त जीवस्थान माने हैं। और सिद्धान्त के आधार से बतलाया है कि विग्रहगति और कार्मणयोग में **अवधिदर्शन रहित जीव को** अचक्षुर्दर्शन होता है। इस पक्ष प्रश्न यह होता है कि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय न होने से अचक्षुदर्शन कैसे मानना ? इसका उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है।

(१) द्रव्येन्द्रिय होने पर द्रव्य और भाव, उभय इन्द्रिय-जन्य उपयोग और द्रव्येन्द्रिय के अभाव में केवल भावेन्द्रिय-जन्य उपयोग, इस तरह दो प्रकार का उपयोग है। विग्रहगति में और इन्द्रियपर्याप्ति होने के पहले, पहले प्रकार का उपयोग, नहीं हो सकता; पर दूसरे प्रकार का दर्शनात्मक सामान्य उपयोग माना जा जसकता है। ऐसा मानने में तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ९ की वृत्तिका—

**"अथवेन्द्रियनिरपेक्षमेव तत्कस्यचिद्भवेद् यतः पृष्ठत उपसर्पन्तं सर्वं बुद्धयैवेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं पश्यत्कीति।"**

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह कथन प्रमाण है। सारांश, इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले उपयोगात्मक अचक्षुर्दर्शन मान कर समाधान किया जा सकता है।

(२) विग्रहगति में और इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, सो शक्तिरूप अर्थात् क्षयोपशमरूप, उपयोगरूप नहीं। यह समाधान, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ४६वीं गाथा की टीका के—

**"त्रयाणामप्यचक्षुर्दर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमात्रास्याभ्युपगमात्।"**

इसउल्लेख के आधार पर दिया गया है।

प्रश्न—इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले जैसे उपयोगरूप या क्षयोपशमरूप अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, वैसे ही चक्षुर्दर्शन क्यों नहीं माना जाता?

उत्तर चक्षुर्दर्शन, नेत्ररूप विशेष इन्द्रिय-जन्य दर्शन को कहते हैं। ऐसा दर्शन उसी समय माना जाता है, जब कि द्रव्यनेत्र हो। अत एव चक्षु-दर्शन को इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही माना है। अचक्षुर्दर्शन किसी-एक इन्द्रिय-अन्य सामान्य उपयोग को नहीं कहते; किन्तु नेत्र भिन्न किसी द्रव्येन्द्रिय से होने वाले, द्रव्यमन से होने वाले या द्रव्येन्द्रिय तथा द्रव्यमन के अभाव में क्षयोपशममात्र से होने वाले सामान्य उपयोग को कहते हैं। इसी से अचक्षुर्दर्शन को इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे, दोनों अवस्थाओं में माना है।

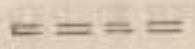

## परिशिष्ट "ठ"।

**पृष्ठ ७८, पंक्ति ११ के 'अनाहारक' शब्दपर—**

अनाहारक जीव दो प्रकार के होते हैं:—छद्मस्थ और वीतराग। वीतराग में जो अशरीरी (मुक्त) हैं, वे सभी सदा अनाहारक ही हैं; परन्तु जो शरीर-धारी हैं, वे केवल समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में ही अनाहारक होते हैं। छद्मस्थ जीव, अनाहारक तभी होते हैं जब वे विग्रहगति मे वर्तमान हों।

जन्मान्तर ग्रहण करने के लिये जीव को पूर्व-स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में जाना पड़ता है। दूसरा स्थान पहले स्थान से विश्रेणि-पतित (वक्र-रेखा) में हो, तब उसे वक्र-गति करती पड़ती है। वक्र-गति के सम्बन्ध में इस जगह तीन बातों पर विचार किया जाता है:—

(१) वक्र-गति में विग्रह (घुमाव) की संख्या, (२) वक्र-गति का काल-परिमाण और (३) वक्र गति में अनाहारकत्व का काल-मान।

(१ कोई उत्पत्ति-स्थान ऐसा होता है कि जिसको जीव एक विग्रह करके ही प्राप्त कर लेता है। किसी स्थान के लिये दो विग्रह करने पड़ते हैं और किसी के लिये तीन भी। नवीन उत्पत्ति-स्थान से कितना ही विश्रेणि-पतित क्यों न हो, पर वह तीन विग्रह में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इसविषय में दिगम्बर-साहित्य में विचारभेद नजर नहीं आता; क्योंकि—

**"विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।"**—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २८।

इस सू० की सर्वार्थसिद्धि-टीका में श्रीपूज्यपादस्वामी ने अधिक से अधिक तीन विग्रहवाली गति का ही उल्लेख किया है। तथा:—

**"एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः।"** तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र ३०।

इस सूत्र के ६ठे राजवार्तिक में भट्टारक श्री अकलङ्कदेव ने भी अधिक से अधिक त्रि-विग्रह-गति का ही समर्थन किया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ६६९वीं गाथा में उक्त मत का ही निर्देश करते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में इस विषय पर मतान्तर उल्लिखित पाया जाता है-

**"विग्रहवती च संसारिणः चतुर्भ्यः।"** - तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र २९।

**"एकं द्वौ वाऽनाहारकः।"** —तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ३०।

श्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के भाष्य में भगवान् उमास्वातिने तथा उसकी टीका में श्रीसिद्धसेनगणि ने त्रि-विग्रहगति का उल्लेख किया है। साथ ही उक्त भाष्य की टीका में चतुर्विग्रह-गति का मतान्तर भी दरसाया है। इस मतान्तर का उल्लेख बृहत्संग्रहणी की ३२५ वीं गाथा में और श्रीभगवती-शतक ७, उद्देश १ की तथा शतक १४, उद्देश १ की

टीका में भी है। किन्तु इस मतान्तर का जहाँ-कहीं उल्लेख है, वहाँ सब जगह यही लिखा है कि चतुर्विग्रहगति का निर्देश किसी मूल सूत्र में नहीं है। इससे जान पड़ता है कि ऐसी गति करने वाले जीव ही बहुत कम हैं। उक्त सूत्रों के भाष्य में तो यह स्पष्ट लिखा है कि त्रि-विग्रह वाली गति का संभव ही नहीं है।

**"अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुस्समयपराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति, परतो न सम्भवन्ति।"**

भाष्य के इस कथन से तथा दिगम्बर-ग्रन्थों में अधिक से अधिक त्रि-विग्रह गति का ही निर्देश पाये जाने से और भगवती-टीका आदि में जहाँ-कहीं चतुर्विग्रहगति का मतान्तर है, वहाँ सब जगह उसकी अल्पता दिखायी जाने के कारण अधिक से अधिक तीन विग्रहवाली गतिही का पक्ष बहुमान्य समझना चाहिये।

(२) वक्र-गति के काल-परिमाण के सम्बन्ध में यह नियम है कि वक्र-गति का समय विग्रह की अपेक्षा एक अधिक ही होता है। अर्थात् जिस गति में एक विग्रह हो, उसका काल-मान दो समयों का, इस प्रकार द्वि-विग्रह गति का काल-मान तीन समयों का और त्रि-विग्रहगति का काल-मान चार समयों का है। इस नियम में श्वेताम्बर-दिगम्बर का कोई मत-भेद नहीं। हाँ, ऊपर चतुर्विग्रहगति के मतान्तर का जो उल्लेख किया है, उसके अनुसार उस गति का काल-मान पांच समयों का बतलाया गया है।

(३) विग्रहगति में अनाहारकत्व के काल-मान का विचार व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियों से किया हुआ पाया जाता है। व्यवहारवादियों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छोड़ने का समय, जो वक्र-गति का प्रथम समय है, उसमें पूर्व शरीर-योग्य कुछ पुद्गल लोमाहारद्वारा ग्रहण किये जाते हैं।—बृहत्संग्रहणी गा० ३२६ तथा उसकी टीका; लोक० सर्ग ३, श्लोक, ११०७ से आगे। परन्तु निश्चयवादियों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छूटने के समय में अर्थात् वक्र-गति के प्रथम समय में न तो पूर्व-शरीर का ही सम्बन्ध है और न नया शरीर बना है; इसलिये उस समय किसी प्रकार के आहार का संभव नहीं।—लोक० स० ३, श्लोक १११५ से आगे। व्यवहारवादी हो या निश्चयवादी, दोनों इस बात को बराबर मानते हैं कि वक्र-गति का अन्तिम समय, जिसमें जीव नवीन स्थान में उत्पन्न होता है, उसमें अवश्य आहार ग्रहण होता है। व्यवहारनय के अनुसार अनाहारकत्व का काल-मान इस प्रकार समझना चाहिये:—

एक विग्रहवाली गति, जिसकी काल-मर्यादा दो समय की है, उसके दोनों समय में जीव आहारक ही होता है; क्योंकि पहले समय में पूर्व-

शरीर–योग्य लोमाहार ग्रहण किया जाता है और दूसरे समय में नवीन शरीर–योग्य आहार। दो विग्रहवाली गति, जो तीन समय की है और तीन विग्रहवाली गति, जो चार समय की है, उसमें प्रथम तथा अन्तिम समय में आहारकत्व होने पर भी बीच के समय में अनाहारक-अवस्था पायी जाती है। अर्थात् द्वि-विग्रहगति के मध्य में एक समय तक और त्रि-विग्रह गति में प्रथम तथा अन्तिम समय को छोड़, बीच के दो समय पर्यन्त अनाहारक स्थिति रहती है। व्यवहारनय का यह मत कि विग्रह की अपेक्षा अनाहारकत्व का समय एक कम ही होता है, तत्त्वार्थ-अध्याय २ के ३१वें सूत्र में तथा उसके भाष्य और टीका में निर्दिष्ट है। साथ ही टीका में व्यवहारनय के अनुसार उपर्युक्त पाँच समय-परिमाण चतुर्विग्रहवति गति के मतान्तर को लेकर तीन समय का अनाहारकत्व भी बतलाया गया है। सारांश, व्यवहारनय की अपेक्षा से तीन समय का अनाहारकत्व, चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर से ही घट सकता है, अन्यथा नहीं। निश्चय-दृष्टि के अनुसार यह बात नहीं है। उसके अनुसार तो जितने विग्रह उतने ही समय अनाहारकत्व के होते हैं। अत एव उस दृष्टि के अनुसार एक विग्रहवाली वक्रगति में एक समय, दो विग्रहवाली गति में दो समय और तीन विग्रहवाली गति में तीन समय अनाहारकत्व के समझने चाहिये। यह बात दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के ३०वें सूत्र तथा उसकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक-टीका में है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर का उल्लेख है, उसको लेकर निश्चयदृष्टि से विचार किया जाय तो अनाहारकत्व के चार समय भी कहे जा सकते हैं।

सारांश, श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थ-भाष्य आदि में एक या दो समय के अनाहारकत्व का जो उल्लेख है, वह व्यवहारदृष्टि से और दिगम्बरीय तत्त्वार्थ आदि ग्रन्थों में जो एक, दो या तीन समय के अनाहारकत्व का उल्लेख है, वह निश्चयदृष्टि से। अत एव अनाहारकत्व के काल-मान के विषय में दोनों सम्प्रदाय में वास्तविक विरोध को अवकाश ही नहीं है।

प्रसङ्ग-वश यह बात जानने योग्य है कि पूर्व-शरीर का परित्याग, पर-भवकी आयु का उदय और गति (चाहे ऋजु हो या वक्र), ये तीनों एक समय में होते हैं। विग्रहगति के दूसरे समय में पर-भव की आयु के उदय का कथन है, सो स्थूल व्यवहारनय की अपेक्षा से—पूर्व-भव का अन्तिम समय, जिसमें जीव विग्रहगति के अभिमुख हो जाता है, उसको उपचार से विग्रहगति का प्रथम समय मानकर—समझना चाहिये।

—बृहत्संग्रहणी, गा० ३२५, मलयगिरि-टीका।

## परिशिष्ट "ङ" ।

पृष्ठ ८५, पंक्ति ११ के 'अवधिदर्शन' शब्द पर—

अवधिदर्शन और गुणस्थान का सम्बन्ध विचारने के समय मुख्यतया दो बातें जानने की हैं, (१) पक्ष-भेद और (२) उनका तात्पर्य।

(१) पक्ष-भेद। प्रस्तुत विषय में मुख्य दो पक्ष हैं:— क) कार्मग्रन्थिक और (ख) सैद्धान्तिक।

(क। कार्मग्रन्थिक-पक्ष भी दो है। इनमें से पहला पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। यह पक्ष, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की २९वीं गाथा में निर्दिष्ट है, जो पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान मानने वाले कार्मग्रन्थिकों को मान्य है। दूसरा पक्ष, तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। यह पक्ष आगे की ४८वीं गाथा में तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ७०वीं व ७१वीं गाथा में निर्दिष्ट है, जो पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान माननेवाले कार्मग्रथिकों को मान्य है। ये दोनों पक्ष, गोम्मटसार जीवकाण्ड की ६९० और ७०४वीं गाथा में हैं। इनमें से प्रथम पक्ष, तत्त्वार्थ-अ० १के ८वें सूत्र की सर्वार्थसिद्धि में भी है। वह यह है:—

"अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्टयादीनि क्षीणकषायान्तानि।"

(ख) सैद्धान्तिक-पक्ष बिल्कुल भिन्न है। वह पहले आदि बारह गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। जो भगवती-सूत्रसे मालूम होता है। इस पक्ष को श्रीमलयगिरिसूरि ने पञ्चसंग्रह-द्वार १ की ३१वीं गाथा की टीका में तथाप्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की २९वीं गाथाकी टीकामें स्पष्टता से दिखाया है।

"ओहिदंसणअणगारोवउत्ताणं भंते। किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा! णाणी वि अन्नाणी वि। जइ नाणी ते अत्थेगइआ तिण्णाणी, अत्थेगइआ चउणाणी। जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी ओहिणाणी। जे चउणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी। जे अण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी विभंगनाणी।" —भगवती-शतक ८, उद्देश २।

(२)—उनका (उक्त पक्षों का) तात्पर्य:—

(क)पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान माननेवाले औरपहले दोगुणस्थानों में अज्ञान मानने वाले,दोनों प्रकार के कार्मग्रन्थिक विद्वान अवधिज्ञान से अवधिदर्शन को अलग मानते हैं,पर विभङ्गज्ञान से नहीं, वे कहते है कि–

विशेष अवधि-उपयोग से सामान्य अवधि-उपयोग भिन्न है; इसलिये जिस प्रकार अवधि-उपयोग वाले सम्यक्त्वी में अवधिज्ञान और अवधिदर्शन, दोनों अलग-अलग हैं, इसी प्रकार अवधिउपयोग वाले अज्ञानी में भी विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, ये दोनों वस्तुतः भिन्न हैं सही, तथापि विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, इन दोनों के पारस्परिक भेद की अविवक्षामात्र है। भेद विवक्षित न रखने का सबब दोनों का सादृश्यमात्र है। अर्थात् जैसे विभङ्गज्ञान विषय का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता, वैसे ही अवधिदर्शन सामान्यरूप होनेके कारण विषय का निश्चय नहीं कर सकता।

इस अभेद-विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे आदि नौ गुणस्थानों में और दूसरे मत के अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन समझना चाहिये।

(ख) सैद्धान्तिक विद्वान विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, दोनों के भेद की विवक्षा करते हैं, अभेद की नहीं। इसी कारण वे विभङ्गज्ञानों में अवधिदर्शन मानते है। उनके मत से केवल पहले गुणस्थान में विभङ्गज्ञान का संभव है, दूसरे आदि में नही। इसलिये वे दूसरे आदि ग्यारह गुण-स्थानों में अवधिज्ञान के साथ और पहले गुणस्थान में, विभङ्गज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर पहले बारह गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानते हैं। अवधिज्ञानी के और विभङ्गज्ञानी के दर्शन में निराकारता-अंश समान ही है। इसलिये विभङ्गज्ञानी के दर्शन की 'विभङ्गदर्शन' ऐसी अलग संज्ञा न रखकर 'अवधिदर्शन' ही संज्ञा रखी है।

सारांश, कार्मग्रन्थिक-पक्ष, विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, इन दोनों के भेद की विवक्षा नहीं करता और सैद्धान्तिक पक्ष करता है।

—लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लोक १०५७ से आगे।

इस मतभेदका उल्लेख विशेषणवती ग्रन्थमें श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया है,जिस की सूचना प्रज्ञापना-पद १८,वृत्ति पृ॰(कलकत्ता)५६६पर है।

## परिशिष्ट "ढ" ।

पृष्ठ ८६, पंक्ति २० के 'आहारक' शब्द पर—

[केवलज्ञानी के आहार पर विचार ।]

तेरहवें गुणस्थान के समय आहारकत्वका अङ्गीकार यहाँके समान दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें है। —तत्त्वार्थ-अ० १, सू०८की सर्वार्थसिद्धि ।

"आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयतस्थानानि"

इसी तरह गोम्मटसार-जीवकाण्डकी ६६५ और ६६७वीं गाथा भी इसके लिये देखने योग्य है।

उक्त गुणस्थानमें असातवेदनीयका उदय भी दोनों सम्प्रदायके ग्रन्थों (दूसरा कर्मग्रन्थ, गा० २२; कर्मकाण्ड, गा० २७१)में माना हुआ है। इसी तरह उस समय आहारसंज्ञा न होनेपर भी कार्मणशरीरनामकर्म के उदय से कर्मपुद्गलोंकी तरह औदारिकशरीरनामकर्मके उदय से औदारिक-पुद्गलों का ग्रहण दिगम्बरीय ग्रन्थ (लब्धिसार गा० ६१४)में भी स्वीकृत है। आहारकत्वकी व्याख्या गोम्मटसार में इतनी अधिक स्पष्ट है कि जिससे केवलीकेद्वारा औदारिक, भाषा और मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाने के सम्बन्धमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता (जीव० गा० ६६३—६६४)। औदारिक पुद्गलोंका निरन्तर ग्रहण भी एक प्रकारका आहार है, जो 'लो माहार' कहलाता है। इस आहारके लिये जानेतक शरीरका निर्वाह और इसके अभावमें शरीरका अनिर्वाह अर्थात् योग-प्रवृत्ति पर्यन्त औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध है। इस तरह केवलज्ञानीमें आहारकत्व, उसका कारण असातवेदनीयका उदय और औदारिक पुद्गलों का ग्रहण, दोनों सम्प्रदायको समानरूपसे मान्य है। दोनों सम्प्रदाय की यह विचार-समता इतनी अधिक है कि इसकेसामने कवलाहारका प्रश्न विचारशीलोंकी दृष्टिमें आप ही आप हल हो जाता है।

केवलीज्ञानी कवलाहारको ग्रहण नहीं करते, ऐसा माननेवाले भी उनकेद्वारा अन्य सूक्ष्म औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण किया जाना निर्विवाद मानते ही हैं। जिनके मतमें केवलज्ञानी कवलाहार ग्रहण करते हैं; उनके मत से वह स्थूल औदारिक पुद्गलके सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार कवलाहार माननेवाले-न माननेवाले उभयके मत में केवलज्ञानीकेद्वारा किसी-न-किसी प्रकारके औदारिक पुद्गलों का ग्रहण किया जाना समान है। ऐसी दशामें कवलाहारके प्रश्नको विरोध का साधन बनाना अर्थ-हीन है।

= = = =

## परिशिष्ट "त" ।

पृष्ठ ९६, पंक्ति २० के 'दृष्टिवाद' शब्दपर—

**[स्त्रीको दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अङ्ग पढ़नेका निषेधहै, इसपर विचार ।]**

[समानता:–]व्यवहार और शास्त्र, ये दोनों, शारीरिक और अध्यात्मिक-विकासमें स्त्रीको पुरुषकेसमान सिद्ध करते हैं। कुमारी ताराबाईका शरीरिक-बलमें प्रो० राममूर्तिसेकम न होना, विदुषी ऐनी बीसेन्टका विचार व वक्तृत्व-शक्तिमेंअन्य किसी विचारक वक्ता-पुरुषसे कम न होना एवं विदुषी सरोजिनी नाइडूका कवित्व-शक्तिमें किसी प्रसिद्ध पुरुष-कविसे कम न होना, इस बात का प्रमाण है कि समान साधन और अवसर मिलनेपर स्त्री भी पुरुष-जितनी योग्यता प्राप्त कर सकती हैं । श्वेताम्बर-आचार्योंने स्त्रीको पुरुषके बराबर योग्य मानकर उसे कैवल्य व मोक्षकी अर्थात् शारीरिक और आध्यात्मिक पूर्ण विकासकी अधिकारिणी सिद्ध किया है। इसके लिये देखिये, प्रज्ञापना-सू०७, पृ० १८; नन्दी-सू० २१, पृ० १३०/१ ।

इस विषयमें मत-भेद रखनेवाले दिगम्बर-आचार्यों के विषयमें उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है। इसकेलिये देखिये, नन्दी-टीका, पृ०१३१/१–१३३/१; प्रज्ञापना-टीका, २०-२२/१; पृ० शास्त्रवार्तासमुच्चय-टीका, पृ०४२५-४३०।

आलङ्कारिक पण्डित राजशेखरने मध्यस्थभावपूर्वक स्त्रीजातिको पुरुष जातिके तुल्य बतलाया है,—

**"पुरुषवत् योषितोऽपि कविभवेयुः । संस्कारो ह्यात्मनि समवैति न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते । श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रतिबुद्धाः कवयश्च ।"**

—काव्यमीमांसा-अध्याय १० ।

[विरोध:–]स्त्रीको दृष्टिवादके अध्ययनका जो निषेध किया है, इसमें दो तरहसे विरोध आता है:–(१)तर्क-दृष्टि से और(२) शास्त्रोक्त मर्यादासे।

(१)–एक ओर स्त्रीको केवलज्ञान व मोक्ष तककी अधिकारिणी मानना और दूसरी ओर उसे दृष्टिवादके अध्ययनकेलिये–श्रुतज्ञान-विशेषकेलिये–अयोग्य बतलाना, ऐसा विरुद्ध जान पड़ता है, जैसे किसी को रत्न सौंपकर कहना कि तुम कौड़ी की रक्षा नहीं कर सकते ।

(२)–दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध करनेसे शास्त्र-कथित कार्य-कारण भावकी मर्यादा भी बाधित हो जाती है। जैसे:–शुक्लध्यानके पहले दो पाद प्राप्त किये बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता; 'पूर्व'के ज्ञानके बिना शुक्ल-ध्यानके प्रथम दो पाद प्राप्त नहीं होते और 'पूर्व', दृष्टिवादका एक हिस्सा है। यह मर्यादा शास्त्रमें निर्विवाद स्वीकृत है।

"शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।" —तत्त्वार्थ-अ० ९, सू० ३९।

इस कारण दृष्टिवादके अध्ययनकी अनधिकारिणी स्त्री को केवलज्ञान की अधिकारिणी मान लेना स्पष्ट विरुद्ध जान पड़ता है।

दृष्टिवादके अनाधिकारके कारणोंके विषय में दो पक्ष हैं:—

(क) पहला पक्ष, श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदिका है। इस पक्ष में स्त्रीमें तुच्छत्व, अभिमान, इन्द्रिय-चाञ्चल्य, मति-मान्द्य आदि मानसिक दोष दिखाकर उसको दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध दिया है। इसकेलिये देखिये, विशे० भा०, ५५२वीं गाथा।

(ख) दूसरा पक्ष, श्रीहरिभद्रसूरि आदिका है। इस पक्षमें अशुद्धिरूप शारीरिक-दोष दिखाकर उसका निषेध किया है। यथा:—

**कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः? तथाविधविग्रहे ततो दोषात्।"**

ललितविस्तरा, पृ०, १३१।

[नयदृष्टिसे विरोधका परिहार:—]दृष्टिवादके अनधिकारसे स्त्रीको केवलज्ञानके पानेमें जो कार्य-कारण-भावका विरोध दीखता है, वह वस्तुतः विरोध नहीं है; क्योंकि शास्त्र, स्त्रीमें दृष्टिवादके अर्थ-ज्ञानकी योग्यता मानता है; निषेध सिर्फ शाब्दिक-अध्ययनका है।

**'श्रेणिपरिणतौ तु कालगर्भवद्भावतो भावोऽविरुद्ध एवं।"**

—ललितविस्तरा तथा इसकी श्रीमुनिचन्द्रसूरि-कृत पञ्जिका, पृ० १११।

तप, भावना आदिसे जब ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम तीव्र हो जाता है, तब स्त्री शाब्दिक-अध्ययनके सिवाय ही दृष्टिवादका सम्पूर्ण अर्थ-ज्ञान कर लेती है और शुक्लध्यानके दो पाद पाकर केवलज्ञानको भी पा लेती है–

**"यदि च 'शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगावसेयभावेष्वतिसूक्ष्मेष्वपि तेषांविशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगत्' पूर्वधरस्येव बोधातिरेकेसद्भावा-**

दाद्यशुक्लध्यानद्वय प्राप्तेः केवलावाप्तिक्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोषः, अध्ययनमन्तरेणापि भावतः पूर्ववित्त्वसंभवात्, इति विभाव्यते, तदा निर्ग्रन्थीनामप्येवं द्वितयसंभवे दोषाभावात् । —शास्त्रवार्ता०, पृ० ४२६ ।

यह नियम नहीं है कि गुरु-मुखसे शाब्दिक-अध्ययन बिना किये अर्थ-ज्ञान न हो । अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो किसी से बिना पढ़े ही मनन चिन्तन-द्वारा अपने अभीष्ट विषयका गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।

अब रहा शाब्दिक-अध्ययनका निषेध, सो इसपर अनेक तर्क-वितर्क उत्पन्न होते हैं । यथा—जिसमें अर्थ-ज्ञानकी योग्यता मान ली जाय, उसको सिर्फ शाब्दिक-अध्ययनके लिये अयोग्य बतलाना क्या संगत है? शब्द, अर्थ-ज्ञानका साधनमात्र है । तप, भावना आदि अन्य साधनोंसे जो अर्थ-ज्ञान संपादन कर सकता है, वह उस ज्ञान को शब्द द्वारा संपादन करनेकेलिये अयोग्य है, यह कहना कहाँतक संगत है? शाब्दिक-अध्ययनके निषेधकेलिये तुच्छत्व अभिमान आदि जो मानसिक-दोष दिखाये जाते हैं, वे क्या पुरुषजातिमें नहीं होते? यदि विशिष्ट पुरुषोंमें उक्त दोषों का अभाव होनेके कारण पुरुष सामान्यकेलिये शाब्दिक-अध्ययनका निषेध नहीं किया है तो क्या पुरुष-तुल्य विशिष्ट स्त्रियोंका संभव नहीं है? यदि असंभव होता तो स्त्रीमोक्षका वर्णन क्यों किया जाता? शाब्दिक-अध्ययनकेलिये जो शारीरिक-दोषोंकी संभावना की गयी है, वह भी क्या सब स्त्रियों को लागू पड़ती है? यदि कुछ स्त्रियों को लागू पड़ती है तो क्या कुछ पुरुषों में भी शारीरिक-अशुद्धिकी संभावना नहीं है? ऐसी दशामें पुरुषजातिको छोड़ स्त्रीजातिके लिये शाब्दिक-अध्ययनका निषेध किस अभिप्रायसे किया है? इन तर्कोंके सम्बन्धमें संक्षेपमें इतना ही कहना है कि मानसिक या शारीरिक-दोष दिखाकर शाब्दिक-अध्ययनका जो निषेध किया गया है, वह प्रायिक जान पड़ता है, अर्थात् विशिष्ट स्त्रियोंकेलिये अध्ययनका निषेध नहीं है । इसके समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि जब विशिष्ट स्त्रियाँ, दृष्टि-वादका अर्थ-ज्ञान, वीतराग-भाव, केवलज्ञान और मोक्ष तक पानेमें समर्थ हो सकती हैं, तो फिर उनमें मानसिकदोषोंकी संभावना ही क्या है? तथा वृद्ध अप्रमत्त और परमपवित्र आचारवाली स्त्रियोंमें शारीरिक-अशुद्धि कैसे बतलायी जा सकती है? जिनको दृष्टिवादके अध्ययनकेलिये योग्य समझा जाता है, वे पुरुष भी, जैसे:—स्थूलभद्र, दुर्बलिका पुष्यमित्र आदि तुच्छत्व; स्मृति-दोष आदि कारणोंसे दृष्टिवादकी रक्षा न कर सके ।

"तेण चिंतियं भोगणीएं इड्ढि दरिसेमित्ति सीहरूवं विउव्वई।"

—आवश्यक वृत्ति, पृ० ६६८/१।

'ततो आयरिएहिं दुब्बलियपूससित्तो तस्स वायणायरिओ दिण्णो, ततो सो कइवि दिवसे वायणं दाऊण आयरियमुवट्ठितो भणइ-मम वायणं देंतस्स नासति, जं च सण्णायघरे नाणुप्पेहियं, अतो मम अज्झरंतस्स नवमं पुव्वं नासिहित, ताहे आयरिया चिंतेति-जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं झरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरनट्ठं चेव।"

आवश्यकवृत्ति, पृ० ३०८।

ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर भी स्त्रियोंको ही अध्ययनका निषेध क्यों किया गया? इस प्रश्नका उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है:—(१) समान सामग्री मिलनेपर भी पुरुषोंके मुकाबिलेमें स्त्रियोंका कम संख्यामें योग्य होना और (२) ऐतिहासिक-परिस्थिति।

(१)—जिन पश्चिमीय देशोंमें स्त्रियोंको पढ़ने आदिकी सामग्री पुरुषों के समान प्राप्त होती है, वहांका इतिहास देखनेसे यही जान पड़ता है कि स्त्रियां पुरुषोंके तुल्य हो सकती हैं सही, पर योग्य व्यक्तियोंकी संख्या, स्त्री जाति की अपेक्षा पुरुष जाति में अधिक पायी जाती है।

(२)—कुन्दकुन्द-आचार्य सरीखे प्रतिपादक दिगम्बर-आचार्योंने स्त्री जातिको शारीरिक और मानसिक-दोषके कारण दीक्षा तककेलिये अयोग्य ठहराया।

"लिंगम्मि य इत्थीणं, थणंतरे णाहिकक्खदेसम्मि।
भणिओ सुहुमो काओ, तासं कह होइ पव्वज्जा॥"

षट्पाहुड-सूत्रपाहुड गा० २४–२५

और वैदिक विद्वानोंने शारीरिक-शुद्धि को अग्र-स्थान देकर स्त्री और शूद्र जातिको सामान्यतः वेदाध्ययन के लिये अनधिकारी बतलाया:—

"स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्"

इन विपक्षी सम्प्रदायोंका इतना असर पड़ा कि उससे प्रभावित होकर पुरुषजातिके समान स्त्रीजातिकी योग्यता मानते हुए भी श्वेताम्बर-आचार्य उसे विशेष-अध्ययनकेलिये अयोग्य बतलाने लगे होंगे।

ग्यारह अङ्ग आदि पढ़नेका अधिकार मानते हुए भी सिर्फ बारहवें अङ्गके निषेधका सबब यह भी जान पड़ता है कि दृष्टिवादका व्यवहारमें महत्व बना रहे। उस समय विशेषतया शारीरिक-शुद्धिपूर्वक पढ़नेमें वेद आदि ग्रन्थोंकी महत्ता समझी जाती थी। दृष्टिवाद, सब अङ्गोंमें प्रधान था, इसलिये व्यवहारदृष्टिसे उसकी महत्ता रखनेकेलिये अन्य बड़े पड़ोसी समाज का अनुकरण कर लेना स्वाभाविक है। इस कारण पारमार्थिक-दृष्टिसे स्त्री को संपूर्णतया योग्य मानते हुए भी आचार्योंने व्यवहारदृष्टिसे शारीरिक-अशुद्धिका खयालकर उसको, शाब्दिक-अध्ययनमात्रकेलिये अयोग्य बतलाया होगा।

भगवान् गौतमबुद्धने स्त्रीजातिको भिक्षुपदकेलिये अयोग्य निर्धारित किया था परन्तु भगवान् महावीरने तो प्रथमसे ही उसको पुरुषके समान भिक्षुपदकी अधिकारिणी निश्चित किया था। इसीसे जैनशासनमें चतुर्विध सङ्घ प्रथमसे ही स्थापित है और साधु तथा श्रावकोंकी अपेक्षा साध्वियों तथा श्राविकाओंकी संख्या आरम्भसे ही अधिक रही है परन्तु अपने प्रधान शिष्य "आनन्द"के आग्रहसे बुद्ध भगवान्ने जब स्त्रियोंको भिक्षु पद दिया, तब उनकी संख्या धीरे-धीरे बहुत बढ़ी और कुछ शताब्दियोंके बाद अशिक्षा कुप्रबन्ध आदि कई कारणों से उनमें बहुत-कुछ आचार-भ्रंश हुआ, जिससे कि बौद्ध-सङ्घ एक तरह से दूषित समझा जाने लगा। सम्भव है, इस परिस्थितिका जैन-सम्प्रदायपर भी कुछ असर पड़ा हो, जिससे दिगम्बर-आचार्योंने तो स्त्रीको भिक्षुपदके लिये ही अयोग्य कर दिया हो और श्वेताम्बर आचार्योंने ऐसा न करके स्त्रीजातिका उच्च अधिकार कायम रखते हुए भी दुर्बलता, इन्द्रिय-चपलता आदि दोषोंको उस जातिमें विशेषरूपसे दिखाया हो; क्योंकि सहचर-समाजोंके व्यवहारोंका एक दूसरेपर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

---

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



## परिशिष्ट "थ"।

पृष्ठ १०१, पंक्ति १२के 'भावार्थ पर—

इस जगह चक्षुर्दर्शनमें तेरह योग माने गये हैं, पर श्रीमलयगिरिजीने उसमें ग्यारह योग बतलाये हैं। कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र, ये चार योग छोड़ दिये हैं।

—पञ्च० द्वा० १ की १२वीं गाथाकी टीका।

ग्यारह माननेका तात्पर्य यह है कि जैसे अपर्याप्त-अवस्थामें चक्षुर्दर्शन न होनेसे उसमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो अपर्याप्त-अवस्था-भावी योग नहीं होते, वैसे ही वैक्रियमिश्र या आहारकमिश्र-काययोग रहता है, तब तक अर्थात् वैक्रियशरीर या आहारकशरीर अपूर्ण हो तब तक चक्षुर्दर्शन नहीं होता, इसलिये उसमें वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र-योग भी न मानने चाहिये।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि अपर्याप्त-अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जानेके बाद १७वीं गाथा में उल्लिखित मतान्तरके अनुसार यदि चक्षुर्दर्शन मान लिया जाय तो उसमें औदारिकमिश्रकाययोग, जो कि अपर्याप्त-अवस्था-भावी है, उसका अभाव कैसे माना जा सकता है?

इस शङ्काका समाधान यह किया जा सकता है कि पञ्चसंग्रहमें एक ऐसा मतान्तर है, जो कि अपर्याप्त-अवस्थामें शरीरपर्याप्ति पूर्ण न बन जाये तब तब मिश्रयोग मानता है, बन जाने के बाद नहीं मानता। पञ्च० द्वा० १की ७वीं गाथा की टीका। इस मत के अनुसार अपर्याप्त-अवस्थामें जब चक्षुर्दर्शन होता है तब मिश्रयोग न होनेके कारण चक्षुर्दर्शन में औदारिक-मिश्रकाययोगका वर्जन विरुद्ध नहीं है।

इस जगह मनःपर्यायज्ञानमें तेरह योग माने हुए हैं, जिनमें आहारक द्विकका समावेश है। पर गोम्मटसार-कर्मकाण्ड यह नहीं मानता; क्योंकि उसमें लिखा है कि परिहारविशुद्धचारित्र और मनःपर्यायज्ञानके समय आहारकशरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्मका उदय नहीं होता —कर्मकाण्ड गा० ३२४। जब तक आहारक-द्विकका उदय न हो, तब तक आहारकशरीर रचा नहीं जा सकता और उसकी रचनाके सिवाय आहारकमिश्र और आहारक, ये दो योग असम्भव हैं। इससे सिद्ध है कि गोम्मटसार, मनःपर्यायज्ञानमें दो आहारकयोग नहीमानता, इसी बातकी पुष्टि जीवकाण्डकी ७२८वीं गाथासे भी होती है। उसका मतलब इतना-ही है कि मनःपर्यायज्ञान, परिहारविशुद्धसंयम प्रथमोशमसम्यक्त्व और आहारक-द्विक, इन भावोंमेंसे किसी एकके प्राप्त होनेपर शेष भाव प्राप्त नहीं होते।

=====

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

## परिशिष्ट "द"।

**पृ० १०४, पंक्ति ६के 'केवलिसमुद्घात' शब्द पर—**

**[केवलिसमुद्घात के सम्बन्धकी कुछ बातोंका विचार:—]**

(क) पूर्वभावी क्रिया—केवलिसमुद्घात रचनेके पहले एक विशेष क्रिया की जाती है, जो शुभयोगरूप है, जिसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण है और जिसका कार्य उदयावलिकामें कर्मदलिकोंका निक्षेप करना है। इस क्रिया-विशेषको 'आयोजिकाकरण' कहते हैं। मोक्षकी ओर आवर्जित (झुके हुए) आत्माकेद्वारा किये जानेके कारण इसको 'आवर्जितकरण' कहते हैं। और सब केवलज्ञानियोंके द्वारा अवश्य किये जानेके कारण इसको 'आवश्यककरण भी कहते हैं। श्वेताम्बर-साहित्यमें आयोजिकाकरण आदि तीनों संज्ञायें प्रसिद्ध हैं।—विशे० भा०, गा० ३०५०, ५१; तथा पञ्च० द्वा० १, गा०१६ की टीका।

दिगम्बर-साहित्यमें सिर्फ 'आवर्जितकरण' संज्ञा प्रसिद्ध है। लक्षण भी उसमें स्पष्ट है—

"हेट्ठा दंडस्संतो'—मुहुत्तमावज्जिदं हवे करणं।
तं च समुग्घादस्य य, अहिमुहभावो जिणिंदस्स।"

—लब्धिसार, गा० ६१७।

ख) केवलिसमुद्घातका प्रयोजन और विधान-समय:—

जब वेदनीय आदि अघातिकर्मकी स्थिति तथा दलिक, आयुकर्मकी स्थिति तथा दलिकसे अधिक हों तब उनको आपसमें बराबर करनेकेलिये केवलिसमुद्घात करना पड़ता है। इसका विधान, अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयु बाकी रहनेके समय होता है।

(ग) स्वामी—केवलज्ञानी ही केवलिसमुद्घातको रचते हैं।

(घ) काल-मान—केवलिसमुद्घातका काल-मान आठ समयका है।

(ङ) प्रक्रिया—प्रथम समयमें आत्माके प्रदेशोंको शरीरसे बाहर निकालकर फैला दिया जाता है। उस समय उनका आकार, दण्ड जैसा बनता है। आत्मप्रदेशोंका यह दण्ड, ऊँचाईमें लोकके ऊपरसे नीचे तक,

अर्थात् चौदह रज्जु-परिमाण होता है, परन्तु उसकी मोटाई सिर्फ शरीरके बराबर होती है। दूसरे समयमें उक्त दण्डको पूर्व-पश्चिम या उत्तर,दक्षिण फैलाकर उसका आकार, कपाट(किवाड) जैसा बनाया जाता है। तीसरे समयमें कपाटकार आत्म-प्रदेशोंको मन्थाकार बनाया जाता है, अर्थात् पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण. दोनों तरफ फैलानेसे उनका आकार रई (मथनी) का सा बन जाता है। चौथे समयमें विदिशाओंके खाली भागोंको आत्म प्रदेशोंसे पूर्ण करके उनसे सम्पूर्ण लोकको व्याप्त किया जाता है। पाँचवें समय में आत्माके लोक-व्यापी प्रदेशों को सहरण-क्रिया द्वारा फिर मन्थाकार बनाया जाता है। छठे समयमें मन्थाकारसे कपाटाकार बना लिया जाता है। सातवें समयमें आत्म-प्रदेश फिर दण्डरूप बनाये जाते हैं और आठवें समयमें उनको असली स्थितिमें—शरीरस्थ—किया जाता है।

(च) जैन-दृष्टिके अनुसार आत्म-व्यापकताकी सङ्गतिः—उपनिषद् भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें आत्माकी व्यापकताका वर्णन किया है।

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्स्यात्।"

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३—३, ११—१५

"सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥" —भगवद्गीता,१३ १३।

जैन-दृष्टिके अनुसार यह वर्णन अर्थवाद है, अर्थात् आत्माकी महत्ता व प्रशंसाका सूचक है। इस अर्थवादका आधार केवलिसमुद्घातके चौथे समय में आत्माका लोक-व्यापी बनना है। यही बात उपाध्याय श्रीयशोविजयजी ने शास्त्रवार्तासमुच्चयके ३३८वें पृष्ठपर निर्दिष्ट की है।

जैसे वेदनीय आदि कर्मोंको शीघ्र भोगनेकेलिये समुद्घात-क्रिया मानी जाती है, वैसे ही पातञ्जल-योगदर्शनमें 'बहुकायनिर्माणक्रिया' मानी है, जिसको तत्त्वसाक्षात्कर्त्ता योगी, सोपक्रम-कर्म शीघ्र भोगनेकेलिये करता है। —पाद ३, सू० २२का भाष्य तथा वृत्ति; पाद ४, सूत्र ४का भाष्य तथा वृत्ति।

## परिशिष्ट "घ"।

पृ० ११७, पंक्ति १८के 'काल' शब्दपर—

'काल'के सम्बन्धमें जैन और वैदिक, दोनों दर्शनोंमें करीब ढाई हजार वर्ष पहलेसे दो पक्ष चले आते हैं। श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमेंदोनों पक्ष वर्णित हैं। दिगम्बर-ग्रन्थोंमें एक ही पक्ष नजर आता है।

(१) पहला पक्ष, कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। वह मानता है कि जीव और अजीव-द्रव्यका पर्याय-प्रवाह ही 'काल' है। इस पक्ष के अनुसार जीवाजीव-द्रव्यका पर्याय-परिणमन ही उपचारसे काल माना जाता है। इसलिये वस्तुतः जीव और अजीवको ही काल-द्रव्य समझना चाहिये वह उनसे अलग तत्त्व नहीं है। यह पक्ष 'जीवाभिगम' आदि आगमों में है।

आगमके बादके ग्रन्थोंमें, जैसेः—तत्त्वार्थसूत्रमें वाचक उमास्वातिने द्वात्रिंशिकामें श्री सिद्धसेन दिवाकरने, विशेषावश्यक-भाष्यमें श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने, धर्मसंग्रहणीमें श्रीहरिभद्रसूरिने, योगशास्त्रमें, श्रीहेमचन्द्रसूरिने द्रव्य-गुण-पर्यायके रासमें श्री उपाध्याय यशोविजयजीने, लोकप्रकाशमें श्रीविनयविजयजी ने और नयचक्रसार तथा आगमसारमें श्रीदेवचन्द्रजीने आगम-गत उक्त दोनों पक्षोंका उल्लेख किया है। दिगम्बर-सम्प्रदायमें सिर्फ दूसरे पक्षका स्वीकार है, जो सबसे पहिले कीकुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंमें मिलता है। इसके बाद पूज्यपादस्वामी, भट्टारक श्रीअकलङ्कदेव, विद्यानन्दस्वामी, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और बनारसीदास आदिने भी उस एक ही पक्षका उल्लेख किया है।

पहले पक्षका तात्पर्यः—पहला पक्ष कहता है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो व्यवहार, काल-साध्य बतलाये जाते हैं या नवीनता-पुराणता, ज्येष्ठता कनिष्ठता आदि जो अवस्थाएँ, काल-साध्य बतलायी जाती हैं, वे सब क्रिया-विशेष (पर्याय-विशेष) के ही संकेत हैं। जैसेः—जीव या अजीवका जो पर्याय, अविभाज्य है, अर्थात् बुद्धिसे भी जिसका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता, उस आखिरी अतिसूक्ष्म पर्यायको 'समय'

कहते हैं। ऐसे असंख्यात पर्यायोंके पुञ्जको 'आवलिका' कहते है । अनेक आवलिकाओंको 'मुहूर्त' और तीस मुहूर्त्तको 'दिन-रात' कहते हैं। दो पर्यायों मेंसे जो पहले हुआ हो, वह 'पुराण' और जो पीछेसे हुआ हो, वह 'नवीन' कहलाता है दो जीवधारियोंमेंसे जो पीछेसे जनमा हो, वह 'कनिष्ठ' और जो पहिले जनमा हो, वह 'ज्येष्ठ' कहलाता है । इस प्रकार विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि समय, आवलिका आदि सब व्यवहार और नवीनता आदि सब व्यवहार और नवीनता आदि सब अवस्थाएँ, विशेष-विशेष प्रकार के प्रयायोंके ही अर्थात् निर्विभाग पर्याय और उनके छोटे-बड़े बुद्धि-कल्पित समूहोंके ही संकेत है। पर्याय, यह जीव-अजीवकी क्रिया है, जो किसी तत्त्वान्तरकी प्रेरणाके सिवाय ही हुआ करती है। अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्यायरूपमें आप ही परिणत हुआ करते हैं इसलिये वस्तुतः जीव-अजीवके पर्याय-पुञ्जको ही काल कहना चाहिये। काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है ।

दूसरे पक्षका तात्पर्य —जिस प्रकार जीव-पुद्गलमें गति-स्थिति करने का स्वभाव होनेपर भी उस कार्यकेलिये निमित्तकारणरूपसे 'धर्म-अस्तिकाय' तत्त्व माने जाते हैं। इसी प्रकार जीव अजीवमें पर्याय-परिणमनका स्वभाव होनेपर भी उसकेलिये निमित्तकारणरूपसे काल-द्रव्य मानना चाहिये। यदि निमित्तकारणरुपसे काल न माना जाय तो धर्म-अस्तिकाय और अधर्म-अस्तिकाय माननेमें कोई युक्ति नहीं ।

दूसरे पक्ष में मत-भेद:—कालको स्वतन्त्र द्रव्य माननेवालोंमें भी उसके स्वरूपके सम्बन्ध में दो मत हैं।

(१) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्रमें:—ज्योतिष-चक्रके गति-क्षेत्र में-वर्तमान है। वह मनुष्य-क्षेत्र प्रमाण -होकर भी सम्पूर्ण लोकके परिवर्तनोंका निमित्त बनता है। काल, अपना कार्य, ज्योतिष-चक्रकी गतिकी मददसे करता है। इसलिये मनुष्य-क्षेत्रसे बाहर कालद्रव्य न मानकर उसे मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण ही मानना युक्त है। यह मत धर्मसंग्रहणी आदि श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें है।

(२) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्र-वर्ती नहीं है; किन्तु लोक व्यापी है। वह लोक व्यापी होकर भी धर्म-अस्तिकायकी तरह स्कन्ध नहीं है; किन्तु अणुरूप है। इसके अणुओंकी संख्या लोकाकाशके प्रदेशों से बराबर है। वे अणु, गतिहीन होनेसे जहाँके तहाँ अर्थात् लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर स्थित रहते हैं इनका कोई स्कन्ध नहीं बनता। इस कारण इनमें तिर्यक् प्रचल (स्कन्ध होनेकी शक्ति नहीं है। इसी सबबसे कालद्रव्यको अस्तिकायमें नहीं गिना है। तिर्यक-प्रचय न होनेपर भी ऊर्ध्व-प्रचय है। इससे प्रत्येक काल-अणुमें लगातार पर्याय हुआ करते हैं। ये ही पर्याय, समय' कहलाते हैं। एक-एक काल-अणुके अनन्त समय-पर्याय समझने चाहिये। समय-पर्याय ही अन्य द्रव्योंके प्रयायोंका निमित्तकारण है। नवीनता-पुराणता जयेष्टता-कनिष्ठता आदि सब अवस्थाएँ, काल-अणुके समय-प्रवाह की बदौलत ही समझनी चाहिये। पुद्गल-परमाणुको लोक-आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक मन्दगतिसे जानेमें जितनी देर होती है, उतनी देरमें काल अणुका एक समय-पर्याय व्यक्त होता है। अर्थात् समय-पर्याय और एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तककी परमाणुकी मन्द गति, इन दोनों का परिमाण बराबर है। यह मन्तव्य दिगम्बर-ग्रथोंमें है।

वस्तु-स्थिति क्या है:—निश्चय-दृष्टिसे देखा जाय तो कालको अलग द्रव्य माननेकी को कोई जरूरत नहीं है। उसे जीवाजीवके पर्यायरूप मानने से ही सब कार्य व सब व्यवहार उपपन्न हो जाते हैं। इसलिये यही पक्ष, तात्त्विक है, अन्य पक्ष, व्यावहारिक व औपचारिक हैं। कालको मनुष्य क्षेत्र-प्रमाण माननेका पक्ष स्थूल लोक-व्यवहारपर निर्भर है। और उसे अणुरूप माननेका पक्ष औपचारिक है, ऐसा स्वीकार न किया जाय तो यह प्रश्न होता है कि जब मनुष्य-क्षेत्रसे बाहर भी नवत्व पुराणत्व आदि भाव होते हैं, तब फिर कालको मनुष्य-क्षेत्रमें ही कैसे माना जा सकता है? दूसरे यह माननेमें क्या युक्ति है कि काल, ज्योतिष-चक्रके संचारकी अपेक्षा रखता है? यदि अपेक्षा रखता भी हो तो क्या वह लोक-व्यापी होकर ज्योतिष-चक्रके संचारकी मदद नही ले सकता? इसलिये उसको मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण माननेकी कल्पना, स्थूल लोक-व्यवहारपर निर्भर है—कालको अणुरूप माननेकी कल्पना औपचारिक है। प्रत्येक पुद्गल-परमाणुको ही उपचारसे

कालाणु समझना चाहिये और कालाणुके अप्रदेशत्वके कथनकी सङ्गति इसी तरह कर लेनी चाहिये।

ऐसा न मानकर कालाणुको स्वतन्त्र माननेमें प्रश्न यह होता है कि यदि काल स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है तो फिर वह धर्म-अस्तिकायकी तरह स्कन्धरूप क्यों नहीं माना जाता है? इसके सिवाय एक यह भी प्रश्न है कि जीव-अजीवके पर्यायमें तो निमित्तकरण समय-पर्याय है। पर समय-पर्यायमें निमित्तकारण क्या है? यदि वह स्वाभाविक होनेसे अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता तो फिर जीव-अजीवके पर्याय भी स्वाभाविक क्यों न माने जायें? यदि समय-पर्यायके वास्ते अन्य निमित्तकी कल्पना की जाय तो अनवस्था आती है। इसलिये अणु-पक्षको औपचारिक मानना ही ठीक है।

वैदिकदर्शनमें कालका स्वरूप:—वैदिकदर्शनोंमें भी कालके सम्बन्धमें मुख्य दो पक्ष हैं।
वैशेषिकदर्शन-अ० २, आ० २, सूत्र ६—१० तथा न्यायदर्शन, कालको सर्व-व्यापी स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। सांख्य-अ० २, सूत्र १२ योग तथा वेदान्त आदि दर्शन-कालको स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर उसे प्रकृति-पुरुष (जड़-चेतन)का ही रूप मानते हैं। यह दूसरा पक्ष, निश्चय-दृष्टि-मूलक है और पहला पक्ष, व्यवहार-मूलक।

जैनदर्शनमें जिसको 'समय' और दर्शनान्तरोंमें जिसको 'क्षण' कहा है, उसका स्वरूप जाननेकेलिये तथा 'काल' नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, वह केवल लौकिक-दृष्टिवालोंकी व्यवहार-निर्वाहके लिये क्षनानुक्रमके विषयमें की हुई कल्पनामात्र है। इस बातको स्पष्ट समझनेकेलिये योग-दर्शन; पा० ३ सू० ५२ का भाष्य देखना चाहिये। उक्त भाष्यमें कालसंबन्धी जो विचार है, वही निश्चय-दृष्टि-मूलक; अत एव तात्त्विक जान पड़ता है।

विज्ञानकी सम्मति;—आ ज-कल विज्ञानकी गति सत्य दिशाकी ओर है। इसलिये काल-सम्बन्धी विचारोंको उस दृष्टिके अनुसार भी देखना चाहिये। वैज्ञानिक लोग भी कालको दिशा' की तरह काल्पनिक मानते हैं, वास्तविक नहीं।

अत. सब तरहसे विचार करनेपर यही निश्चय होता है कि कालको अलग स्वतन्त्र द्रव्य माननेमें दृढतर प्रमाण नहीं है। ===

# ( ३ )-गुणस्थानाधिकार ।

पारमार्थिक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

## (१)-गुणस्थानों में जीवस्थान[1] ।

**सव्वजियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं ।**
**संमे सन्नी दुविहो, सेसेसु संनिपज्जत्तो ॥ ४५ ॥**

सर्वाणि जीवस्थानानि मिथ्यात्वे, रूप्त सासादने पञ्चापर्याप्ताः संज्ञिद्विकम् । सम्यक्त्वे संज्ञी द्विविधः, शेषेषु संज्ञिपर्याप्तः ॥ ४५ ॥

**अर्थ— मिथ्यात्वगुणस्थान में सब जीवस्थान हैं । सासादन में पाँच अपर्याप्त ( बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय ) तथा दो संज्ञी ( अपर्याप्त और पर्याप्त ) कुल सात जीवस्थान हैं । अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में दो संज्ञी ( अपर्याप्त और पर्याप्त ) जीवस्थान हैं । उक्त तीन के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों में पर्याप्त संज्ञीजीवस्थान है ॥ ४५ ॥**

---

१— गुणस्थान में जीवस्थान का जो विचार यहाँ है, गोम्मटसार में उससे भिन्न प्रकार का है । उसमें दूसरे, छठे और तेरहवें गुणस्थान में अपर्याप्त संज्ञी, ये दो जीवस्थान माने हुए हैं । —जीव०, गा० ६९८ ।

गोम्मटसार का यह वर्णन, अपेक्षाकृत है । कर्मकाण्ड की ११३वीं गाथा में अपर्याप्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि को दूसरे गुणस्थान का अधिकारी मानकर उनको जीवकाण्ड में पहले गुणस्थानमात्र का अधिकारी कहा है; सो द्वितीय गुणस्थानवर्ती अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवों की अल्पता की अपेक्षा से । छठे गुणस्थान के अधिकारी को अपर्याप्त कहा है; सो आहारकमिश्रकाययोग की अपेक्षा से । —जीवकाण्ड, गा० १२६ ।

तेरहवें गुणस्थान के अधिकारी सयोगी केवली को अपर्याप्त कहा है, सो योग की अपूर्णता की अपेक्षा से । —जीवकाण्ड, गा० १२५ ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भावार्थ—एकेन्द्रियादि सब प्रकार से संसारी जीव मिथ्यात्वी पाये जाते हैं; इसलिये पहले गुणस्थान में सब जीवस्थान कहे गये हैं।

दूसरे गुणस्थान में सात जीवस्थान ऊपर कहे गये हैं, उनमें छह अपर्याप्त हैं, जो सभी करण-अपर्याप्त समझने चाहिये; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त जीव, पहले गुणस्थानवाले ही होते हैं।

चौथे गुणस्थान में अपर्याप्त संज्ञी कहे गये हैं, सो भी उक्त कारणसे करण-अपर्याप्त ही समझने चाहिये।

पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य किसी प्रकार के जीव में ऐसे परिणाम नहीं होते, जिनसे वे पहले, दूसरे और चौथे को छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानों को पा सकें। इसीलिये इन ग्यारह गुणस्थानों में केवल पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना गया है॥ ४५॥

## (२)–गुणस्थानों में योग[1]।

[ दो गाथाओं से ]

मिच्छदुगअजइ जोगा,–हारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइ उरलं सविउं,–व्वमीसि सविउव्वदुग देसे ॥४६॥

मिथ्यात्वद्विकायते योगा, आहारकद्विकोना अपूर्वपञ्चके तु ।
मनोवच औदारिकं सवैक्रिय मिश्रे सवैक्रियद्विक देशे ॥ ४६ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें आहारक-द्विक को छोड़कर तेरह योग हैं। अपूर्वकरण से लेकर पाँच गुणस्थानो मे चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक, ये नौ योग हैं। मिश्रगुणस्थान में उक्त नौ तथा एक वैक्रिय, ये दस योग हैं। देशविरतगुणस्थान में उक्त नौ तथा वैक्रिय–द्विक, कुल ग्यारह योग हैं॥ ४६ ॥

भावार्थ—पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में तेरह योग इस प्रकार हैं:—कार्मणयोग, विग्रहगति में तथा उत्पति के प्रथम समय मे; वैक्रियमिश्र और औदारिकमिश्र, ये दो योग उत्पत्ति के प्रथम समय के अनन्तर अपर्याप्त-अवस्था में और चार मन के, चार वचन के, एक औदारिक तथा एक वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्था में। आहारक और आहारकमिश्र, ये दो योग चारित्र–सापेक्ष होने के कारण उक्त तीन गुणस्थानों में नहीं होते।

---

१—गुणस्थानों मे योग-विषयक विचार जैसा यहाँ है, वैसा ही पंचसंग्रह द्वा० १, गा० १६—१८ तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ६६—६९ में है।

गोम्मटसार में कुछ विचार-भेद है। उसने पाँचवें और सातवें गुणस्थान में नौ और छठे गुणस्थान में ग्यारह योग माने हैं।—जी०,गा०७०३।

आठवें से लेकर बारहवें तक पाँच गुणस्थानों में उक्त योग नहीं हैं; क्योंकि वे गुणस्थान विग्रहगति और केवलि-अवस्था में नहीं पाये जाते। अतः इन गुणस्थानों में कार्मण और औदारिकमिश्र ये दो योग नहीं होते तथा वे गुणस्थान अप्रमत्त-अवस्था-भावी हैं। अत एव इनमें प्रमाद-जन्य लब्धि-प्रयोग न होने के कारण [illegible] और आहारक-द्विक [illegible] आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तीसरे गुणस्थान में आहारक-द्विक, औदारिकमिश्र, [illegible] और कार्मण [illegible]।

आहारक-[illegible] [illegible] नहीं होते और [illegible] [illegible] नहीं होते, [illegible] नहीं है।

[illegible]

[illegible] न माने जाने [illegible]

[illegible]

[illegible] होते हैं।

[illegible]

[illegible] चार आहारक, चार वचन के और एक औदारिक ये नौ योग [illegible] जिन नामकर्म के [illegible] पर्याप्त गुणस्थान में कुल [illegible] समझने चाहिए। उसमें [illegible] न होने के कारण वैक्रिय आहारक और अपर्याप्त अवस्था न होने के कारण कार्मण और औदारिक मिश्र ये [illegible] चार योग नहीं होते।

मत्त-अवस्था-भावी है; इसलिये उसमें छठे गुणस्थान वाले तेरह योगों में से उक्त दो योगों को छोड़कर ग्यारह योग माने गये हैं। वैक्रियशरीर या आहारक शरीर बना लेने पर अप्रमत्त-अवस्था का भी संभव है; इसलिये अप्रमत्त-गुणस्थान के योगों में वैक्रियकाययोग और आहारककाययोग की गणना है।

सयोगिकेवली को केवलिसमुद्घात के समय कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग, अन्य सब समय में औदारिककाययोग, अनुत्तरविमानवासी देव आदि के प्रश्न का मन से उत्तर देने के समय दो मनोयोग और देशना के देते समय दो वचन योग होते हैं। इसीसे तेरहवें गुणस्थान में सात योग माने गये हैं।

केवली भगवान् सब योगों का निरोध करके अयोगि-अवस्था प्राप्त करते हैं; इसीलिये चौदहवें गुणस्थान में योगों का अभाव है ॥४७॥

# (३)—गुणस्थानों में उपयोग[1]।

तिअनाणदुदंसाइम,-दुगे अजइ वेमि नाणतंसहियं।
ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केवलदु अंतदगे ॥४८॥

व्यज्ञानद्विदर्शमादिमद्विकेऽयते देशे ज्ञानदर्शनत्रिकम्।
ते मिश्रे मिश्राः समनसो, यतादिषु केवलद्विकमन्तद्विके ॥४८॥

अर्थ—मिथ्यात्व और सासादन, इन दो गुणस्थानों में तीन अज्ञान और दो दर्शन, ये पाँच उपयोग हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरति, इन दो गुणस्थानों में तीन ज्ञान, तीन दर्शन, ये छह उपयोग हैं। मिश्रगुणस्थान में भी तीन ज्ञान, तीन दर्शन ये छह उपयोग हैं, पर ज्ञान-मिश्रित, अज्ञान-मिश्रित होते हैं। प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीण-मोहनीय तक सात गुणस्थानों में उक्त छह और मनः पर्यायज्ञान, ये सात उपयोग हैं। सयोगिकेवली और अयोगि केवली, इन दो गुण-स्थानों में केवलज्ञान और केवल दर्शन, ये दो उपयोग हैं ॥४८॥

भावार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व का अभाव है; इसीसे उनमें सम्यक्त्व के सहचारी पाँच ज्ञान, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते, शेष पाँच होते हैं।

चौथे और पाँचवें गुणस्थान में मिथ्यात्व न होने से तीन अज्ञान सर्वविरति न होने से मनः पर्यायज्ञान और घातिकर्म का अभाव न होने से केवल-द्विक, ये कुल छह उपयोग नही होते, शेष छह होते हैं।

---

१—यह विषय, पञ्चसंग्रह द्वा० १ की १९—२०वीं, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ७०—७१वीं और गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ७०४वीं गाथा में है।

तीसरे गुणस्थान में भी तीन ज्ञान और तीन दर्शन, ये ही छह उपयोग हैं। पर दृष्टि, मिश्रित (अद्धाशुद्धा-उभयरूप) होने के कारण ज्ञान, अज्ञान-मिश्रित होता है।

छठे से बारहवें तक सात गुणस्थानों में मिथ्यात्व के होने का कारण अज्ञान-त्रिक नहीं है और घातिकर्म का क्षय न होने के कारण केवल-द्विक नहीं है। इस तरह पाँच छोड़कर शेष सात उपयोग उनमें समझने चाहिये।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में घातिकर्म न होने से छद्मस्थ-अवस्था-भावी दस उपयोग नहीं होते, सिर्फ केवलज्ञान और केवल-दर्शन, ये दो ही उपयोग होते हैं ॥४८॥

## सिद्धान्त के कुछ मन्तव्य।

सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४९॥

सासादनभावे ज्ञानं, वैकुर्विकाहारक औदारिकमिश्रम्।
नैकेन्द्रियेषु सासादनं, नेहाधिकृतं श्रुतमतमपि ॥४९॥

अर्थ—सासादन-अवस्था में सम्यग्ज्ञान, वैक्रियशरीर तथा आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग और एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान का अभाव, ये तीन बातें यद्यपि सिद्धान्त सम्मत हैं तथापि इस ग्रन्थ में इनका अधिकार नहीं है ॥४९॥

भावार्थ—कुछ विषयों पर सिद्धान्त और कर्मग्रन्थ का मत-भेद चला आता है। इनमें से तीन विषय इस गाथा में ग्रन्थकार ने दिखाये हैं:—

(क) सिद्धान्त[1] में दूसरे गुणस्थान के समय मति, श्रुत आदि को ज्ञान माना है, अज्ञान नहीं। इससे उलटा कर्मग्रन्थ में अज्ञान माना है, अज्ञान नहीं। सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि दूसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव यद्यपि मिथ्यात्व के संमुख है, पर मिथ्यात्वी नहीं; उसमें सम्यक्त्व का अंश होने से कुछ विशुद्धि है; इसलिये उसके ज्ञान को ज्ञान मानना चाहिये। कर्मग्रन्थ का आशय यह है कि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वी न सही, पर वह मिथ्यात्व के अभिमुख है; इसलिये उसके परिणाम में मालिन्य अधिक होता है; इससे उसके ज्ञान को अज्ञान कहना चाहिये।

---

१—भगवती में द्वीन्द्रियों को ज्ञानी भी कहा है। इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि सासादन-अवस्था में ज्ञान मान करके ही सिद्धान्ती द्वीन्द्रियों को ज्ञानी कहते हैं; क्योंकि उनमें दूसरे से आगे सब गुणस्थानों का अभाव ही है। पञ्चेन्द्रियों को ज्ञानी कहा है, उसका समर्थन तो तीसरे, चौथे आदि गुणस्थानों की अपेक्षा से भी किया जा सकता है, पर द्वीन्द्रियों में तीसरे आदि गुणस्थानों का अभाव होने के कारण सिर्फ सासादन गुणस्थान की अपेक्षा से ही ज्ञानित्व घटाया जा सकता है। यह बात प्रज्ञापना-टीका में स्पष्ट लिखी हुई है। उसमें कहा है कि द्वीन्द्रिय को दो ज्ञान कैसे घट सकते हैं? उत्तर—उसको अपर्याप्त-अवस्था में सासादनगुणस्थान होता है, इस अपेक्षा से दो ज्ञान घट सकते हैं।

बेइंदियाणं भंते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! णाणी वि अण्णाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुनाणी। तं जहा—आभिणिबोहियनाणी सुयणाणी। जे अण्णाणी ते वि नियमा दुअन्नाणी। तं जहा—मइ अन्नाणी सुयअन्नाणी य।" —भगवती शतक ८ उ० २।

"बेइंदियस्स दो णाणा कहं लब्भंति? भण्णइ, सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो णाणा लब्भंति।" —प्रज्ञापना टीका।

दूसरे गुणस्थान के समय कर्मग्रन्थ के मतानुसार अज्ञान माना जाता है, सो २० तथा ४८वीं गाथा से स्पष्ट है। गोम्मटसार में कार्मग्रन्थिक ही मत है। इसकेलिये देखिये, जीवकाण्ड की ६८६ तथा ७०४ वीं गाथा।

(ख) सिद्धान्त[1] का मानना है कि लब्धि द्वारा वैक्रिय और आहारक-शरीर बनाते समय औदारिकमिश्र काययोग होता है; पर त्यागते समय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है। इसके स्थान में कर्मग्रन्थ का मानना है कि उक्त दोनों शरीर बनाते तथा त्यागते समय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र-योग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं। सिद्धान्त का आशय यह है कि लब्धि से वैक्रिय या आहारक-शरीर बनाया जाता है, उस समय इन शरीरों के योग्य पुद्गल, औदारिक शरीर के द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये औदारिक शरीर की प्रधानता होने के कारण उक्त दोनों शरीर बनाते समय औदारिक मिश्रकाययोग का व्यवहार करना चाहिये। परन्तु परित्याग के समय औदारिक शरीर की प्रधानता नहीं रहती। उस समय वैक्रिय या आहारक शरीर का ही व्यापार मुख्य होने के कारण वैक्रियमिश्र तथा आहारकमिश्र का व्यवहार करना चाहिये। कार्मग्रन्थिक-मत का तात्पर्य इतना ही है कि चाहे व्यापार किसी शरीर का प्रधान हो, पर औदारिक शरीर जन्म-सिद्ध है और वैक्रिय या आहारक-शरीर लब्धि-जन्य है; इसलिये विशिष्ट लब्धि-जन्य शरीर की प्रधानता को ध्यान में रखकर आरम्भ और

---

१—यह मत प्रज्ञापना के इस उल्लेख से स्पष्ट है:—

ओरालियसरीरकायप्पयोगे ओरालियमीससरीरप्पयोगे लेउव्वियसरीरकायप्पयोगे आहारकसरीरकायप्पओगे आहारकमीससरीरकायप्पयोगे।" पद० १६ तथा उसकी टीका, पृ० ३१७

कर्मग्रन्थ का मत तो ४६ और ४७वीं गाथा में पाँचवें और छठे गुणस्थान में क्रम से ग्यारह और तेरह योग दिखाये है, इसीसे स्पष्ट है।

गोम्मटसार का मतकर्मग्रन्थ के समान ही जान पड़ता है; क्योंकि उसमें पाँचवें और छठे किसी गुणस्थान में औदारिकमिश्रकाययोग नहीं माना है। देखिये. जीवकाण्ड की ७०३री गाथा।

परित्याग, दोनों समय वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र का व्यवहार करना चाहिये, औदारिकमिश्र का नहीं।

( ग )—सिद्धान्ती[1], एकेन्द्रियों में सासादनगुणस्थान को नहीं मानते, पर कार्मग्रन्थिक मानते हैं।

उक्त विषयों के सिवाय अन्य विषयों में जो कहीं कहीं अल्प-भेद है,—

( १ )—सिद्धान्ती, अवधिदर्शन को पहले बारह गुणस्थानों में मानते हैं, पर कार्मग्रन्थिक उसे चौथे से बारहवें तक नौ गुणस्थानों में, ( २ ) सिद्धान्त में ग्रन्थि-भेद के अनन्तर क्षायोपशमिकसम्यक्त्व का होना माना गया है, किन्तु कर्मग्रन्थ में औपशमिकसम्यक्त्व का होना ॥४६॥

---

१—भगवती, प्रज्ञापना और जीवाभिगमसूत्र में एकेन्द्रियों को अज्ञानी ही कहा है। इससे सिद्ध है कि उनमें सासादन-भाव सिद्धान्त-सम्मत नहीं है। यदि सम्मत होता तो द्वीन्द्रिय आदि की तरह एकेन्द्रियों को भी ज्ञानी कहते।

'एगिंदियाणं भंते ! किं नाणी अण्णाणी ? गोयमा ! नो नाणी, नियमा अन्नाणी।" —भगवती-श० ८, उ० २।

एकेन्द्रिय मे सासादन-भाव मानने का कार्मग्रन्थिक-मत पञ्चसंग्रह में निर्दिष्ट है। यथा:—

'इगिविगिलेसु जुयलं' इत्यादि। —द्वा० १, गा० २८।

दिगम्बर-संप्रदाय में सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिक दोनों मत संगृहीत हैं। कर्मकाण्ड की ११३ से ११५ तक की गाथा देखने से एकेन्द्रियों में सासादन-भाव का स्वीकार स्पष्ट मालूम होता है। तत्त्वार्थ, अ० १ के ८वें सूत्र की सर्वार्थसिद्धि में तथा जीवकाण्ड की ६७७वीं गाथा में सैद्धान्तिक मत है।

## (४-५)—गुणस्थानों में लेश्या तथा बन्ध-हेतु।

**छसु सव्वा तेउतिगं, इगि छसु सुक्का अयोगि अल्लेसा।**
**बंधस्स मिच्छ अविरइ,-कसायजोगत्ति चउ हेउ ॥५०॥**

षट्सु सर्वास्तेजस्त्रिकमेकस्मिन् षट्सु शुक्लाऽयोगिनोऽलेश्याः।
बन्धस्य मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा इति चत्वारो हेतवः ॥५०॥

**अर्थ—पहले छह गुणस्थानों में छह लेश्याएँ[1] हैं। एक (सातवें**

---

१.—गुणस्थान में लेश्या का सम्बन्ध में गुणस्थान मानने के सम्बन्ध में दो मत चले आते हैं। पहला मत पहले चार गुणस्थानों में छह लेश्याएँ और दूसरा मत पहले छह गुणस्थानों में छह लेश्याएँ मानता है। पहला मत पञ्चसंग्रह-द्वा० १ गा० ३०; प्राचीन बन्धस्वामित्व, गा० ४०; नवीन बन्धस्वामित्व, गा० २५; सर्वार्थसिद्धि, पृ० २४ और गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गा० ७०३ रीके भावार्थ में है। दूसरा मत प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ७३ में तथा यहाँ है। दोनों मत अपेक्षाकृत हैं, अतः इनमें कुछभी विरोधनहीं है।

पहले मत का आशय यह है कि छहों प्रकार की द्रव्यलेश्यावालों को चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है, पर पाँचवाँ या छठा गुणस्थान सिर्फ तीन शुभ द्रव्यलेश्यावालों को। इसलिये गुणस्थान प्राप्ति के समय वर्तमान द्रव्य-लेश्या की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान पर्यन्त छह लेश्याएँ माननी चाहिये और पाँचवे और छठे में तीन ही।

दूसरे मत का आशय यह है कि यद्यपि छहों लेश्याओं के समय चौथा गुण-स्थान और तीन शुभ द्रव्यलेश्याओं के समय पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्राप्त होता है; परन्तु प्राप्त होने के बाद चौथे, पाँचवे और छठे, तीनों गुणस्थानवालों में छहों द्रव्यलेश्याएँ पायी जाती हैं। इसलिये गुणस्थान-प्राप्ति के उत्तर-काल में वर्तमान द्रव्यलेश्याओं की अपेक्षा से छठे गुणस्थान पर्यन्त छह लेश्याएँ मानी जाती हैं।

इस जगह यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि चौथा, पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्राप्त होने के समय भावलेश्या तो शुभ ही होती है, अशुभ नहीं, पर प्राप्त होने के बाद भावलेश्या भी अशुभ हो सकती है।

**"सम्मत्तसुयं सव्वा सु,-लहइ, सुद्धासु तीसु य चरित्तं।**
**पुव्वपडिवण्णगो पुण, अण्णयरीए उ लेसाए।"**

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० ८२२।

गुणस्थान में) तेजः, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ हैं। आठवें से लेकर तेरहवें तक छह गुणस्थानों में केवल शुक्ललेश्या है। चौदहवें गुणस्थान में कोई भी लेश्या नहीं है।

बन्ध-हेतु—कर्म-बन्ध के चार हेतु हैं।—१ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ कषाय और ४ योग ॥ ५० ॥

भावार्थ—प्रत्येक लेश्या, असंख्यात-लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण अध्यवसायस्थान (संक्लेश-मिश्रित परिणाम) रूप है; इसलिये उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम, आदि उतने ही भेद समझने चाहिये। अत एव कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओं को छठे गुणस्थान में अतिमन्दतम और पहले गुणस्थान में अतितीव्रतम मानकर छह गुणस्थानों तक उनका सम्बन्ध कहा गया है। सातवें गुणस्थान में आर्त तथा रौद्र-ध्यान न होने के कारण परिणाम इतने विशुद्ध रहते हैं, जिससे उस गुणस्थान में अशुभ लेश्याएँ सर्वथा नहीं होतीं; किन्तु तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। पहले गुणस्थान में तेजः और पद्म-लेश्या को अतिमन्दतम और सातवें गुणस्थान में अति-

---

इसका विवेचन श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने भाष्य की २७४१ से-४२ तक की गाथाओं में, श्रीहरिभद्रसूरि ने अपनी टीका में और मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरि ने भाष्यवृत्ति में विस्तारपूर्वक किया है। इस विषय के लिये लोकप्रकाश के ३रे सर्ग के ३१३ से ३२३ तक के श्लोक द्रष्टव्य हैं।

चौथा गुणस्थान प्राप्त होने के समय द्रव्यलेश्या शुभ और अशुभ, दोनों मानी जाती हैं और भावलेश्या शुभ ही। इसलिये यह शङ्का होती है कि क्या अशुभ द्रव्यलेश्यावालों को भी शुभ भावलेश्या होती है?

इसका समाधान यह है कि द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है कि दोनों समान ही होनी चाहिये, क्योंकि यद्यपि मनुष्य तिर्यञ्च, जिनकी द्रव्यलेश्या अस्थिर होती है, उनमें तो जैसी द्रव्यलेश्या वैसी ही भावलेश्या होती है। पर देव-नारक, जिनकी द्रव्यलेश्या अवस्थित (स्थिर) मानी गयी है, उनके विषय में इससे उलटा है। अर्थात् नारकों में अशुभ द्रव्यलेश्या के होते हुए भी भावलेश्या शुभ हो सकती है। इसी प्रकार शुभ द्रव्यलेश्यावाले देवों में भावलेश्या अशुभ भी हो सकती है। इस बात को खुलासे से समझने के लिये प्रज्ञापना का १७ वाँ पद तथा उसकी टीका देखनी चाहिये।

तीव्रतम, इसी प्रकार शुक्ललेश्या को भी पहले गुणस्थान में अति-मन्दतम और तेरहवें में अतितीव्रतम मानकर उपर्युक्त रीति से गुण-स्थानों में उनका सम्बन्ध बतलाया गया है।

चार बन्ध-हेतु[1]—(१) 'मिथ्यात्व', आत्मा का वह परिणाम है, जो

१—ये ही चार बन्ध-हेतु पञ्चसंग्रह—द्वा० ४ की १ ली गाथा तथा कर्मकाण्ड की ७८६वीं गाथा में है। यद्यपि तत्त्वार्थ के ८वें अध्याय के १ ले सूत्र में उक्त चार हेतुओं के अतिरिक्त प्रमाद को भी बन्ध-हेतु माना है, परन्तु उसका समावेश अविरति, कषाय आदि हेतुओं में हो जाता है। जैसे:—विषय सेवनरूप प्रमाद, अविरति और लब्धि प्रयोगरूप प्रमाद, योग है। वस्तुतः कषाय और योग, ये दो ही बन्ध-हेतु समझने चाहिये; मिथ्यात्व और अविरति, कषाय के ही अन्तर्गत हैं। इसी अभिप्राय से पाँचवें कर्मग्रन्थ की गाथा में दो ही बन्ध-हेतु माने गये हैं।

इस जगह कर्म-बन्ध के सामान्य हेतु दिखाये हैं, सामान्याश्रयदृष्टि से; अत एव उन्हें अन्तरङ्ग हेतु समझना चाहिये। पहले कर्मग्रन्थ की ५४ से ६१ तक गाथाओं में; तत्त्वार्थ के ६ठे अध्याय के ११ से २६ तक के सूत्र में तथा कर्मकाण्ड की ८०० से ८१० तक की गाथाओं में हर एक कर्म के अलग-अलग बन्ध-हेतु कहे हुए हैं, सो व्यवहारदृष्टि से; अत एव उन्हें बहिरङ्ग हेतु समझना चाहिये।

शङ्का—प्रत्येक समय में आयु के सिवाय सात कर्मों का बाँधा जाना प्रज्ञापना के २४वें पद में कहा गया है; इसलिये ज्ञान, ज्ञानी आदि पर प्रद्वेष या उनका निह्नव करते समय भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय की तरह अन्य कर्मों का बन्ध होता ही है। इस अवस्था में 'तत्प्रदोषनिह्नव' आदि तत्त्वार्थ के ६ठे अध्याय के ११ से २६ तक के सूत्रों में कहे हुए आस्रव, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय आदि कर्म के विशेष हेतु कैसे जा सकते हैं?

समाधान—तत्प्रदोषनिह्नव आदि आस्रवों को प्रत्येक कर्म का जो विशेष हेतु कहा है, सो अनुभागबन्ध की अपेक्षा से, प्रकृतिबन्ध की अपेक्षा से नहीं। अर्थात् किसी भी आस्रव के सेवन के समय प्रकृतिबन्ध सब प्रकार का होता है। अनुभागबन्ध में फर्क है। जैसे: - ज्ञान, ज्ञानी, ज्ञानोपकरण आदि पर प्रदूष करने के समय ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय की तरह अन्य प्रकृतिओं का बन्ध होता है, पर उस समय अनुभागबन्ध विशेषरूप से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकर्म का ही होता है। सारांश, विशेष हेतुओं का विभाग अनुभागबन्ध की अपेक्षा से किया गया है, प्रकृति-बन्ध की अपेक्षा से नहीं। —तत्त्वार्थ-अ० ६, सू० २७ की सर्वार्थ-सिद्धि।

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से होता है और जिससे कदाग्रह, संशय आदि दोष पैदा होते हैं। (२) 'अविरति'- वह परिणाम है, जो अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से होता है और जो चारित्र को रोकता है। (३) 'कषाय', वह परिणाम है, जो चारित्र मोहनीय के उदय से होता है और जिससे क्षमा, विनय, सरलता, संतोष, गम्भीरता आदि गुण प्रगट होने नहीं पाते या बहुत-कम प्रमाण में प्रकट होते हैं। (४) 'योग',आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द(चाञ्चल्य-)को कहते हैं, जो मन,वचन या शरीर के योग्य पुद्गलों के आलम्बन से होताहै॥५०॥

## बन्ध-हेतुओं के उत्तरभेद तथा गुणस्थानों में मूल बन्ध हेतु[1]।

[ दो गाथाओं से। ]

**अभिगहियमणभिगहिय, लिनिवेसिअसंइ अणभोगं।**
**पणमिच्छ बार अविरइ, मणकरणानियमु छज्जियवहो ॥५१॥**

आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकामनिवेशिकसांशयिकमनाभोगम्।
पञ्चमिथ्यात्वनि द्वादशाविरतयो, मनःकरणानियमः षड्जीववधः॥५१॥

**अर्थ**—मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं:—१ आभिग्रहिक, २. अनाभिग्रहिक ३ आभिनिवेशिक, ४. सांशयिक और अनाभोग।

अविरति के बारह भेद है। जैसे:—मन और पाँच इन्द्रियाँ, इन छह को नियम में न रखना, ये छह तथा पृथ्वीकाय आदि छह कायों का बध करना, ये छह ॥५१

---

१—यह विषय, पञ्चसंग्रह-द्वा० ४की २ से ४ तक की गाथाओं में तथा गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की ७८६ से ७८८ तक की गाथाओं में है।

गोम्मटसार में मिथ्यात्व के १ एकान्त, २ विपरीत, ३ वैनयिक ४ सांशयिक और ५ अज्ञान ये पाँच प्रकार हैं।

अविरति के लिये जीवकाण्ड की २९ तथा ४७७वीं गाथा और कषाय व योग के लिये क्रमशः उसकी कषाय व योगमार्गणा देखनी चाहिये। तत्त्वार्थ के ८वें अध्याय के १ले सूत्र के भाष्य में मिथ्यात्व के अभिगृहीत और अनभिगृहीत, ये दो ही भेद हैं।

भावार्थ—(१) तत्त्वकी परीक्षा किये बिना ही किसी एक सिद्धान्त का पक्षपात करके अन्य पक्ष का खण्डन करना 'अभिग्रहिकमिथ्यात्व' है। (२) गुण-दोष की परीक्षा बिना किये ही सब पक्षों को बराबर समझना 'अनाभिग्रहिकमिथ्यात्व' है। (३) अपने पक्ष को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिये दुरभिनिवेष (दुराग्रह) करना 'आभिनिवेशिकमिथ्यात्व' है। (४) ऐसा देव होगा या अन्य

---

१—सम्यक्त्वी कदापि अपरीक्षित सिद्धान्त का पक्षपात नहीं करता अत एव जो व्यक्ति तत्त्व-परीक्षापूर्वक किसी-एक पक्ष को मानकर अन्य पक्ष का खण्डन करता है, वह 'अभिग्रहिक' नहीं है। जो कुलाचार मात्र से अपने को जैन (सम्यक्त्वी) मानकर तत्त्व की परीक्षा नहीं करता, वह नाम से 'जैन' परन्तु वस्तुतः 'अभिग्रहिक मिथ्यात्वी' है। माषतुष मुनि आदि की तरह तत्त्व-परीक्षा करने में स्वयं असमर्थ लोग यदि गीतार्थ (यथार्थ-परीक्षक) के आश्रित हों तो उन्हें 'अभिग्रहिक-मिथ्यात्वी' नहीं समझना क्योंकि गीतार्थ(यथार्थ-परीक्षक) के आश्रित रहने से मिथ्या पक्षपात का संभव नहीं रहता। धर्म संग्रह पृ० ६०

२—यह मन्द बुद्धि वाले व परीक्षा करने में असमर्थ साधारण लोगों में पाया जाता है ऐसे लोग अकसर कहा करते हैं कि सब धर्म बराबर हैं

३—सिर्फ उपयोग न रहने के कारण या मार्ग-दर्शक की गलती के कारण, जिसकी श्रद्धा विपरीत हो जाती है, वह 'अभिनिवेशिक मिथ्यात्वी' नहीं है; क्योंकि यथार्थ-वक्ता मिलने पर उसका श्रद्धा तात्त्विक बन जाती है, अर्थात् यथार्थ-वक्ता मिलने पर भी श्रद्धा का विपरीत बना रहना दुरभिनिवेश है। यद्यपि श्रीसिद्धसेन दिवाकर, श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों ने अपने-अपने पक्ष का समर्थन करके बहुत-कुछ कहा है तथापि उन्हें 'आभिनिवेशिकमिथ्यात्वी' नहीं कह सकते; क्योंकि उन्होंने अविच्छिन्न प्रावचनिक परंपरा के आधार पर शास्त्र-तात्पर्य को अपने-अपने पक्ष के अनुकूल समझकर अपने-अपने पक्ष का समर्थन किया है, पक्षपात से नहीं। इसके विपरीत जमालि गोष्ठामाहिल आदि ने शास्त्र-तात्पर्य को स्व-पक्ष के प्रतिकूल जानते हुए भी निज-पक्ष का समर्थन किया; इसलिये वे 'आभिनिवेशिक' कहे जाते हैं।

—धर्म०, पृ० ४०।

प्रकार का, उसी तरह गुरु और धर्म के विषय में संदेह-शील बने रहना 'सांशयिकमिथ्यात्व[1]' है। (५) विचार व विशेष ज्ञान का अभाव अर्थात् मोह की प्रगाढतम अवस्था 'अनाभोगमिथ्यात्व[2]' है। इन पाँच में से अभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक, ये दो मिथ्यात्व, गुरु हैं और शेष तीन लघु; क्योंकि ये दोनों विपर्यास रूप न होने से तीव्र क्लेशके कारण है और शेष तीन विपर्यास रूप होने तीव्र क्लेशके कारण नहीं हैं।

मन को अपने विषय में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना मन-अविरति है। इसी प्रकार त्वचा, जिह्वा आदि पाँच इन्द्रियों की अविरति को भी समझ लेना चाहिये। पृथ्वी कायिक जीवों की हिंसा करना पृथ्वीकाय-अविरति है। शेष पाँच कायों की अविरति को इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। ये बारह अविरतियाँ मुख्य हैं। मृषा-वाद-अविरति, अदत्तादान-अविरति आदि सब अविरतिओं का समावेश इन बारह में ही हो जाता है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का औदयिक-परिणाम ही मुख्यतया मिथ्यात्व कहलाता है। परन्तु इस जगह उससे होने वाली आभिग्रहिक आदि बाह्य प्रवृत्तिओं को मिथ्यात्व कहा है सो कार्य-कारण के भेद की विवक्षा न करके। इसी तरह अविरति, एक प्रकार का काषा-

---

१—सूक्ष्म विषयों का संशय उच्च-कोटि के साधुओं में भी पाया जाता है, पर वह मिथ्यात्वरूप नहीं है, क्योंकि अन्ततः—

"तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं।"

इत्यादि भावना से आगम को प्रमाण मानकर ऐसे संशयों का निवर्तन किया जाता है। इसलिये जो संशय, आगम-प्रामाण्य के द्वारा भी निवृत्त नहीं होता, वह अन्ततः अनाचार का उत्पादक होने के कारण मिथ्यात्व रूप है। —धर्म संग्रह पृ० ४९।

२—यह, एकेन्द्रिय आदि क्षुद्रतम जन्तुओं में और मूढ प्राणियों में होता है। —धर्मसंग्रह, पृ० ४९।

यिक परिणाम ही है, परन्तु कारण से कार्य को भिन्न न मानकर इस जगह मनोऽसंयम आदि को अविरति कहा है। देखा जाता है कि मन आदि का असंयम या जीव हिंसा ये सब कषाय-जन्य ही हैं ॥५१॥

नव सोल कसाया पन,-र जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना ।
इगचउपणतिगुणेसु, चउतिदुइगपच्चओ बंधो ॥५२॥

नव षोडश कषायाः पञ्चदश योगा इत्युत्तरास्तु सप्तपञ्चाशत् ।
एकचतुष्पञ्चत्रिगुणेषु, चतुस्त्रिद्व्येकप्रत्ययो बन्धः ॥४२॥

अर्थ—कषाय के नौ और सोलह, कुल पच्चीस भेद हैं। योग के पन्द्रह भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद सत्तावन होते हैं।

एक (पहले) गुणस्थान में चारों हेतुओं से बन्ध होता है। दूसरे से पाँचवें तक चार गुणस्थानों में तीन हेतुओं से छठे से दसवें तक पाँच गुणस्थानों में दो हेतुओं से और ग्यारहवें से तेरहवें तक तीन गुणस्थानों में एक हेतु से बन्ध होता है ॥५२॥

भावार्थ—हास्य, रति आदि नौ नोकषाय और अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि सोलह कषाय हैं, जो पहले कर्मग्रन्थ में कहे जा चुके हैं। कषाय के सहचारी तथा उत्तेजक होने के कारण हास्य आदि नौ, कहलाते 'नोकषाय' हैं पर हैं वे कषाय ही।

पन्द्रह योगों का विस्तारपूर्वक वर्णन पहिले २४वीं गाथा में हो चुका है। पच्चीस कषाय, पन्द्रह योग और पूर्व गाथा में कहे हुए पाँच मिथ्यात्व तथा बारह अविरतियाँ, ये सब मिलाकर सत्तावन बन्ध-हेतु हुए।

### गुणस्थानों में मूल बन्ध-हेतु।

पहले गुणस्थान के समय मिथ्यात्व आदि चारों हेतु पाये जाते हैं, इसलिये उस समय होने वाले कर्म बन्ध में वे चारों कारण हैं।

दूसरे आदि चार गुणस्थानों में मिथ्यात्वोदय के सिवाय अन्य सब हेतु रहते हैं; इससे उस समय होने वाले कर्म-बन्ध में तीन कारण माने जाते हैं। छठे आदि पाँच गुणस्थानों में मिथ्यात्व की तरह अविरति भी नहीं है; इसलिये उस समय होने वाले कर्म-बन्ध में कषाय और योग, ये दो ही हेतु माने जाते हैं। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में कषाय भी नहीं होता; इस कारण उस समय होने वाले बन्ध में सिर्फ योग ही कारण माना जाता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है; अत एव उसमें बन्ध का एक भी कारण नहीं रहता ॥५२॥

एक सौ बीस प्रकृतियों के यथासंभव मूल बन्ध हेतु[1]।

चउमिच्छमिच्छअविरई,–पच्चईया सायसोलपणतीसा।
जोग विणु तिरुच्चईया,–हारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥

चतुर्मिथ्यामिथ्याऽविरतिप्रत्ययिकाः सातषोडशपञ्चत्रिंशतः।
योगान् विना त्रिप्रत्ययिका आहारकजिनवर्जशेषाः ॥५३॥

अर्थ—सातवेदनीयका बन्ध मिथ्यात्व आदि चारों हेतुओं से होता है। नरक-त्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्वमात्र-से होता है। तिर्यञ्च-त्रिक आदि पैंतीस प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व और अविरति, इन दो हेतुओं से होता है। तीर्थङ्कर और आहारक-द्विक को छोड़कर शेष सब ( ज्ञानावरणीय आदि सतासी ) प्रकृतियों का बन्ध, मिथ्यात्व, अविरति और कषाय, इन तीन हेतुओं से होता है ॥५३॥

भावार्थ—बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं। इनमें से सातवेदनीय का बन्ध चतुर्हेतुक (चारों हेतुओं से होने वाला) कहा गया है। सो इस अपेक्षा से कि वह पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरति से, छठे आदि चार गुणस्थानों में

---

१—देखिये, परिशिष्ट 'प'।

कषाय से और ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में योग से होता है। इस तरह तेरह गुणस्थानों में उसके सब मिलाकर चार हेतु होते हैं।

नरक-त्रिक, जाति-चतुष्क, स्थावर-चतुष्क, हुण्डसंस्थान, आतपनामकर्म, सेवार्तसंहनन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व, इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व-हेतुक इसलिये कहा गया है कि ये प्रकृतियाँ सिर्फ पहले गुणस्थान में बाँधी जाती हैं।

तिर्यञ्च-त्रिक, स्त्यानर्द्धि-त्रिक, दुर्भग-त्रिक, अनन्तानुबन्धिचतुष्क, मध्यम संस्थान-चतुष्क, मध्यम संहनन-चतुष्क, नीचगोत्र, उद्योतनामकर्म, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद, वज्रर्षभनाराचसंहनन, मनुष्य-त्रिक, अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क और औदारिक-द्विक, इन पैंतीस प्रकृतियों का बन्ध द्वि-हेतुक है; क्योंकि ये प्रकृतियाँ पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से और दूसरे आदि यथासंभव अगले गुणस्थानों में अविरति बाँधी जाती हैं।

सातवेदनीय, नरक-त्रिक आदि उक्त सोलह, तिर्यञ्च-त्रिक आदि उक्त पैंतीस तथा तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-द्विक, इन पचपन प्रकृतियों को एक सौ बीस में से घटा देने पर पैंसठ शेष बचती हैं। इन पैंसठ प्रकृतियों का बन्ध त्रि-हेतुक इस अपेक्षा से समझना चाहिये कि वह पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरति से और छठे आदि चार गुणस्थानों में कषाय से होता है।

यद्यपि मिथ्यात्व के समय अविरति आदि अगले तीन हेतु, अविरति के समय कषाय आदि अगले दो हेतु और कषाय के समय योग-रूप हेतु अवश्य पाया जाता है। तथापि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व-की, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरतिकी और छठे आदि चार गुणस्थानों में कषाय की प्रधानता तथा अन्य हेतुओं की अप्रधानता है, इस कारण इन गुणस्थानों में क्रमशः केवल मिथ्यात्व, अविरति व कषाय को बन्ध-हेतु कहा है।

इस जगह तीर्थङ्करनामकर्म के बन्ध का कारण सिर्फ सम्यक्त्व और आहारक-द्विक के बन्ध का कारण सिर्फ संयम विवक्षित है; इसलिये इन तीन प्रकृतियों की गणना कषाय-हेतुक प्रकृतियों में नहीं[1] की है ॥५३॥

## गुणस्थानों में उत्तर बन्ध-हेतुओं का सामान्य तथा विशेष वर्णन[2]।

[ पाँच गाथाओं से ]

**पणपन्न पन्न तियछहि,-अचत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा।**
**सोलस दस नव नव स,-त्त हेउणो न उ अजोगिमि ॥५४॥**

---

१—पञ्चसंग्रह-द्वार ४ की १९वीं गाथा में—
"सेसा उ कसाएहिं।"

इस पद से तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-द्विक, इन तीन प्रकृतियों को कषाय-हेतुक माना है तथा अगली की २०वीं गाथा में सम्यक्त्व को तीर्थङ्करनामकर्म का और संयम को आहारक-द्विक का विशेष हेतु कहा है। तत्त्वार्थ-अ० ९वें के १ ले सूत्र की सर्वार्थसिद्धि में भी इन तीन प्रकृतियों को कषाय-हेतुक माना है। परन्तु श्रीदेवेन्द्रसूरि ने इन तीन प्रकृतियों के बन्ध को कषाय-हेतुक नहीं कहा। उनका तात्पर्य सिर्फ विशेष हेतु दिखाने का जान पड़ता है, कषाय के निषेध का नहीं; क्योंकि सब कर्म के प्रकृति और प्रदेश-बन्ध में योग की तथा स्थिति और अनुभाग-बन्ध में कषाय की कारणता निर्विवाद सिद्ध है। इसका विशेष विचार, पञ्चसंग्रह-द्वार ४ की २०वीं गाथा की श्रीमलयगिरि-टीका में देखने योग्य है।

२—यह विषय, पञ्चसंग्रह-द्वार ४ की ५वीं गाथा में तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ७८९ और ७९०वीं गाथा में है।

उत्तर बन्ध-हेतु के सामान्य और विशेष, ये दो भेद हैं। किसी एक गुणस्थान में वर्तमान संपूर्ण जीवों में युगपत् पाये जाने वाले बन्ध-हेतु, 'सामान्य' और एक जीव में युगपत् पाये जाने वाले बन्ध-हेतु 'विशेष' कहलाते हैं। प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ७७वीं गाथा में और इस जगह सामान्य-उत्तर बन्ध-हेतु का वर्णन है; परन्तु पञ्चसंग्रह और गोम्मटसार में सामान्य और विशेष, दोनों प्रकार के बन्ध-हेतुओं का। पञ्चसंग्रह की टीका में यह विषय बहुत स्पष्टता से समझाया है। विशेष उत्तर बन्ध-हेतु का वर्णन अतिविस्तृत और गम्भीर है।

पञ्चपञ्चाशत् पञ्चाशत् त्रिकषडधिकचत्वारिंशदेकोनचत्वारिंशत् षट्चतु-
द्विंविंशतिः ।

षोडश दश नव नव सप्त हेतवो नत्वयोगिनि ।। ५४ ।।

अर्थ—पहले गुणस्थान में पचपन बन्ध-हेतु हैं, दूसरे में पचास, तीसरे में तेतालीस, चौथे में छयालीस, पाँचवें में उन्तालीस, छठे में छब्बीस, सातवें मे चौबीस, आठवें में बाईस, नौवें में सोलह, दसवें में दस, ग्यारहवें और बारहवें में नौ तथा तेरहवें में सात बन्ध-हेतु हैं, चौदहवें गुणस्थान में बन्ध-हेतु नहीं हैं ।।५४।।

पणपन्नमिच्छि हारग,–दुगूण सासाणि पन्नमिच्छ विणा ।
मिस्सदुगकंमअणविणु, तिचत्त मीसे अह छचत्ता ।।५५।।
सदुमिस्सकंम अजए, अविरइकम्मुरलमीसबिकसाये ।
मुत्तुगुणचत्त देसे, छवीस साहरद् पमत्ते ।।५६।।
अविरइइगारतिकसा,–यवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारा ।।५७।।

पञ्चपञ्चाशन्मिथ्यात्व आहारकद्विकोनाः सासादने पञ्चमिथ्यात्वानि विना ।
मिश्रद्विककार्मणाऽनान्विना, त्रिचत्वारिंशन्मिश्रेऽय षट्चत्वारिंशत् ।।५५।।
सद्विमिश्रकर्मा अयतेऽविरतिकमौदारिकमिश्रौद्वितीयकषायान् ।
मुक्त्वैकोनचत्वारिंशद्देशे, षड्विंशतिः साहारकद्विकाः प्रमत्ते ।।५६।।
अविरत्येकादशकतृतीयकषायवर्जा अप्रमत्ते मिश्रद्विकरहिता ।
चतुर्विंशतिरपूर्वे पुनर्द्वाविंशतिरवैक्रियाहाराः ।।५७।।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आहारक-द्विक को छोड़कर पचपन बन्ध-हेतु हैं । सासादनगुणस्थान में पाँच मिथ्यात्व के सिवाय पचास बन्ध-हेतु हैं । मिश्रदृष्टिगुणस्थान में औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



कार्मण और अनन्तानुबन्धि-चतुष्क, इन सात को छोड़कर तेतालीस बन्ध-हेतु हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में पूर्वोक्त तेतालीस तथा कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन, कुल छयालीस बन्ध-हेतु है। देशविरतिगुण स्थान में कार्मण, औदारिकमिश्र, त्रस-अविरति और अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क, इन सात के सिवाय शेष उन्तालीस बन्ध-हेतु हैं। प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ग्यारह अविरतियाँ, प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क, इन पन्द्रह को छोड़कर उक्त उन्तालीस में से चौबीस तथा आहारक-द्विक, कुल छब्बीस बन्ध-हेतु हैं।

अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में पूर्वोक्त छब्बीस में से मिश्र-द्विक (वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र) के सिवाय शेष चौब्बीस बन्ध हेतु हैं। अपूर्वकरणगुणस्थान में वैक्रियकाययोग और आहारककाययोग को छोड़कर बाईस हेतु है ॥५५॥ ॥५६॥ ॥५७॥

भावार्थ—५१ और ५२वीं गाथा में सत्तावन उत्तर बन्ध-हेतु कहे गये हैं। इनमें से आहारक-द्विकके सिवाय शेष पचपन बन्ध-हेतु पहले गुणस्थान में पाये जाते हैं। आहारक-द्विक संयम-सापेक्ष है और इस गुणस्थान में संयम का अभाव है, इसलिये इसमें आहारक-द्विक नहीं होता।

दूसरे गुणस्थान में पाँचों मिथ्यात्व नहीं हैं, इसी से उनको छोड़कर शेष पचास हेतु कहे गये हैं। तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धि-चतुष्क नहीं है, क्योंकि उसका उदय दूसरे गुणस्थान तक ही है तथा इस गुणस्थान के समय मृत्यु न होने के कारण अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग भी नहीं होते। इस प्रकार तीसरे गुणस्थान में सात बन्ध-हेतु घट जाने से उक्त पचास में से शेष तेतालीस हेतु हैं।

चौथा गुणस्थान अपर्याप्त-अवस्था में भी पाया जाता है; इसलिये इसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रिय-मिश्र, इन तीन योगों का सम्भव है। तीसरे गुणस्थान सम्बन्धी तेता-लीस और ये तीन योग, कुल छयालीस बन्ध-हेतु चौथे गुणस्थान में समझने चाहिये। अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क चौथे गुणस्थान तक ही उदयमान रहता है, आगे नहीं। इस कारण वह पाँचवें गुणस्थान में नहीं पाया जाता। पाँचवाँ गुणस्थान देशविरति रूप होने से इसमें त्रस-हिंसा रूप त्रस-अविरति नहीं है तथा यह गुणस्थान केवल पर्याप्त-अवस्था भावी है; इस कारण इसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण और औदारिक मिश्र, ये दो योग भी नहीं होते। इस तरह चौथे गुणस्थान सम्बन्धी छयालीस हेतुओं में से उक्त सात के सिवाय शेष उन्तालीस बन्ध-हेतु पाँचवें गुणस्थान में हैं। इन उन्तालीस हेतु-ओं में वैक्रियमिश्र काययोग शामिल है, पर वह अपर्याप्त-अवस्था-भावी नहीं, किन्तु वैक्रियलब्धि-जन्य, जो पर्याप्त अवस्था में ही होता है। पाँचवें गुणस्थान के समय संकल्प-जन्य त्रस-हिंसा का सम्भव ही नहीं है। आरम्भ-जन्य त्रस-हिंसा का संभव है सही, पर बहुत कम; इस-लिये आरम्भ-जन्य अति-अल्प त्रस-हिंसा की विवक्षा न करके उन्ता-लीस हेतुओं में त्रस-अविरति की गणना नहीं की है।

छठा गुणस्थान सर्वविरतिरूप है; इसलिये इसमें शेष ग्यारह अविरतियाँ नहीं होती। इसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क, जिसका उदय पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त ही रहता है, नहीं होता। इस तरह पाँचवें गुणस्थान-सम्बन्धी उन्तालीस हेतुओं में से पन्द्रह घटा देने पर शेष चौबीस रहते हैं। ये चौबीस तथा आहारक-द्विक, कुल छब्बीस हेतु छठे गुणस्थान में हैं। इस गुणस्थान में चतुर्दशपूर्व-धारी मुनि आहारकलब्धि के प्रयोग द्वारा आहारकशरीर रचते हैं इसीसे छब्बीस हेतुओं में आहारक-द्विक परिगणित है।

वैक्रियशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय वैक्रियमिश्र तथा आहारकशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय आहारकमिश्र-योग होता है, पर उस समय प्रमत्त-भाव होनेके कारण सातवाँ गुणस्थान नहीं होता। इस कारण इस गुणस्थानके बन्ध-हेतुओंमें ये दो योग नहीं गिने गये हैं।

वैक्रियशरीरवालेको वैक्रियकाययोग और आहारकशरीरवालेको आहारककाययोग होता है। ये दो शरीरवाले अधिकसे अधिक सातवें गुणस्थानके ही अधिकारी हैं; आगेके गुणस्थानोंके नहीं। इस कारण आठवें गुणस्थानके बन्ध-हेतुओंमें इन दो योगोंको नहीं गिना है ॥५५, ५६, ५७॥

**अछहास सोल बायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।**
**खीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुव्वुत्त सगजोगा ॥५८॥**

अषड्हासाः षोडश बादरे, सूक्ष्मे दश वेदसंज्वलनत्रिकाद्विना।
क्षीणोपशान्तेऽलोभाः, सयोगिनि पूर्वोक्तास्सप्तयोगाः ॥५८॥

अर्थ—अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानमें हास्य-षट्कके सिवाय पूर्वोक्त बाईसमेंसे शेष सोलह हेतु हैं। सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानमें तीन वेद और तीन संज्वलन (लोभको छोड़कर)के सिवाय दस हेतु हैं। उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह-गुणस्थानोंमें संज्वलनलोभके सिवाय नौ हेतु तथा सयोगिकेवलीगुणस्थानमें सात हेतु हैं; जो सभी योगरूप हैं ॥५८॥

भावार्थ—हास्य-षट्कका उदय आठवेंसे आगेके गुणस्थानोंमें नहीं होता; इसलिये उसे छोड़कर आठवें गुणस्थानके बाईस हेतुओंमेंसे शेष सोलह हेतु नौवें गुणस्थानमें समझने चाहिये।

तीन वेद तथा संज्वलन-क्रोध, मान और माया, इन छहका उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है; इस कारण इन्हें छोड़कर शेष दस हेतु दसवें गुणस्थानमें कहे गये हैं।

संज्वलनलोभका उदय दसवें गुणस्थान तक ही रहता है; इस-लिये इसके सिवाय उक्त दसमेंसे शेष नौ हेतु ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें पाये जाते हैं। नौ हेतु ये हैं:—चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग।

तेरहवें गुणस्थानमें सात हेतु हैं:—सत्य और असत्यामृषमनोयोग, सत्य और असत्यामृषवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमि-श्रकाययोग तथा कार्मणकाययोग।

चौदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है; इसलिये इसमें बन्ध-हेतु सर्वथा नहीं है ॥ ५८ ॥

# (६)—गुणस्थानोंमें बन्ध ।

**अपमत्तंता सत्त,-ट्ठ मीसअपुव्वबायरा सत्त ।**
**बंधइ छस्सुहुमो ए,-गमुवरिमा बंधगाऽजोगी ॥५६॥**

अप्रमत्तान्तास्सप्ताष्टान् मिश्रापूर्वबादरास्सप्त ।
बध्नाति षट् च सूक्ष्म एकमुपरितना अबन्धकोऽयोगी ॥५९॥

अर्थ—अप्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त सात या आठ प्रकृतिओंका बन्ध होता है। मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर-गुणस्थानमें सात प्रकृतिओंका, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानमें छह प्रकृतिओंका और उपशान्तमोह आदि तीन गुणस्थानोंमें एक प्रकृतिका बन्ध होता है। अयोगिकेवलीगुणस्थानमें बन्ध नहीं होता ॥५६॥

भावार्थ—तीसरेके सिवाय पहिलेसे लेकर सातवें तकके छह गुणस्थानोंमें मूल कर्मप्रकृतियाँ सात या आठ बाँधी जाती हैं। आयु बाँधनेके समय आठका और उसे न बाँधनेके समय सातका बन्ध समझना चाहिये।

तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानमें आयुका बन्ध न होनेके कारण सातका ही बन्ध होता है। आठवें और नौवें गुणस्थानमें परिणाम इतने अधिक विशुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उनमें आयु-बन्ध-योग्य परिणाम ही नहीं रहते और तीसरे गुणस्थानका स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें आयुका बन्ध नहीं होता।

दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीयका बन्ध न होनेके कारण छहका बन्ध माना जाता है। परिणाम अतिविशुद्ध हो जानेसे आयु-

---

१—यहाँसे ६२वीं गाथा तकका विषय, पञ्चसंग्रहके ५वें द्वारकी २री, ३री और ५वीं गाथामें है।

का बन्ध और बादरकषायोदय न होनेसे मोहनीयका बन्ध उसमें वर्जित है।

ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें केवल सातवेदनीयका बन्ध होता है; क्योंकि उनमें कषायोदय सर्वथा न होनेसे अन्य प्रकृतिओंका बन्ध असंभव है।

सारांश यह है कि तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानमें सातका ही बन्धस्थान; पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानमें सातका तथा आठका बन्धस्थान; दसवेंमें छहका बन्धस्थान और ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें एकका बन्धस्थान होता है ॥५६॥

१—२६ विचार, नन्दीसूत्रकी ३री गाथाकी श्रीमलयगिरिवृत्तिके ४१वें पृष्ठपर है।

## (७-८)—गुणस्थानोंमें सत्ता तथा उदय।

**आसुहुमं संतुदये, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणंमि।**
**चउ चरिमदुगे अट्ठ उ, संते उवसंति सत्तुदए ॥६०॥**

आसूक्ष्मं सदुदयेऽष्टापि मोहं विना सप्त क्षीणे।
चत्वारि चरमद्विकेऽष्ट तु, सत्युपशान्ते सप्तोदये ॥६०॥

अर्थ—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त आठ कर्मकी सत्ता तथा आठ कर्मका उदय है। क्षीणमोहगुणस्थानमें सत्ता और उदय, दोनों सात कर्मोंके हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली-गुणस्थानमें सत्ता और उदय चार कर्मोंके हैं। उपशान्तमोहगुणस्थानमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है ॥६०॥

भावार्थ—पहले दस गुणस्थानोंमें सत्ता-गत तथा उदयमान आठ कर्म पाये जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्म सत्ता-गत रहता है, पर उदयमान नहीं; इसलिये उसमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है। बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, इसलिये सत्ता और उदय दोनों सात कर्मके हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सत्ता-गत और उदयमान चार अघातिकर्म ही हैं।

सारांश यह है कि सत्तास्थान पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें आठका, बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है तथा उदयस्थान पहले दस गुणस्थानोंमें आठका, ग्यारहवें और बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है ॥६०॥

# (९)—गुणस्थानोंमें उदीरणा।

[दो गाथाओंसे।]

**उइरंति पमत्तंता, सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा।**
**छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥६१॥**

उदीरयन्ति प्रमत्तान्ताः, सप्ताष्टानि मिश्रोऽष्ट वेदायुषी विना।
षट्कमप्रमत्तादयस्ततः, षट् पञ्च सूक्ष्मः पञ्चोपशान्तः ॥६१॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है। मिश्रगुणस्थानमें आठ कर्मकी, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर, इन तीन गुणस्थानोंमें वेदनीय तथा आयुके सिवाय छह कर्मकी; सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानमें छह या पाँच कर्मकी और उपशान्तमोहगुणस्थानमें पाँच कर्मकी उदीरणा होती है ॥६१॥

भावार्थ—उदीरणाका विचार समझनेके लिये यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये कि जो कर्म उदयमान हो उसीकी उदीरणा होती है, अनुदयमानकी नहीं। उदयमान कर्म आवलिका-प्रमाण शेष रहता है, उस समय उसकी उदीरणा रुक जाती है।

तीसरेको छोड़ प्रथमसे छठे तकके पहले पाँच गुणस्थानोंमें सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है। आयुकी उदीरणा न होनेके समय सात कर्मकी और होनेके समय आठ कर्मकी समझनी चाहिये। उक्त नियमके अनुसार आयुकी उदीरणा उस समय रुक जाती है, जिस समय वर्तमान भवकी आयु आवलिका-प्रमाण शेष रहती है। यद्यपि वर्तमान-भवीय आयुके आवलिकामात्र बाकी रहनेके समय परभवीय आयुकी स्थिति आवलिकासे अधिक होती है तथापि अनु-

दयमान होनेके कारण उसकी उदीरणा उक्त नियमके अनुसार नहीं होती।

तीसरे गुणस्थानमें आठ कर्मकी ही उदीरणा मानी जाती है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मृत्यु नहीं होती। इस कारण आयुकी अन्तिम आवलिकामें, जब कि उदीरणा रुक जाती है, इस गुणस्थानका संभव ही नहीं है।

सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानमें छह कर्मकी उदीरणा होती है, आयु और वेदनीय कर्मकी नहीं। इसका कारण यह है कि इन दो कर्मोंकी उदीरणाकेलिये जैसे अध्यवसाय आवश्यक हैं, उक्त तीन गुणस्थानोंमें अतिविशुद्धि होनेके कारण वैसे अध्यवसाय नहीं होते।

दसवें गुणस्थानमें छह अथवा पाँच कर्मकी उदीरणा होती है। आयु और वेदनीयकी उदीरणा न होनेके समय छह कर्मकी तथा उक्त दो कर्म और मोहनीयकी उदीरणा न होनेके समय पाँचकी समझना चाहिये। मोहनीयकी उदीरणा दशम गुणस्थानकी अन्तिम आवलिकामें रुक जाती है। सो इसलिये कि उस समय उसकी स्थिति आवलिका-प्रमाण शेष रहती है।

ग्यारहवें गुणस्थानमें आयु, वेदनीय और मोहनीयकी उदीरणा न होनेके कारण पाँचकी उदीरणा होती है। इस गुणस्थानमें उदयमान न होनेके कारण मोहनीयकी उदीरणा निषिद्ध है ॥६१॥

# (१०)–गुणस्थानोंमें अल्प-बहुत्व ।

[दो गाथाओंसे ।]

**पण दो खीण दु जोगी,-गुदीरगु अजोगि थोव उवसंता ।**
**संखगुण खीण सुहुमा,-नियट्टीअपुव्व सम अहिया ॥६२॥**

पञ्च द्वे क्षीणो द्वे योग्यनुदीरकोऽयोगी स्तोका उपशान्ताः ।
संख्यगुणाः क्षीणाः सूक्ष्माऽनिवृत्त्यपूर्वाः समा अधिकाः ॥ ६२ ॥

अर्थ—क्षीणमोहगुणस्थानमें पाँच या दो कर्मकी उदीरणा है और सयोगिकेवलीगुणस्थानमें सिर्फ दो कर्मकी । अयोगिकेवली-गुणस्थानमें उदीरणाका अभाव है ।

उपशान्तमोहगुणस्थान-वर्ती जीव सबसे थोड़े हैं। क्षीणमोहगुण-स्थान-वर्ती जीव उनसे संख्यातगुण हैं। सूक्ष्मसंपराय, अनिवृत्तिबादर और अपूर्वकरण, इन तीन गुणस्थानोंमें वर्तमान जीव क्षीणमोहगुण-स्थानवालोंसे विशेषाधिक हैं, पर आपसमें तुल्य हैं ॥६२॥

भावार्थ—बारहवें गुणस्थानमें अन्तिम आवलिकाको छोड़कर अन्य सब समयमें आयु, वेदनीय और मोहनीयके सिवाय पाँच कर्मकी उदीरणा होती रहती है। अन्तिम आवलिकामें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकी स्थिति आवलिका-प्रमाण शेष रहती है। इसलिये उस समय उनकी उदीरणा रुक जाती है। शेष दो (नाम और गोत्र) की उदीरणा रहती है।

तेरहवें गुणस्थानमें चार अघातिकर्म ही शेष रहते हैं। इनमेंसे आयु और वेदनीयकी उदीरणा तो पहलेसे ही रुकी हुई है। इसी कारण इस गुणस्थानमें दो कर्मकी उदीरणा मानी गई है।

---

१—यह विषय, पञ्चसंग्रह-द्वार २की ८० और ८१ वा गाथामें है गोम्मटसार-जीव०की ६२२से ६२८ तककी गाथाओंमें कुछ भिन्नरूपसे है ।

चौदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है। योगके सिवाय उदीरणा नहीं हो सकती, इस कारण इसमें उदीरणाका अभाव है।

सारांश यह है कि तीसरे गुणस्थानमें आठहीका उदीरणास्थान, पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठेमें सातका तथा आठका, सातवेंसे लेकर दसवें गुणस्थानकी एक आवलिका बाकी रहे तब तक छहका, दसवेंकी अन्तिम आवलिकासे बारहवें गुणस्थानकी चरम आवलिका शेष रहे तब तक पाँचका और बारहवेंकी चरम आवलिकासे तेरहवें गुणस्थानके अन्त तक दोका उदीरणास्थान पाया जाता है।

## अल्प बहुत्व।

ग्यारहवें गुणस्थानवाले जीव अन्य प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवोंसे अल्प हैं; क्योंकि वे प्रतिपद्यमान (किसी विवक्षित समयमें उस अवस्थाको पानेवाले) चौअन और पूर्वप्रतिपन्न (किसी विवक्षित समयके पहिलेसे उस अवस्थाको पाये हुए) एक, दो या तीन आदि पाये जाते हैं। बारहवें गुणस्थानवाले प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व (दो सौसे नौ सौ तक) पाये जाते हैं, इसलिये ये ग्यारहवें गुणस्थानवालोंसे संख्यातगुण कहे गये हैं। उपशमश्रेणिके प्रतिपद्यमान जीव उत्कृष्ट चौअन और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो, तीन आदि तथा क्षपकश्रेणिके प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व माने गये हैं। उभय-श्रेणिवाले सभी आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें वर्तमान होते हैं। इसलिये इन तीनों गुणस्थानवाले जीव आपसमें समान हैं; किन्तु बारहवें गुणस्थानवालोंकी अपेक्षा विशेषाधिक हैं ॥६२॥

जोगिअपमत्तइयरे, संखगुणा देससासणामीसा।
अविरय अजोगिमिच्छा, असंख चउरो दुवे णंता ॥६३॥

योग्यप्रमत्तेतराः, संख्यगुणा देशसासादनमिश्राः ।
अविरता अयोगिमिथ्यात्वानि असंख्याश्चत्वारो द्वावनन्तौ ॥ ६३ ॥

अर्थ—सयोगिकेवली, अप्रमत्त और प्रमत्तगुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे संख्यातगुण हैं। देशविरति, सासादन, मिश्र और अविरत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे असंख्यातगुण हैं। अयोगिकेवली और मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे अनन्त-गुण हैं ॥६३॥

भावार्थ—तेरहवें गुणस्थानवाले आठवें गुणस्थानवालोंसे संख्यात-गुण इसलिये कहे गये हैं कि ये जघन्य दो करोड़ और उत्कृष्ट नौ करोड़ होते हैं। सातवें गुणस्थानवाले दो हजार करोड़ पाये जाते हैं; इसलिये ये सयोगिकेवलियोंसे संख्यातगुण हैं। छठे गुणस्थानवाले नौ हजार करोड़ तक हो जाते हैं; इसी कारण इन्हें सातवें गुणस्थान-वालोंसे संख्यातगुण माना है। असंख्यात गर्भज-तिर्यञ्च भी देश-विरति पा लेते हैं, इसलिये पाँचवें गुणस्थानवाले छठे गुणस्थानवालों-से असंख्यातगुण हो जाते हैं। दूसरे गुणस्थानवाले देशविरतिवालोंसे असंख्यातगुण कहे गये हैं। इसका कारण यह है कि देशविरति, तिर्यञ्च-मनुष्य दो गतिमें ही होती है, पर सासादनसम्यक्त्व चारों गतिमें। सासादनसम्यक्त्व और मिश्रदृष्टि ये दोनों यद्यपि चारों गतिमें होते हैं परन्तु सासादनसम्यक्त्वकी अपेक्षा मिश्रदृष्टिका काल-मान असंख्यातगुण अधिक है; इस कारण मिश्रदृष्टिवाले सासा-दनसम्यक्त्वियोंकी अपेक्षा असंख्यातगुण होते हैं। चौथा गुणस्थान चारों गतिमें सदा ही पाया जाता है और उसका काल-मान भी बहुत अधिक है, अत एव चौथे गुणस्थानवाले तीसरे गुणस्थानवालोंसे असंख्यातगुण होते हैं। यद्यपि भवस्थ अयोगी, क्षपकश्रेणिवालोंके बराबर अर्थात् शत-पृथक्त्व-प्रमाण ही हैं तथापि अभवस्थ अयोगी

(सिद्ध) अनन्त हैं, इसीसे अयोगिकेवली जीव चौथे गुणस्थानवालोंसे अनन्तगुण कहे गये हैं। साधारण वनस्पतिकायिक जीव सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं और वे सभी मिथ्यादृष्टि हैं; इसीसे मिथ्यादृष्टिवाले चौदहवें गुणस्थानवालोंसे अनन्तगुण हैं।

पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और तेरहवाँ, ये छह गुणस्थान लोकमें सदा ही पाये जाते हैं, शेष सात गुणस्थान कभी नहीं भी पाये जाते; पाये जाते हैं तब भी उनमें वर्तमान जीवोंकी संख्या कभी जघन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है। ऊपर कहा हुआ अल्प-बहुत्व उत्कृष्ट संख्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये, जघन्य संख्याकी अपेक्षासे नहीं; क्योंकि जघन्य संख्याके समय जीवोंका प्रमाण उपर्युक्त अल्प-बहुत्वके विपरीत भी हो जाता है। उदाहरणार्थ, कभी ग्यारहवें गुणस्थानवाले बारहवें गुणस्थानवालोंसे अधिक भी हो जाते हैं। सारांश, उपर्युक्त अल्प-बहुत्व सब गुणस्थानोंमें जीवोंके उत्कृष्ट-संख्यक पाये जानेके समय ही घट सकता है ॥६३॥

# छह भाव और उनके भेद।

[ पाँच गाथाओंसे। ]

**उवसमखयमीसोदय,-परिणामा दुनवट्ठारइगवीसा।**
**तिय भेय संनिवाइय, संमं चरणं पढमभावे ॥ ६४ ॥**

उपशमक्षयमिश्रोदयपरिणामा द्विनवाष्टादशैकविंशतयः।
त्रयो भेदास्सांनिपातिकः, सम्यक्त्वं चरणं प्रथमभावे ॥ ६४ ॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक, ये पाँच मूल भाव हैं। इनके क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। छठा भाव सांनिपातिक है। पहले (औपशमिक-) भावके सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो भेद हैं ॥६४॥

भावार्थ—भाव, पर्यायको कहते हैं। अजीवका पर्याय अजीवका भाव और जीवका पर्याय जीवका भाव है। इस गाथामें जीवके भाव दिखाये हैं। ये मूल भाव पाँच हैं।

१—औपशमिक-भाव वह है, जो उपशमसे होता है। प्रदेश और विपाक, दोनों प्रकारके कर्मोदयका रुक जाना उपशम है।

२—क्षायिक-भाव वह है, जो कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है।

---

१—इस विचार, अनुयोगद्वारके ११३ से १२७ तकके पृष्ठमें; तत्त्वार्थ-अ० २के १से ७तकके सूत्रमें तथा सूत्रकृताङ्ग-नि०की १०७वीं गाथा तथा उसकी टीकामें है। पञ्चसंग्रह-द्वा० ३की २६वीं गाथामें तथा द्वा० २की ३री गाथाकी टीका तथा सूक्ष्मार्थविचार-सारोद्धारकी ५१से५७ तककी गाथाओंमें भी इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है।

गोम्मटसार-कर्मकाण्डमें इस विषयका 'भावचूलिका' नामक एक खास प्रकरण है। भावोंके भेद-प्रभेदके सम्बन्धमें उसकी ८१२ से ८१६ तककी गाथाएँ द्रष्टव्य है। आगे उसमें कई तरहके भङ्ग-जाल दिखाये है।

३—क्षायोपशमिक-भाव क्षयोपशमसे प्रगट होता है। कर्मके उदयावलि-प्रविष्ट मन्द रसस्पर्धकका क्षय और अनुदयमान रसस्पर्धककी सर्वघातिनी विपाक-शक्तिका निरोध या देशघातिरूपमें परिणमन व तीव्र शक्तिका मन्द शक्तिरूपमें परिणमन ( उपशम ), क्षयोपशम है।

४—औदयिक-भाव कर्मके उदयसे होनेवाला पर्याय है।

५—पारिणामिक-भाव स्वभावसे ही स्वरूपमें परिणत होते रहना है।

एक-एक भावको 'मूलभाव' और दो या दोसे अधिक मिले हुए भावोंको 'सांनिपातिक-भाव' समझना चाहिये।

भावोंके उत्तर भेदः—औपशमिक-भावके सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही भेद हैं। (१) अनन्तानुबन्धि-चतुष्कके क्षयोपशम या उपशम और दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमसे जो तत्त्व-रुचि-व्यञ्जक आत्म-परिणाम प्रगट होता है, वह 'औपशमिकसम्यक्त्व' है। (२) चारित्र-मोहनीयकी पचीस प्रकृतियोंके उपशमसे व्यक्त होनेवाला स्थिरतात्मक परिणाम 'औपशमिकचारित्र' है। यही ग्यारहवें गुण-स्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथाख्यातचारित्र' है। औपशमिक-भाव सादि-सान्त है ॥६४॥

बीए केवलजुयलं, संमं दाणाइलद्धि पण चरणं।
तइए सेसुवओगा, पण लद्धी सम्मविरइदुगं ॥ ६५ ॥

द्वितीये केवलयुगलं, सम्यग् दानादिलब्धयः पञ्च चरणम्।
तृतीये शेषोपयोगाः, पञ्च लब्धयः सम्यग्विरतिद्विकम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—दूसरे (क्षायिक-)भावके केवल-द्विक, सम्यक्त्व, दान आदि पाँच लब्धियाँ और चारित्र, ये नौ भेद हैं। तीसरे (क्षायोपशमिक-)

भावके केवल-द्विकको छोड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और विरति-द्विक, ये अठारह भेद हैं ॥६५॥

भावार्थ—क्षायिक-भावके नौ भेद हैं। इनमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो भाव क्रमसे केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय-कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रगट होते हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, ये पाँच लब्धियाँ क्रमशः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय-कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रगट होती हैं। सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शनमोहनीयके सर्वथा क्षय हो जानेसे व्यक्त होता है। चारित्र, चारित्रमोहनीयकर्मकी सब प्रकृतियोंका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है। यही बारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथाख्यातचारित्र' है। सभी क्षायिक-भाव कर्म-क्षय-जन्य होनेके कारण 'सादि' और कर्मसे फिर आवृत न हो सकनेके कारण अनन्त हैं।

क्षायोपशमिक-भावके अठारह भेद हैं। जैसेः—बारह उपयोगोंमेंसे केवल-द्विकको छोड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और देशविरति तथा सर्वविरति-चारित्र। मति-ज्ञान-मति-अज्ञान, मतिज्ञानावरणीयके क्षयोपशमसे; श्रुतज्ञान-श्रुत-अज्ञान, श्रुतज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे; अवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान, अवधिज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे; मनःपर्यायज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन, क्रमसे चक्षुर्दर्शनावरणीय, अचक्षुर्दर्शनावरणीय और अवधिदर्शनावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे प्रगट होते हैं। दान आदि पाँच लब्धियाँ दानान्तराय आदि पाँच प्रकारके अन्तरायकर्मके क्षयोपशमसे होती हैं। अनन्तानुबन्धिकषाय और दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे सम्यक्त्व होता है। अप्रत्याख्यानावरणीयकषायके क्षयोपशमसे देशविरतिका आविर्भाव होता है और प्रत्याख्यानावर-

णीयकषायके क्षयोपशमसे सर्वविरतिका। मति-अज्ञान आदि क्षायोपशमिक-भाव अभव्यके अनादि-अनन्त और विभङ्गज्ञान सादि-सान्त है। मतिज्ञान आदि भाव भव्यके सादि-सान्त और दान आदि लब्धियाँ तथा अचक्षुर्दर्शन अनादि-सान्त हैं ॥ ६५ ॥

**अन्नाणमसिद्धत्ता,-संजमलेसाकसायगइवेया।**
**मिच्छं तुरिए भव्वा,-भव्वत्तजियत्त परिणामे ॥६६॥**

अज्ञानमसिद्धत्वाऽसंयमलेश्याकषायगतिवेदाः।
मिथ्यात्वं तुर्ये भव्याऽभव्यत्वजीवत्वानि परिणामे ॥ ६६ ॥

**अर्थ—अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, लेश्या, कषाय, गति, वेद और मिथ्यात्व, ये भेद चौथे (औदयिक)भावके हैं। भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व, ये पारिणामिक-भाव हैं ॥६६॥**

**भावार्थ—औदयिक-भावके इक्कीस भेद हैं। जैसेः—अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, छह लेश्याएँ, चार कषाय, चार गतियाँ, तीन वेद और मिथ्यात्व। अज्ञानका मतलब ज्ञानका अभाव और मिथ्याज्ञान दोनोंसे है। ज्ञानका अभाव ज्ञानावरणीयकर्मके उदयका और मिथ्याज्ञान मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयका फल है; इसलिये दोनों प्रकारका अज्ञान औदयिक है। असिद्धत्व, संसारावस्थाको कहते हैं। यह, आठ**

---

१—निद्रा, सुख, दुःख, हास्य, शरीर आदि असंख्यात भाव, जो भिन्न-भिन्न कर्मके उदयसे होते हैं, वे सभी औदयिक हैं, तथापि इस जगह श्रीउमास्वाति आदि पूर्वाचार्योंके कथनका अनुसरण करके स्थूल दृष्टिसे इक्कीस औदयिक-भाव बतलाये हैं।

२—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञानको पिछली गाथामें क्षायोपशमिक और यहाँ औदयिक कहा है। क्षायोपशमिक इस अपेक्षासे कहा है कि ये उपयोग मतिज्ञानावरणीय आदि कर्मके क्षयोपशम-जन्य हैं और औदयिक इस अपेक्षासे कहा है कि इनकी अयथार्थताका कारण मिथ्यात्वमोहनीयकर्मका उदय है।

कर्मके उदयका फल है। असंयम, विरतिका अभाव है। यह अप्रत्याख्यानावरणीयकषायके उदयका परिणाम है। मत-भेदसे लेश्याके तीन स्वरूप हैं:-(१) कषायिक-परिणाम, (२) कर्म-परिणति और (३) योग-परिणाम। ये तीनों औदयिक ही हैं; क्योंकि कषायिक-परिणाम कषायके उदयका, कर्म-परिणति कर्मके उदयका और योग-परिणाम शरीरनाम-कर्मके उदयका फल है। कषाय, कषायमोहनीयकर्मके उदयसे होता है। गतियाँ गतिनामकर्मके उदय-जन्य हैं। द्रव्य और भाव दोनों प्रकारका वेद औदयिक है। आकृतिरूप द्रव्यवेद अङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे और अभिलाषारूप भाववेद वेदमोहनीयके उदयसे होता है। मिथ्यात्व, अविवेकपूर्ण गाढतम मोह है, जो मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयका परिणाम है। औदयिक-भाव अभव्यके अनादि-अनन्त और भव्यके बहुधा अनादि-सान्त है।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, ये तीन पारिणामिक-भाव हैं। प्राण धारण करना जीवत्व है। यह भाव संसारी और सिद्ध सब जीवोंमें मौजूद होनेके कारण भव्यत्व और अभव्यत्वकी अपेक्षा व्यापक (अधिक-देश-स्थायी) है। भव्यत्व सिर्फ भव्य जीवोंमें और अभव्यत्व सिर्फ अभव्य जीवोंमें है। पारिणामिक-भाव अनादि-अनन्त है।

पाँच भावोंके सब मिलाकर त्रेपन भेद होते हैं:—औपशमिकके दो, क्षायिकके नौ, क्षायोपशमिकके अठारह, औदयिकके इक्कीस और पारिणामिकके तीन ॥६६॥

चउ चउगईसु मीसग,-परिणामुदएहिं चउ सखइएहिं।
उवसमजुएहिं वा चउ, केवलि परिणामुदयखइए ॥६७॥
खयपरिणामे सिद्धा, नराण पणजोगुवसमसेढीए।
इय पनर संनिवाइय,-भेया वीसं असंभविणो ॥ ६८ ॥

चत्वारश्चतुर्गतिषु मिश्रकपरिणामोदयैश्चत्वारः सक्षायिकैः ।
उपशमयुतैर्वा चत्वारः, केवली परिणामोदयक्षायिके ॥
क्षयपरिणामे सिद्धा, नराणां पञ्चयोग उपशमश्रेण्याम् ।
इति पञ्चदश सांनिपातिकभेदा विंशतिरसंभविनः ॥ ६८ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक, पारिणामिक और औदयिक, इन तीन भावोंका त्रिक-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव चार गतिमें पाये जानेके कारण चार प्रकारका है। उक्त तीन और एक क्षायिक, इन चार भावोंका चतुः-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव तथा उक्त तीन और एक औपशमिक, इन चारका चतुः-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव चार गतिमें होता है। इसलिये ये दो सांनिपातिक-भाव भी चार-चार प्रकारके हैं। पारिणामिक, औदयिक और क्षायिकका त्रिक-संयोग-रूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ शरीरधारी केवलज्ञानीको होता है। क्षायिक और पारिणामिकका द्विक-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ सिद्ध जीवोंमें पाया जाता है। पाँचों भावका पञ्च-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव, उपश्रमश्रेणिवाले मनुष्योंमें ही होता है। उक्त रीतिसे छह सांनिपातिक-भावोंके पंद्रह भेद होते हैं। शेष बीस सांनिपातिक-भाव असंभवी अर्थात् शून्य हैं। ॥६७॥६८॥

भावार्थ—औपशमिक आदि पाँच भावोंमेंसे दो, तीन, चार या पाँच भावोंके मिलनेपर सांनिपातिक-भाव होता है। दो भावोंके मेलसे होनेवाला सांनिपातिक 'द्विक-संयोग', तीन भावोंके मेलसे होनेवाला 'त्रिक-संयोग', चार भावोंके मेलसे होनेवाला 'चतुस्संयोग' और पाँच भावोंके मेलसे होनेवाला 'पञ्च-संयोग' कहलाता है।

द्विक-संयोगके दस भेद:—

१—औपशमिक + क्षायिक।
२—औपशमिक + क्षायोपशमिक।

३—औपशमिक + औदयिक ।
४—औपशमिक + पारिणामिक ।
५—क्षायिक + क्षायोपशमिक ।
६—क्षायिक + औदयिक ।
७—क्षायिक + पारिणामिक ।
८—क्षायोपशमिक + औदयिक ।
९—क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
१०—औदयिक + पारिणामिक ।

त्रिक-संयोगके दस भेदः—

१—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक ।
२—औपशमिक + क्षायिक + औदयिक ।
३—औपशमिक + क्षायिक + पारिणामिक ।
४—औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
५—औपशमिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
६—औपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।
७—क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
८—क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
९—क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक ।
१०—क्षायोपशमिक + पारिणामिक + औदयिक ।

चतुः-संयोगके पाँच भेदः—

१—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
२—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
३—औपशमिक + क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक ।
४—औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।
५—क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।

पञ्च-संयोगका एक भेद: —

१–औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक

सब मिलाकर सांनिपातिक-भावके छब्बीस भेद हुए। इनमेंसे जो छह भेद जीवोंमें पाये जाते हैं, उन्हींको इन दो गाथाओंमें दिखाया है।

त्रिक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे दसवाँ भेद, जो क्षायोपशमिक, पारिणामिक और औदयिकके मेलसे बना है, वह चारों गतिमें पाया जाता है। सो इस प्रकार:—चारों गतिके जीवोंमें क्षायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औदयिक-भाव कषाय आदिरूप है। इस तरह इस त्रिक-संयोगके गतिरूप स्थान-भेदसे चार भेद हुए।

चतुः-संयोगके उक्त पाँच भेदोंमेंसे पाँचवाँ भेद चारों गतिमें पाया जाता है; इसलिये इसके भी स्थान-भेदसे चार भेद होते हैं। चारों गतिमें क्षायिक-भाव क्षायिकसम्यक्त्वरूप, क्षायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औदयिक-भाव कषाय आदिरूप है।

चतुः-संयोगके पाँच भेदोंमेंसे चौथा भेद चारों गतिमें पाया जाता है। चारों गतिमें औपशमिक-भाव सम्यक्त्वरूप, क्षायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औदयिक-भाव कषाय आदिरूप समझना चाहिये। इस चतुः-संयोग सांनिपातिकके भी गतिरूप स्थान-भेदसे चार भेद हुए।

त्रिक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे नौवाँ भेद सिर्फ भवस्थ केवलियोंमें होता है; इसलिये वह एक ही प्रकारका है। केवलियोंमें पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप, औदयिक-भाव गति आदिरूप और क्षायिक-भाव केवलज्ञान आदिरूप है।

द्विक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे सातवाँ भेद सिर्फ सिद्ध जीवोंमें पाये जानेके कारण एक ही प्रकारका है। सिद्धोंमें पारिणामिक-

भाव जीवत्व आदिरूप और क्षायिक-भाव केवलज्ञान आदिरूप है।

पञ्च-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ उपशमश्रेणिवाले मनुष्योंमें होता है। इस कारण वह एक ही प्रकारका है; उपशमश्रेणिवाले मनुष्योंमें क्षायिक-भाव सम्यक्त्वरूप, औपशमिक-भाव चारित्ररूप, क्षायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औदयिक-भाव लेश्या आदिरूप है।

इस प्रकार जो छह सांनिपातिक-भाव संभववाले हैं, इनके ऊपर लिखे अनुसार स्वान-भेदसे सब मिलाकर पन्द्रह भेद होते हैं ॥६७॥६८॥

**कर्मके और धर्मास्तिकाय आदि अजीवद्रव्योंके भाव।**

**मोहेव समो मीसो, चउघाइसु अट्ठकंमसु च सेसा।**
**धम्माइ पारिणामिय,-भावे खंधा उदइए वि ॥ ६९ ॥**

मोह एव शमो मिश्रश्चतुर्घातिष्वष्टकर्मसु च शेषाः।
धर्मादि पारिणामिकभावे स्कन्धा उदयेऽपि ॥ ६९ ॥

अर्थ—औपशमिक-भाव मोहनीयकर्मके ही होता है। मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव चार घातिकर्मोंके ही होता है। शेष तीन (क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक) भाव आठों कर्मके होते हैं।

धर्मास्तिकाय आदि अजीवद्रव्यके पारिणामिक-भाव हैं; किन्तु पुद्गल-स्कन्धके औदयिक और पारिणामिक, ये दो भाव हैं ॥६९॥

भावार्थ—कर्मके सम्बन्धमें औपशमिक आदि भावोंका मतलब

---

१—कर्मके भाव, पञ्चसंग्रह-द्वा० ३की २५वीं गाथामें वर्णित है।

२—औपशमिक शब्दके दो अर्थ हैं:—

(१) कर्मकी उपशम आदि अवस्थाएँ ही औपशमिक आदि भाव है। यह, अर्थ कर्मके भावोंमें लागू पड़ता है।

(२) कर्मकी उपशम आदि अवस्थाओंसे होनेवाले पर्याय औपशमिक आदि भाव है। यह अर्थ, जीवके भावोंमें लागू पड़ता है, जो ६४ और ६६वीं गाथामें बतलाये है।

उसकी अवस्था-विशेषोंसे है। जैसे:—कर्मकी उपशम-अवस्था उसका औपशमिक-भाव, क्षयोपशम-अवस्था क्षायोपशमिक-भाव, क्षय-अवस्था क्षायिक-भाव, उदय-अवस्था औदयिक-भाव और परिणमन-अवस्था पारिणामिक-भाव है।

उपशम-अवस्था मोहनीयकर्मके सिवाय अन्य कर्मोंकी नहीं होती; इसलिये औपशमिक-भाव मोहनीयकर्मका ही कहा गया है। क्षयोपशम चार घातिकर्मका ही होता है; इस कारण क्षायोपशमिक-भाव घातिकर्मका ही माना गया है। विशेषता इतनी है कि केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय, इन दो घातिकर्म-प्रकृतिओंके विपाकोदयका निरोधन होनेके कारण इनका क्षयोपशम नहीं होता। क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक, ये तीन भाव आठों कर्मके हैं; क्योंकि क्षय, परिणमन और उदय, ये तीन अवस्थाएँ आठों कर्मकी होती हैं। सारांश यह है कि मोहनीयकर्मके पाँचों भाव, मोहनीयके सिवाय तीन घातिकर्मके चार भाव और चार अघातिकर्मके तीन भाव हैं।

## अजीवद्रव्यके भाव।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय, ये पाँच अजीवद्रव्य हैं। पुद्गलास्तिकायके सिवाय शेष चार अजीवद्रव्योंके पारिणामिक-भाव ही होता है। धर्मास्तिकाय, जीव-पुद्गलोंकी गतिमें सहायक बननेरूप अपने कार्यमें अनादि कालसे परिणत हुआ करता है। अधर्मास्तिकाय, स्थितिमें सहा-

---

१—पारिणामिक शब्दका 'स्वरूप-परिणमन', यह एक ही अर्थ है, जो सब द्रव्योंमें लागू पड़ता है। जैसे:—कर्मका जीव-प्रदेशोंके साथ विशिष्ट सम्बन्ध होना या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि भिन्न-भिन्न निमित्त पाकर अनेकरूपमें संक्रान्त (परिवर्तित) होते रहना कर्मका पारिणामिक-भाव है। जीवका परिणमन जीवत्वरूपमें, भव्यत्वरूपमें या अभव्यत्वरूपमें स्वतः बने रहना है। इसी तरह धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंमें समझ लेना चाहिये।

एक बननेरूप कार्यमें आकाशास्तिकाय, अवकाश देनेरूप कार्यमें और काल, समय-पर्यायरूप स्व-कार्यमें अनादि कालसे परिणमन किया करता है। पुद्गलद्रव्यके पारिणामिक और औदयिक, ये दो भाव हैं। परमाणु-पुद्गलका तो केवल पारिणामिक-भाव है; पर स्कन्धरूप पुद्गलके पारिणामिक और औदयिक, ये दो भाव हैं। स्कन्धोंमें भी द्व्यणुकादि सादि स्कन्ध पारिणामिक-भाववाले ही हैं, लेकिन औदारिक आदि शरीररूप स्कन्ध पारिणामिक-औदयिक दो भाववाले हैं। क्योंकि ये स्व-स्व-रूपमें परिणत होते रहनेके कारण पारिणामिक-भाववाले और औदारिक आदि शरीरनामकर्मके उदय-जन्य होनेके कारण औदयिक-भाववाले हैं।

पुद्गलद्रव्यके दो भाव कहे हुए हैं, सो कर्म-पुद्गलसे भिन्न पुद्गलके समझने चाहिये। कर्म-पुद्गलके तो औपशमिक आदि पाँचों भाव हैं, जो ऊपर बतलाये गये हैं ॥६६॥

## (११)—गुणस्थानोंमें मूल भाव।

(एक जीवकी अपेक्षासे।)

**संमाइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते।**
**चउ खीणापुव्व तिन्नि, सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥**

सम्यगादिचतुर्षु त्रयश्चत्वारो, भावाश्चत्वारः पञ्चोपशमकोपशान्ते।
चत्वारः क्षीणाऽपूर्वे त्रयः, शेषगुणस्थानक एकजीवे ॥ ७० ॥

**अर्थ**—एक जीवको सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाव होते हैं। उपशमक (नौवें और दसवें) और उपशान्त (ग्यारहवें) गुणस्थानमें चार या पाँच भाव होते हैं। क्षीणमोह तथा अपूर्व-

१—देखिये, परिशिष्ट 'फ'।

करण-गुणस्थानमें चार भाव होते हैं और शेष सब गुणस्थानोंमें तीन भाव ॥७०॥

भावार्थ[1]—चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें, इन चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाव हैं। तीन भाव ये हैं:—(१) औदयिकः—मनुष्य आदि गति; (२) पारिणामिकः—जीवत्व आदि और (३) क्षायोपशमिकः—भावेन्द्रिय, सम्यक्त्व आदि। ये तीन भाव क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-के समय पाये जाते हैं। परन्तु जब क्षायिक या औपशमिक-सम्यक्त्व हो, तब इन दोमेंसे कोई-एक सम्यक्त्व तथा उक्त तीन, इस प्रकार चार भाव समझने चाहिये।

नौवें, दसवें और ग्यारहवें, इन तीन गुणस्थानोंमें चार या पाँच भाव पाये जाते हैं। चार भाव उस समय, जब कि औपशमिक-सम्यक्त्वी जीव उपशमश्रेणिवाला हो। चार भावमें तीन तो उक्त ही और चौथा औपशमिक-सम्यक्त्व व चारित्र। पाँचमें उक्त तीन, चौथा क्षायिकसम्यक्त्व और पाँचवाँ औपशमिकचारित्र।

आठवें और बारहवें, इन दो गुणस्थानोंमें चार भाव होते हैं। आठवेंमें उक्त तीन और औपशमिक और क्षायिक, इन दोमेंसे कोई-एक सम्यक्त्व, ये चार भाव समझने चाहिये। बारहवेंमें उक्त तीन और चौथा क्षायिकसम्यक्त्व व क्षायिकचारित्र, ये चार भाव।

शेष पाँच (पहले, दूसरे, तीसरे, तेरहवें और चौदहवें) गुण-स्थानोंमें तीन भाव हैं। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें औद-यिकः—मनुष्य आदि गति; पारिणामिकः—जीवत्व आदि और क्षायो-पशमिकः—भावेन्द्रिय आदि, ये तीन भाव हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें औदयिकः—मनुष्यत्व; पारिणामिकः—जीवत्व और क्षायिकः—ज्ञान आदि, ये तीन भाव हैं ॥७०॥

---

१—देखिये, परिशिष्ट 'ब'।

# (१२)—संख्याका विचार[1]।

[सोलह गाथाओंसे।]

## संख्याके भेद-प्रभेद।

**संखिज्जेगमसंखं, परित्तजुत्तनियपयजुयं तिविहं।**
**एवमणंतं पि तिहा, जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥ ७१ ॥**

संख्येयमेकमसंख्यं, परित्तयुक्तनिजपदयुतं त्रिविधम्।
एवमनन्तमपि त्रिधा, जघन्यमध्योत्कृष्टानि सर्वाणि ॥ ७१ ॥

अर्थ—संख्यात एक है। असंख्यातके तीन भेद हैं:—(१) परीत्त, (२) युक्त और (३) निजपदयुक्त अर्थात् असंख्यातासंख्यात। इसी तरह अनन्तके भी तीन भेद हैं। इन सबके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन-तीन भेद हैं ॥७१॥

भावार्थ—शास्त्रमें संख्या तीन प्रकारकी बतलायी है—(१) संख्यात, (२) असंख्यात और (३) अनन्त। संख्यातका एक प्रकार, असंख्यातके तीन और अनन्तके तीन, इस तरह संख्याके कुल सात भेद हैं। प्रत्येक भेदके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट-रूपसे तीन-तीन भेद करने-

---

१—संख्या-विषयक विचार, अनुयोग-द्वारके २३४ से लेकर २४१वें पृष्ठ तक है। और लोकप्रकाश-सर्ग १के १२२ से लेकर २१२वें श्लोक तकमें है। अनुयोगद्वार सूत्रमें सैद्धान्तिक-मत है। उसकी टीकामें मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरिने कार्मग्रन्थिक-मतका भी उल्लेख किया है। लोकप्रकाशमें दोनों मत संगृहीत हैं।

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति-विरचित त्रिलोकसारकी १३से लेकर ५१ तककी गाथाओंमें संख्याका विचार है। उसमें पल्यके स्थानमें 'कुण्ड' शब्द प्रयुक्त है; वर्णन भी कुछ जुदे ढंगसे है। उसका वर्णन कार्मग्रन्थिक-मतसे मिलता है।

'असंख्यात' शब्द बौद्ध-साहित्यमें है, जिसका अर्थ '१'के आगे एक सौ चालीस शून्य जितनी संख्या है। इसकेलिये देखिये, चिल्डर्स पाली-अँगरेजी कोषका ५१वाँ पृष्ठ।

पर इक्कीस भेद होते हैं। सो इस प्रकारः—(१) जघन्य संख्यात, (२) मध्यम संख्यात और (३) उत्कृष्ट संख्यात; (४) जघन्य परीत्तासंख्यात, (५) मध्यम परीत्तासंख्यात और (६) उत्कृष्ट परीत्तासंख्यात; (७) जघन्य युक्तासंख्यात, (८) मध्यम युक्तासंख्यात और (९) उत्कृष्ट युक्तासंख्यात; (१०) जघन्य असंख्यातासंख्यात, (११) मध्यम असंख्यातासंख्यात और (१२) उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात; (१३) जघन्य परीत्तानन्त, (१४) मध्यम परीत्तानन्त और (१५) उत्कृष्ट परीत्तानन्त; (१६) जघन्य युक्तानन्त, (१७) मध्यम युक्तानन्त और (१८) उत्कृष्ट युक्तानन्त; (१९) जघन्य अनन्तानन्त, (२०) मध्यम अनन्तानन्त और (२१) उत्कृष्ट अनन्तानन्त ॥७१॥

## संख्यातके तीन भेदोंका स्वरूप।

लहु संखिज्जं दुचिय, अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुअं।
जंबूदीव पमाणय, पल्लुद्धारूवलाइ इमं॥ ७२॥

लघु संख्येयं द्वावेवाऽतः परं मध्यमन्तु यावद्गुरुकम्।
जम्बूद्वीपप्रमाणकचतुष्पल्यप्ररूपणयेदम्॥ ७२॥

अर्थ—दोकी ही संख्या लघु (जघन्य) संख्यात है। इससे आगे तीनसे लेकर उत्कृष्ट संख्यात तककी सब संख्याएँ मध्यम संख्यात है। उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप जम्बूद्वीप-प्रमाण पल्योंके निरूपणसे जाना जाता है॥७२॥

भावार्थ—संख्याका मतलब भेद (पार्थक्य)से है अर्थात् जिसमें भेद प्रतीत हो, वही संख्या है। एकमें भेद प्रतीत नहीं होता; इसलिये सबसे कम होनेपर भी एकको जघन्य संख्यात नहीं कहा है। पार्थक्यकी प्रतीति दो आदिमें होती है; इसलिये वे ही संख्याएँ हैं। इनमेंसे दोकी संख्या जघन्य संख्यात और तीनसे लेकर उत्कृष्ट

संख्यात तक बीचकी सब संख्याएँ मध्यम संख्यात हैं। शास्त्रमें उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप जाननेके लिये पल्योंकी कल्पना है, जो अगली गाथाओंमें दिखायी है ॥७२॥

## पल्योंके नाम तथा प्रमाण।

**पल्लाणवट्ठियसला,ग-पडिसलागामहासलागक्खा।**
**जोयणसहस्सोगाढा, सवेइयंता ससिहमरिया ॥७३॥**

पल्या अनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्याः।
योजनसहस्रावगाढाः, सवेदिकान्ताः सशिखभृताः ॥ ७३ ॥

अर्थ—चार पल्यके नाम क्रमशः अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका हैं। चारों पल्य गहराईमें एक हजार योजन और ऊँचाईमें जम्बूद्वीपकी पद्मवर वेदिका पर्यन्त अर्थात् साढ़े आठ योजन प्रमाण समझने चाहिये। इन्हें शिखा पर्यन्त सरसोंसे पूर्ण करनेका विधान है ॥ ७३ ॥

भावार्थ—शास्त्रमें सत् और असत् दो प्रकारकी कल्पना होती है। जो कार्यमें परिणत की जा सके, वह 'सत्कल्पना', और जो किसी वस्तुका स्वरूप समझनेमें उपयोगीमात्र, पर कार्यमें परिणत न की जा सके, वह 'असत्कल्पना'। पल्योंका विचार असत्कल्पना है; इसका प्रयोजन उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप समझानामात्र है।

शास्त्रमें पल्य चार कहे गये हैं:—(१) अनवस्थित, (२) शलाका, (३) प्रतिशलाका और (४) महाशलाका। इनकी लम्बाई-चौड़ाई जम्बूद्वीपके बराबर—एक-एक लाख योजनकी, गहराई एक हजार योजनकी और ऊँचाई पद्मवर वेदिका-प्रमाण अर्थात् साढे आठ योजनकी कही हुई है। पल्यकी गहराई तथा ऊँचाई मेरुकी समतल भूमिसे समझना चाहिये। सारांश, ये कल्पित पल्य तलसे शिखा तकमें १००८½ योजन लिये जाते हैं।

अनवस्थितपल्य अनेक बनते हैं। इन सबकी लम्बाई-चौड़ाई एकसी नहीं है। पहला अनवस्थित (मूलानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई लाख योजनकी और आगेके सब अनवस्थित (उत्तरानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई अधिकाधिक है। जैसे:—जम्बूद्वीप-प्रमाण मूलानवस्थित पल्यको सरसोंसे भर देना और जम्बूद्वीपसे लेकर आगेके हर एक द्वीपमें तथा समुद्रमें उन सरसोंमेंसे एक-एकको डालते जाना। इस प्रकार डालते-डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें मूलानवस्थित पल्य खाली हो जाय, जम्बूद्वीप (मूलस्थान)से उस द्वीप या उस समुद्र तककी लम्बाई-चौड़ाईवाला नया पल्य बना लिया जाय। यही पहला उत्तरानवस्थित है।

इस पल्यमें भी ठाँस कर सरसों भरना और इन सरसोंमेंसे एक-एकको आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें डालते जाना। डालते-डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें इस पहले उत्तरानवस्थितपल्यके सब सर्षप समाप्त हो जायँ, मूल स्थान (जम्बूद्वीप)से उस सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त लम्बा-चौड़ा पल्य फिरसे बना लेना, यह दूसरा उत्तरानवस्थितपल्य है।

इसे भी सर्षपोंसे भर देना और आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें एक-एक सर्षपको डालते जाना। ऐसा करनेसे दूसरे उत्तरानवस्थितपल्यके सर्षपोंकी समाप्ति जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें हो जाय, मूल स्थानसे उस सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पल्य फिरसे बनाना, यह तीसरा उत्तरानवस्थितपल्य है। इसको भी सर्षपोंसे भरना तथा आगेके द्वीप, समुद्रमें एक-एक सर्षप डालकर खाली करना। फिर मूल स्थानसे सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पल्य बना लेना और उसे भी सर्षपोंसे भरना तथा उक्त विधिके अनुसार खाली करना। इस प्रकार जितने उत्तरानवस्थितपल्य बनाये जाते हैं,

वे सभी प्रमाणमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा बड़े-बड़े ही होते जाते हैं। परिमाणकी अनिश्चितताके कारण इन पल्योंका नाम 'अनवस्थित' रक्खा गया है। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अनवस्थितपल्य लम्बाई-चौड़ाईमें अनियत होनेपर भी ऊँचाईमें नियत ही अर्थात् १००८½ योजन मान लिये जाते हैं।

अनवस्थितपल्योंको कहाँ तक बनाना? इसका खुलासा आगेकी गाथाओंसे हो जायगा।

प्रत्येक अनवस्थितपल्यके खाली हो जानेपर एक-एक सर्षप शलाकापल्यमें डाल दिया जाता है। अर्थात् शलाका पल्यमें डाले गये सर्षपोंकी संख्यासे यही जाना जाता है कि इतनी दफ़ा उत्तरानवस्थितपल्य खाली हुए।

हर एक शलाकापल्यके खाली होनेके समय एक-एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डाला जाता है। प्रतिशलाकापल्यके सर्षपोंकी संख्यासे यह विदित होता है कि इतनी बार शलाकापल्य भरा गया और खाली हुआ।

प्रतिशलाकापल्यके एक-एक बार भर जाने और खाली हो जानेपर एक-एक सर्षप महाशलाकापल्यमें डाल दिया जाता है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इतनी दफ़ा प्रतिशलाकापल्य भरा गया और खाली किया गया ॥ ७३ ॥

## पल्योंके भरने आदिकी विधि।

तादीवुदहिसु इक्कि,-क्कसरिसवं खिवि य निट्ठिए पढमे।
पढमं व तदन्तं चिय, पुण भरिए तंमि तह खीणे ॥७४॥
खिप्पइ सलागपल्ले,-गु सरिसवो इय सलागखवणेणं।
पुणो बीयो य तओ, पुव्विं पि व तंमि उद्धरिए ॥७५॥

**खीणे सलाका [illegible], एवं [illegible] ;**
**तेहिं तइयं तेहिय, तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६॥**

तावद्द्वीपोदधिष्वेकैकसर्षपं क्षिप्त्वा निष्ठिते प्रथमे ।
प्रथममिव तदन्तमेव पुनर्भृते तस्मिन्तथा क्षीणे ॥ ७४ ॥
क्षिप्यते शलाकापल्ये एकस्सर्षप इति शलाकाख्यपणेन ।
पूर्णो द्वितीयश्च ततः पूर्वमिव तस्मिन्नुद्धृते ॥ ७५ ॥
क्षीणे शलाका तृतीये एवं प्रथमैर्द्वितीयं भर ।
तैस्तृतीयं तैश्च तुर्यं यावत्किल स्फुटाश्चत्वारः ॥ ७६ ॥

**अर्थ—पूर्ण अनवस्थितपल्यमेंसे एक-एक सर्षप द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये, जिस द्वीप या समुद्रमें सर्षप समाप्त हो जायँ, उस द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तीर्ण नया अनवस्थितपल्य बनाकर उसे सर्षपोंसे भरना चाहिये ।**

**इनमेंसे एक-एक सर्षप द्वीप-समुद्रमें डालनेपर जब अनवस्थित-पल्य खाली हो जाय, तब शलाकापल्यमें एक सर्षप डालना चाहिये। इस तरह एक-एक सर्षप डालनेसे जब दूसरा शलाकापल्य भर जाय, तब उसे पूर्वकी तरह उठाना चाहिये ।**

**उठाकर उसमेंसे एक-एक सर्षप निकालकर उसे खाली करना और प्रतिशलाकामें एक सर्षप डालना चाहिये। इस प्रकार अन-वस्थितसे शलाकाको और अनवस्थित-शलाका दोनोंसे तीसरे (प्रतिशलाका)को और पहले तीन पल्यसे चौथे (महाशलाका) पल्यको भर देना चाहिये । इस तरह चारों पल्योंको परिपूर्ण भर देना चाहिये ॥७४-७६॥**

**भावार्थ—सबसे पहिले लक्ष-योजन-प्रमाण मूल अनवस्थित-पल्यको सर्षपोंसे भरना और उन सर्षपोंमेंसे एक-एक सर्षपको**

जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप तथा समुद्रमें डालना चाहिये, इस रीतिसे एक-एक सर्षप डालनेसे जिस द्वीप या समुद्रमें मूल अनवस्थितपल्य बिलकुल खाली हो जाय, जम्बूद्वीपसे (मूल स्थानसे) उस सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र तक लम्बा-चौड़ा नया पल्य बना लेना चाहिये, जो ऊँचाईमें पहले पल्यके बराबर ही हो। फिर इस उत्तरानवस्थितपल्यको सर्षपोंसे भर देना और एक-एक सर्षपको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये। इस प्रकार एक-एक सर्षप निकालनेसे जब यह पल्य भी खाली हो जाय, तब इस प्रथम उत्तरानवस्थितपल्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्षप शलाका नामके पल्यमें डालना। जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें प्रथम उत्तरानवस्थित खाली हो जाय, मूल स्थान (जम्बूद्वीपसे) उस द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण अनवस्थितपल्य फिर बनाना तथा उसे सर्षपोंसे भरकर आगेके द्वीप-समुद्रमें एक-एक सर्षप डालना चाहिये। उसके बिलकुल खाली हो जानेपर समाप्ति-सूचक एक सर्षप शलाकापल्यमें फिरसे डालना चाहिये। इस तरह जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें अन्तिम सर्षप डाला गया हो, मूल स्थानसे उस सर्षप समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण एक-एक अनवस्थितपल्य बनाते जाना और उसे सर्षपोंसे भर कर उक्त विधिके अनुसार खाली करते जाना और एक-एक अनवस्थित-पल्यके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्षप शलाकापल्यमें डालते जाना। ऐसा करनेसे जब शलाकापल्य सर्षपोंसे पूर्ण हो जाय, तब मूल स्थानसे अन्तिम सर्षपवाले स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थित-पल्य बनाकर उसे सर्षपोंसे भर देना चाहिये। इससे अब तकमें अनवस्थितपल्य और शलाकापल्य सर्षपोंसे भर गये। इन दोमेंसे शलाकापल्यको उठाना और उसके सर्षपोंमेंसे एक-एक सर्षपको उक्त विधिके अनुसार आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये। एक-

एक सर्षप निकालनेसे जब शलाकापल्य बिलकुल खाली हो जाय, तब शलाकापल्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्षप प्रतिशलाका-पल्यमें डालना चाहिये। अब तकमें अनवस्थितपल्य सर्षपोंसे भरा पड़ा है, शलाकापल्य खाली हो चुका है और प्रतिशलाकापल्यमें एक सर्षप पड़ा हुआ है।

इसके पश्चात् अनवस्थितपल्यके एक-एक सर्षपको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालकर उसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेका सूचक एक सर्षप पूर्वकी तरह शलाकापल्यमें, जो खाली हो गया है, डालना चाहिये। इस प्रकार मूल स्थानसे अन्तिम सर्षपवाले स्थान तक विस्तीर्ण नया-नया अनवस्थित-पल्य बनाते जाना चाहिये और उसे सर्षपोंसे भरकर उक्त विधिके अनुसार खाली करते जाना चाहिये। तथा प्रत्येक अनवस्थित-पल्यके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्षप शलाकापल्यमें डालते जाना चाहिये। ऐसा करनेसे जब शलाकापल्य सर्षपोंसे फिरसे भर जाय, तब जिस स्थानमें अन्तिम सर्षप पड़ा हो, मूल स्थानसे उस स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थितपल्यको बनाकर उसे भी सर्षपोंसे भर देना चाहिये। अब तकमें अनवस्थित और शलाका, ये दो पल्य भरे हुए हैं और प्रतिशलाकापल्यमें एक सर्षप है।

शलाकापल्यको पूर्व-विधि के अनुसार फिरसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेपर एक सर्षप प्रतिशलाका-पल्यमें रखना चाहिये। अब तक अनवस्थितपल्य भरा हुआ है, शलाकापल्य खाली है और प्रतिशलाकापल्यमें दो सर्षप पड़े हुए हैं।

इसके आगे फिर भी पूर्वोक्त विधिके अनुसार अनवस्थित-पल्यको खाली करना और एक-एक सर्षपको शलाकापल्यमें डालना चाहिये। इस प्रकार शलाकापल्यको बार-बार भर कर उक्त विधिके

अनुसार खाली करते जाना तथा खाली हो जानेका सूचक एक-एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डालते जाना चाहिये। जब एक-एक सर्षपके डालनेसे प्रतिशलाकापल्य भी पूर्ण हो जाय, तब उक्त प्रक्रियाके अनुसार अनवस्थितपल्यद्वारा शलाकापल्यको भरना और पीछे अनवस्थितपल्यको भी भर रखना चाहिये। अब तकमें अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका, ये तीन पल्य भर गये हैं। इनमेंसे प्रतिशलाकाको उठाकर उसके सर्षपोंमेंसे एक-एक सर्षपको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये। प्रतिशलाकापल्यके खाली हो चुकनेपर एक सर्षप जो प्रतिशलाकापल्यकी समाप्तिका सूचक है, उसको महाशलाकापल्यमें डालना चाहिये। अब तकमें अनवस्थित तथा शलाका-पल्य भरे पड़े हैं, प्रतिशलाकापल्य खाली है और महाशलाकापल्यमें एक सर्षप पड़ा हुआ है।

इसके अनन्तर शलाकापल्यको खाली कर एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डालना और अनवस्थितपल्यको खाली कर शलाकापल्यमें एक सर्षप डालना चाहिये। इस प्रकार नया-नया अनवस्थितपल्य बनाकर उसे सर्षपोंसे भरकर तथा उक्त विधिके अनुसार उसे खालीकर एक-एक सर्षपद्वारा शलाकापल्यको भरना चाहिये। हर एक शलाकापल्यके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डालना चाहिये। प्रतिशलाकापल्य भर जानेके बाद अनवस्थितद्वारा शलाकापल्य भर लेना और अन्तमें अनवस्थितपल्य भी भर देना चाहिये। अब तकमें पहले तीन पल्य भर गये हैं और चौथेमें एक सर्षप है। फिर प्रतिशलाकापल्यको उक्त रीतिसे खाली करना और महाशलाकापल्यमें एक सर्षप डालना चाहिये। अब तकमें पहले दो पल्य पूर्ण हैं। प्रतिशलाकापल्य खाली है और महाशलाकापल्यमें दो सर्षप हैं। इस तरह प्रतिशलाकाद्वारा महाशलाकाको भर देना चाहिये।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व पल्य के खाली हो जाने के समय डाले गये एक-एक सर्षप से क्रमशः चौथा, तीसरा और दूसरा पल्य जब भर जाय तब अनवस्थितपल्य, जो कि मूल स्थान से अन्तिम सर्षपवाले द्वीप या समुद्र तक लम्बा-चौड़ा बनाया जाता है, उसको भी सर्षपों से भर देना चाहिये। इस क्रम से चारों पल्य सर्षपों से ठसा-ठस भरे जाते हैं॥ ७५-७६॥

## सर्षप-परिपूर्ण पल्यों का उपयोग।

पढमतिपल्लुद्धरिया, दीवदही पल्लचउसरिसवा य।
सव्वो वि एगरासी, रूवूणो परमसंखिज्जं॥ ७७॥

प्रथमात्रिपल्योद्धृता, द्वीपोदधयः पल्यचतुःसर्षपाश्च।
सर्वोप्येकराशी, रूपान परमसंख्येयम्॥ ७७॥

अर्थ—जितने द्वीप-समुद्रों में एक-एक सर्षप डालने से पहले तीन पल्य खाली हो गये हैं वे सब द्वीप-समुद्र और परिपूर्ण चार पल्यों के सर्षप, इन दोनों की संख्या मिलाने से जो संख्या है, एक कम वही संख्या उत्कृष्ट संख्यात है॥७७॥

भावार्थ—अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका पल्य को बार-बार सर्षपों से भर कर उनको खाली करने की जो विधि ऊपर दिखलाई गई है, उसके अनुसार जितने द्वीपों में तथा जितने समुद्रों में एक-एक सर्षप पड़ा हुआ है, उन सब द्वीपों की तथा सब समुद्रों की संख्या में चारों पल्य के भरे हुए सर्षपों की संख्या मिला देने से जो संख्या होती है, एक कम वही संख्या उत्कृष्ट संख्यात है।

उत्कृष्ट संख्यात और जघन्य संख्यात, इन दो के बीच की सब संख्यात को मध्यम संख्यात समझना चाहिये। शास्त्र में जहाँ-कहीं संख्यात शब्द का व्यवहार हुआ है, वहाँ सब जगह मध्यम संख्यात से ही मतलब है॥ ७७॥

## असंख्यात और अनन्त का स्वरूप।

[ दो गाथाओं से। ]

**रूवजुयं तु परित्ता.-संखं लहु अस्स रासि अब्भासे।**
**जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥७८॥**

रूपयुतं तु परीत्तासंख्यं लघ्वस्य राशेरभ्यासे।
युक्तासंख्येयं लघु, आवलिकासमयपरिमाणम् ॥७८॥

अर्थ—उत्कृष्ट संख्यात में रूप[1] (एक की संख्या) मिलाने से जघन्य परीतासंख्यात होता है। जघन्य परीत्तासंख्यात का अभ्यास करने से जघन्य युक्तासंख्यात होता है। जघन्य युक्तासंख्यात ही एक आवलिका के समयों का परिणाम है ॥७८॥

भावार्थ—उत्कृष्ट संख्यात में एक संख्या मिलाने से जघन्य परीत्तासंख्यात होता है। अर्थात् एक-एक सर्षप डाले हुए द्वीप-समुद्रों की और चार पल्यों सर्षपों की मिली हुई संपूर्ण संख्या ही जघन्य परीत्तासंख्यात है।

जघन्य परीत्तासंख्यात का अभ्यास[2] करने पर जो संख्या

---

१—दिगम्बर-शास्त्रों में भी 'रूप' शब्द एक संख्या के अर्थ में प्रयुक्त है। जैसे:—जीवकाण्ड की १०७ तथा ११०वीं गाथा आदि तथा प्रवचन-सार-ज्ञयाधिकार की ७४वीं गाथा की टीका।

२—जिस संख्या का अभ्यास करना हो, उसके अङ्क को उतनी दफा लिखकर परस्पर गुणना अर्थात् प्रथम अङ्क को दूसरे के साथ गुणना और जो गुणन-फल आवे, उसको तीसरे अङ्क के साथ गुणना, इस गुणन-फल को अगले अङ्क के साथ। इस प्रकार पूर्व-पूर्व गुणन-फल को अगले अगले अङ्क के साथ गुणना, अन्त में जो गुणन-फल प्राप्त हो, वही विवक्षित संख्या का अभ्यास है। उदाहरणार्थ—५ का अभ्यास ३१२५ है। इसकी विधि इस प्रकार है:—५ को पाँच दफा लिखना:—५, ५, ५, ५, ५। पहले ५ को दूसरे ५ के साथ गुणने से २५ हुए, २५ को तीसरे ५ के साथ गुणने से १२५, १२५ को चौथे ५ के साथ गुणने से ६२५, ६२५ को पाँचवें ५ के साथ गुणने से ३१२५ हुए। —अनुयोगद्वार-टीका, पृ० २३६।

आती है, वह जघन्य युक्तासंख्यात है। शास्त्र में आवलिका के समयों को असंख्यात कहा है, सो जघन्य युक्तासंख्यात समझना चाहिये। एक कम जघन्य युक्तासंख्यात को उत्कृष्ट परीत्तासंख्यात तथा जघन्य परीत्तासंख्यात और उत्कृष्ट परीत्तासंख्यात के बीच की सब संख्याओं को मध्यम परीत्तासंख्यात जानना चाहिये ॥ ७८ ॥

बितिचउपंचमगुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्ता ।
णंता ते रूवजुया, मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥७९॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमगुणने क्रमात् सप्तासंख्या प्रथमचतुर्थसप्तानन्ताः ।
अनन्तास्ते रूपयुता मध्या रूपोना गुरवः पश्चात् ॥७९॥

अर्थ—दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें मूल भेद का अभ्यास करने पर अनुक्रम से सातवाँ असंख्यात और पहला, चौथा और सातवाँ अनन्त होते हैं। एक संख्या मिलाने पर ये ही संख्याएँ मध्यम संख्या और एक संख्या कम करने पर पीछे की उत्कृष्ट संख्या होती है ॥ ७९ ॥

भावार्थ—पिछली गाथा में असंख्यात के चार भेदों का स्वरूप बतलाया गया है। अब उसके शेष भेदों का तथा अनन्त के सब भेदों का स्वरूप लिखा जाता है।

असंख्यात और अनन्त के मूल-भेद तीन-तीन हैं, जो मिलने से छह होते हैं। जैसे:—( १ ) परीत्तासंख्यात, ( २ ) युक्तासंख्यात और ( ३ ) असंख्यातासंख्यात; ( ४ ) परीतानन्त, ( ५ ) युक्तानन्त और ( ६ ) अनन्तानन्त। असंख्यात के तीनों भेद के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद करने से नौ और इस तरह अनन्त के भी नौ उत्तर-भेद होते हैं, जो ७१ वीं गाथा में दिखाये हुए हैं।

उक्त छह मूल भेदों में से दूसरे का अर्थात् युक्तासंख्यात का अभ्यास करने से नौ उत्तर-भेदों में से सातवाँ असंख्यात अर्थात् जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात में से एक घटाने पर पीछे का उत्कृष्ट भेद अर्थात् उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य युक्तासंख्यात और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के बीच की सब संख्याएँ मध्यम युक्तासंख्यात हैं।

उक्त छह मूल भेदों में से तीसरे का अर्थात् असंख्यातासंख्यात का अभ्यास करने से अनन्त के नौ उत्तर भेदों में से प्रथम अनन्त अर्थात् जघन्य परीत्तानन्त होता है। जघन्य परीत्तानन्त में से एक संख्या घटाने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के बीच की सब संख्याएँ मध्यम असंख्यातासंख्यात हैं।

चौथे मूल भेद का अर्थात् परीत्तानन्तका अभ्यास करने से अनन्त का चौथा उत्तर भेद अर्थात् जघन्य युक्तानन्त होता है। एक कम जघन्य युक्तानन्त उत्कृष्ट परीक्षानन्त है। जघन्य परीत्तानन्त यथा उत्कृष्ट परीत्तानन्त के बीच की सब संख्याएँ मध्यम परीत्तानन्त हैं।

पाँचवें मूल भेद का अर्थात् युक्तानन्त का अभ्यास करने से अनन्त-का सातवाँ उत्तर भेद अर्थात् जघन्य अन्तानन्त होता है। इसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है। जघन्य युक्तानन्त और उत्कृष्ट युक्तानन्त के बीच की सब संख्याएँ मध्यम युक्तानन्त हैं। जघन्य अनन्तानन्त के आगे की सब संख्याएँ मध्यम अनन्तानन्त ही हैं; क्योंकि सिद्धान्त[1] मत के अनुसार उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं माना जाता ॥ ७९ ॥

---

१—अनुयोगद्वार, पृ० $\frac{२३१}{१}$ तथा २४१।

## असंख्यात तथा अनन्त के भेदों के विषय में कार्मग्रन्थिक मत ।

इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं ।
होइ असंखासंखं, लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥
रूवूणमाइमं गुरु तिवग्गिउं तं इमे दस खेवे ।
लोगाकासपएसा धम्माधम्मेगजियदेसा ॥ ८१ ॥
ठिइ बंधज्झवसाया, अणुभागा जोगच्छेयपलिभागा ।
दुण्ह य समाण समया पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥८२॥
पुणरवि तंमिति वग्गिय, पारत्तणंत लहु तस्स रासीणं ।
अब्भासे लहु जुत्ता, णंतं अभव्वजियपमाणं ॥ ८३ ॥
तव्वग्गेपुण जायइ, णंताणंत लहु तं च तिक्खुत्तो ।
वग्गसु तह वि न तं हो,-इणंत खेवे खिवसु छ इमे ॥८४॥
सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई कालपुग्गला चेव ।
सव्वमलोगनहं पुण, तिवग्गिउं केवलदुगंमि ॥८५॥
खित्ते णंताणंतं, हवेइ जिट्ठं तु ववहरइ मज्झं ।
इय सुहुमत्थवियारो, लिहिओ देविंदसूरीहि ॥८६॥

इति सूत्रोक्तमन्ये वर्गितं सकृच्चतुर्थकमसंख्यम् ।
भवत्यसंख्यासंख्यं लघु रूपयुतं तु तन्मध्यम् ॥ ८० ॥
रूपोनमादिमं गुरु त्रिर्वर्गयित्वा तदिमान् दश क्षेपान् ।
लोकाकाशप्रदेशा धर्माधर्मैकजीवप्रदेशाः ॥ ८१ ॥
स्थि बन्धाध्यवसाया अनुभागा योगच्छेदपरिभागाः ।
द्वयोश्च समयोः समयाः प्रत्येकनिगोदकाः क्षिप ॥८२॥
पुनरपि तास्मिंस्त्रिर्वर्गिते परीतानन्तं लघु तस्य राशीनाम् ।
अभ्यासे लघु युक्तानन्तमभव्यजीव प्रमाणम् ॥८३॥

---

१—ये ही दस क्षेप त्रिलोकसारकी ४२ से ४४ तक की गाथाओंमें निर्दिष्ट हैं ।
२—ये ही छह क्षेप त्रिलोकसारकी ४६वीं गाथामें वर्णित हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तद्वर्गे पुनर्जायतेऽनन्तानन्तं लघु तच्च त्रिकृत्वः ।
वर्गयस्व तथापि न तद्भवत्यनन्तक्षेपान् क्षिप षडिमान् ॥८४॥
सिद्धा निगोदजीवा वनस्पतिः कालपुद्गलाश्चैव ।
सर्वमलोकनभः पुनस्त्रिर्वर्गयित्वा केवलाद्धिकं ॥८५॥
क्षिप्तेऽनन्तानन्तं भवति ज्येष्ठं तु व्यवहरति मध्यम् ।
इति सूक्ष्मर्थविचारो लिखितो देवेन्द्रसूरिभिः ॥८६॥

अर्थ—पीछे सूत्रानुसारी मत कहा गया है। अब अन्य आचार्यों का मत कहा जाता है। चतुर्थ असंख्यात अर्थात् जघन्य युक्ता संख्यात का एक बार वर्ग करने से जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात में एक संख्या मिलाने से मध्यम असंख्यातासंख्यात होता है ॥८०॥

जघन्य असंख्यातासंख्यात में से एक संख्या घटा दी जाय तो पीछे का गुरु अर्थात् उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात का तीन बार[1] वर्ग कर नीचे लिखो दस[2] असंख्यात

---

१—किसी संख्या का तीन बार वर्ग करना हो तो उस संख्या का वर्ग करना, वर्ग-जन्य संख्या का वर्ग करना और वर्ग-जन्य संख्या का भी वर्ग करना। उदाहरणार्थ—५ का तीन बार वर्ग करना हो तो ५ का वर्ग २५, २५ का वर्ग ६२५, ६२५ का वर्ग ३९०६२५; यह पांच का तीन बार वर्ग हुआ।

२—लोकाकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव, इन चारों के प्रदेश असंख्यात-असंख्यात आपस में तुल्य हैं।

ज्ञानावरणीय आदि प्रत्येक कर्म की स्थिति के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त समय-भेद से असंख्यात भेद हैं। जैसे—ज्ञानावरणीय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम-प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त से एक समय अधिक, दो समय अधिक, तीन समय अधिक, इस तरह एक-एक समय बढ़ते,बढ़ते एक समय कम तीस कोटा-कोटी सागरोपम तक की सब स्थितियां मध्यम हैं। अन्तर्मुहूर्त और तीस

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा



संख्यायें उसमें मिलाना । (१) लोकाकाश के प्रदेश, (२) धर्मास्ति-

---

सागरोपम के बीच में असंख्यात समयों का अन्तर है; इसलिये जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक-एक प्रकार की होने पर भी उसमें मध्यम स्थितियाँ मिलाने से ज्ञानावरणीय की स्थिति के असंख्यात भेद होते हैं। अन्य कर्मों की स्थिति के विषय में भी इसी तरह समझ लेना चाहिये। हर एक स्थिति के बन्ध में कारणभूत अध्यवसायों की संख्या असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर कही हुई है।

"पइठिइसंखलोगसमा।"—गा० ५५, देवेन्द्रसूरि-कृत पञ्चम कर्मग्रन्थ।

इस जगह सब स्थिति-बन्धके कारणभूत अध्यवसायों कीसंख्या विवक्षित है।

अनुभाग अर्थात् रसका कारण कषायिक परिणाम है। कषायिक परिणाम अर्थात् अध्यवसायके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर मन्दतम आदि रूप से असंख्यात भेद हैं। एक-एक कषायिक परिणाम से एक-एक अनुभाग-स्थान का बन्ध होता है क्योंकि एक कषायिक परिणाम से गृहीत कर्म परमाणुओं के रस-स्पर्धकों को ही शास्त्र में अनुभाग बन्ध-कहा है। देखिये कम्मपयडी की ३१वीं गाथा श्रीयशोविजयजी-कृत टीका। इसलिये कषायिक परिणाम-जन्य अनुभाग स्थान भी कषायिक परिणाम के तुल्य अर्थात् असंख्यात ही है। प्रसंगतः यह बात जाननी चाहिये कि प्रत्येक स्थिति-बन्ध में असंख्यात अनुभाग-स्थान होते है; क्योंकि जितने अध्यवसाय उतने ही अनुभागस्थान होते हैं और प्रत्येक स्थिति-बन्ध में कारणभूत अध्यवसाय असंख्यात लोकाकाशप्रदेश-प्रमाण हैं।

योग के निर्विभाग अंश असंख्यात है। जिस अंश का विभाग केवलज्ञान से भी न किया जा सके, उसको निर्विभाग अंश कहते हैं। इस जगह निगोद से संज्ञी पर्यन्त सब जीवों के योग, सम्बन्धी निर्विभाग अंशोंकीसंख्याइष्ट है।

जिस शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह 'प्रत्येक शरीर' है। प्रत्येक शरीर असंख्यात है; क्योंकि पृथ्वीकायिक से लेकर त्रसकायिक पर्यन्त सब प्रकार के प्रत्येक जीव मिलाने से असंख्यात ही है।

जिस एक शरीर के धारण करने वाले अनन्त जीव हों वह, 'निगोद शरीर'। ऐसे निगोदशरीर असंख्यात ही है

का एक प्रदेश, (३) अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, (४) एक जीव के प्रदेश, (५) स्थिति-बन्ध-जनक अध्यवसाय-स्थान, (६) अनुभाग-विशेष, (७) योग के निर्विभाग अंश (८) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, इन दो काल के समय, (९) प्रत्येक शरीर और (१०) निगोदशरीर ॥८१॥८२॥

उक्त दस संख्याएँ मिलाकर फिर उसका तीन बार वर्ग करना। वर्ग करने से जघन्य परीत्तानन्त होता है। जघन्य परीत्तानन्त का अभ्यास करने से जघन्य युक्तानन्त होता है। यही अभव्य जीवों का परिमाण है।।८३॥

उसका अर्थात् जघन्य युक्तानन्त का वर्ग करने से जघन्य अनन्तानन्त होता है। जघन्य अनन्तानन्त का तीन बार वर्ग करना लेकिन इतने से ही वह उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं बनता। इसलिये तीन बार वर्ग करके उसमें नीचे लिखी छह अनन्त संख्याएँ मिलाना ॥८४॥

(१) सिद्ध (२) निगोद के जीव, (३) वनस्पतिकायिक जीव, (४) तीनों काल के समय (५) संपूर्ण पुद्गल-परमाणु और (६) समग्र[1] आकाश के प्रदेश, इन छह की अनन्त संख्याओं को मिलाकर फिर से तीन बार वर्ग करना और उसमें केवल-द्विकके पर्यायों की संख्या[2] को मिलाना। शास्त्र में अनन्तानन्त का व्यवहार किया जाता है, सो मध्यम अनन्तानन्त का जघन्य, या उत्कृष्ट का नहीं। इस सूक्ष्मार्थ विचार नामक प्रकरण को श्री देवेन्द्र सूरि ने लिखा है ॥८५॥८६॥

भावार्थ—गा० ७१ से ७९ तक में संख्या का वर्णन किया है, सो सैद्धान्तिक मत के अनुसार। अब कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार वर्णन किया जाता है। संख्या के इकतीस भेदों में से पहले सात भेदों के स्वरूप के विषय में सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिक आचार्यों का कोई मत-भेद नहीं है; आठवें आदि सब भेदों के स्वरूप के विषय में मत-भेद है।

---

१—मूलके 'अलोक' पदसे लोक अलोक दोनो प्रकार का आकाश विवक्षित है।

२—ज्ञेयपर्याय अनन्त होने से ज्ञानपर्याय भी अनन्त है।

कार्मग्रन्थिक आचार्यों का कथन है कि जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करने से जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात का तीन बार वर्ग करना और उसमें लोकाकाश-प्रदेश आदि की उपर्युक्त दस असंख्यात सख्याएँ मिलाना। मिलाकर फिर तीन बार वर्ग करना। वर्ग करने से जो संख्या होती है, वह जघन्य परीत्तानन्त है।

जघन्य परीत्तानन्त का अभ्यास करने से जघन्य युक्तानन्त होता है। शास्त्र में अभव्य जीव अनन्त कहे गये हैं, सो जघन्य युक्तानन्त समझना चाहिये।

जघन्य युक्तानन्त का एक बार वर्ग करने से जघन्य अनन्तानन्त होता है। जघन्य अनन्तानन्त का तीन बार वर्गकर उसमें सिद्ध आदि की उपर्युक्त छह संख्याएं मिलाना चाहिये। फिर उसका तीन बार वर्ग करके उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन के संपूर्ण पर्यायों की संख्या को मिलाना चाहिये। मिलाने से जो सख्या होती है, वह 'उत्कृष्ट अनन्तानन्त' है।

मध्यम या उत्कृष्ट संख्या का स्वरूप जानने की रीति में सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिकों में मत-भेद नहीं है, पर ७६ वीं तथा ८०वीं गाथा में बतलाये हुए दोनों मत के अनुसार जघन्य असंख्यातासंख्यात का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है। अर्थात् सैद्धान्तिकमत से जघन्य युक्तासंख्यात का अभ्यास करने पर जघन्य असंख्यातासंख्यात बनता है और कार्मग्रन्थिकमत से जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करने पर जघन्य असंख्यातासंख्यात बनता है; इसलिये मध्यम युक्तासंख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात आदि आगे की सब मध्यम और उत्कृष्ट संख्याओं का स्वरूप भिन्न-भिन्न बन जाता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात में से एक घटाने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य युक्तासंख्यात और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के बीच की सब

संख्याएँ मध्यम युक्तासंख्यात हैं। इसी प्रकार आगे भी किसी जघन्य संख्या में से एक घटाने पर उसके पीछे की उत्कृष्ट संख्या बनती है और जघन्य में एक, दो आदि की संख्या मिलाने से उसके सजातीय उत्कृष्ट तक की बीच की संख्याएं मध्यम होती हैं।

सभी जघन्य और सभी उत्कृष्ट संख्याएँ एक-एक प्रकार की हैं; परन्तु मध्यम संख्याएँ एक प्रकार की नहीं हैं। मध्यम संख्यात के संख्यात भेद, मध्यम असंख्यात के असंख्यात भेद और मध्यम अनन्त के अनन्त भेद हैं; क्योंकि जघन्य या उत्कृष्ट संख्या का मतलब किसी एक नियत संख्या से ही है, पर मध्यम के विषय में यह बात नहीं। जघन्य और उत्कृष्ट संख्यात के बीच संख्यात इकाइयाँ हैं, जघन्य और उत्कृष्टअसंख्यात के बीच असंख्यात इकाइयाँ हैं, एवं जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त के बीच अनन्त इकाइयाँ हैं, जो क्रमशः 'मध्यम संख्यात', 'मध्यम असंख्यात' और 'मध्यम अनन्त' कहलाती हैं।

शास्त्र में जहाँ-कहीं अनन्तानन्त का व्यवहार किया गया है, वहाँ सब जगह मध्यम अनन्तानन्त से ही मतलब है।

(उपसंहार) इस प्रकरण का नाम "सूक्ष्मार्थ विचार" रक्खा है; क्योंकि इसमें अनेक सूक्ष्म विषयों पर विचार प्रगट किये गये हैं ॥८०-८६॥

---

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी

# तृतीयाधिकारके परिशिष्ट।

## परिशिष्ट "प"

**पृष्ठ १७६, पंक्ति १० के 'मूल बन्ध-हेतु' पर—**

यह विषय, पञ्चसंग्रह द्वा० ४ की १६ और २० वीं गाथा में है, किन्तु उसके वर्णनमें यहां की अपेक्षा कुछ भेद है। उसमें १६ प्रकृतियों के बन्धको मिथ्यात्व- हेतुक, पैंतीस प्रकृतियों के बन्ध को अविरति, हेतुक, अरसठ प्रकृतियों के बन्धको कषाय-हेतुक और सातवेदनीयके बन्धको योग-हेतुक कहा है। यह कथन अन्वय-व्यतिरेक, उभय-मूलक कार्य-कारण-भावको को लेकर किया गया है जैसे–मिथ्यात्व के सद्भाव में सोलहका बन्ध और उसके अभाव में सोलह के बन्धका अभाव होता है, इसलिये सोलह के बन्धका अन्वय-व्यतिरेक मिथ्यात्वके साथ घट सकता है। इसी प्रकार पैंतीसके बन्धका अविरतिक साथ, अरसठके बन्धका कषाय के साथ और सातवेदनीय के बन्ध का योग के साथ अन्वय-व्यतिरेक समझना चाहिये।

परन्तु इस जगह केवल अन्वय-मूलक कार्य-कारण-भावको लेकर बन्ध का वर्णन किया है, व्यतिरेक को विवक्षा नहीं की है; इसी से यहां का वर्णन पञ्चसंग्रह के वर्णन से भिन्न मालूम पड़ता है। अन्वय:–जैसे, मिथ्यात्वके समय, अविरतिके समय, कषायके समय और योगके समय सातवेदनीय का बन्ध अवश्य होता है, इसी प्रकार मिथ्यात्व के समय सोलह का बन्ध, मिथ्यात्व के समय तथा अविरति के समय पैंतीस का बन्ध और मिथ्यात्व के समय, अविरति के समय तथा कषाय के समय शेष प्रकृतियों का बन्ध अवश्य होता है। इस अन्वयमात्र को लक्ष्य में रखकर श्रीदेवेन्द्रसूरि ने एक, सोलह, पैंतीस और अरसठ के बन्ध को क्रमशः चतुहेतुक, एक-हेतुक, द्वि हेतुक और त्रि हेतुक कहा है. उक्त चारों बन्धों का व्यतिरेक तं पञ्चसंग्रह के वर्णनानुसार केवल एक एक हेतु के साथ घट सकता है। पञ्चसंग्रह और यहां की वर्णन-शैली मे भेद है, तात्पर्य में नहीं।

तत्वार्थ अ० ८ सू० १ में बन्ध के हेतु पाँच कहे हुए है, उसके अनुसार अ० ६ सू० १ की सर्वार्थसिद्धि में उत्तर प्रकृतियों के और बन्ध हेतु के कार्य-कारण-भाव का विचार किया है। उसमें सोलह के बन्ध को मिथ्यात्व-हेतुक, उन्तालीस के बन्ध को अविति-हेतुक, छह के बन्धको प्रमादहेतुक, अट्ठावन के बन्ध को कषाय-हेतुक और एक के बन्ध को योग हेतुक बतलाया है। अविरति के अनन्तानुबन्धिकषाय-जन्य, अप्रत्यानावरण कषाय जन्य और प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य, ये तीन भेद किये है। प्रथम अविरतिको पच्चीस के बन्धका, दूसरी को दस के बन्धका और तीसरी को चार के बन्धका का कारण दिखाकर कुल उन्तालीस के बन्ध को अविरति हेतुक कहा है। पंचसंग्रह में जिन अरसठ प्रकृतियों के बन्ध को कषाय हेतुक माना है उनमें से चार के बन्धको प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य अविरति हेतुक और छह के बन्ध को प्रमाद-हेतुक सर्वार्थसिद्धि में बतलाया है; इसलिये उसमें कषाय-हेतुक बन्धवाली अट्ठावन प्रकृतियाँ ही कही हुई हैं।

====

## परिशिष्ट "फ"।

पृष्ठ २०६, पंक्ति १४के 'मूल भाव' पर—

गुणस्थानोंमें एक-जीवाश्रित भावोंकी संख्या जैसी इस गाथा में है, वैसी ही पञ्चसंग्रहके द्वार २की ६४वीं गाथामें है; परन्तु इस गाथा की टीका और टबामें तथा पञ्चसंग्रहकी उक्त गाथा की टीका में थोड़ासा व्याख्या-भेद है।

टीका-टबेमें 'उपशमक' 'उपशान्त' दो पदोंसे नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ, ये तीन गुणस्थान ग्रहण किये गये हैं और 'अपूर्व' पदसे आठवाँ गुणस्थानमात्र। नौवें आदि तीन गुणस्थानोंमें उपशमश्रेणि-[illegible] औपशमिक-सम्यक्त्वीको या क्षायिकसम्यक्त्वीको चारित्र औपशमिक माना है। आठवें गुणस्थानमें औपशमिक या क्षायिक किसी सम्यक्त्ववालेको औपशमिकचारित्र इष्ट नहीं है, किन्तु क्षायोपशमिक। इसका प्रमाण गाथामें 'अपूर्व' शब्दका अलग ग्रहण करना है; क्योंकि यदि आठवें गुणस्थानमें भी औपशमिक-चारित्र इष्ट होता तो 'अपूर्व' शब्द अलग ग्रहण न करके उपशमक शब्दसे ही नौवें आदि गुणस्थानकी तरह आठवेंका भी सूचन किया जाता। नौवें और दसवें गुणस्थानके क्षपकश्रेणि-गत-जीव-सम्बन्धी भावोंका व चारित्र का उल्लेख टीका या टबेमें नहीं है।

पञ्चसंग्रहकी टीकामें श्रीमलयगिरिने 'उपशमक' 'उपशान्त' पद से आठवें से ग्यारहवें तक उपशमश्रेणिवाले चार गुणस्थान और 'अपूर्व' तथा 'क्षीण' पदसे आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ, ये क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थान ग्रहण किये हैं। उपशमश्रेणिवाले उक्त चारों गुणस्थान में उन्होंने औपशमिकचारित्र माना है, पर क्षपकश्रेणिवाले चारों गुणस्थानके चारित्रके सम्बन्धमें कुछ उल्लेख नहीं किया है।

ग्यारहवें गुणस्थानमें सम्पूर्ण मोहनीयका उपशम हो जानेके कारण सिर्फ औपशमिकचारित्र है। नौवें और दसवें गुणस्थानमें औपशमिक क्षायोपशमिक दो चारित्र हैं; क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयकी कुछ प्रकृतियाँ उपशान्त होती हैं, सब नहीं। उपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे औपशमिक

और अनुपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे क्षायोपशमिक-चारित्र समझना चाहिये। यद्यपि यह बात इस प्रकार स्पष्टतासेनहीं कही गई है परन्तु पञ्च० द्वा० ३की २५वीं गाथा की टीका देखने से इस विषयमें कुछ भी संदेह नहीं रहता, क्योंकि उसमें सूक्ष्मसंपरायचारित्रको, जो दसवें गुणस्थान में ही होता है, क्षायोपशमिक कहा है।

उपशमश्रेणिवाले आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयके उपशमका आरम्भ या कुछ प्रकृतियोंका उपशम होनेके कारण औपशमिकचारित्र, जैसे पञ्चसंग्रह-टीकामें माना गया है, वैसे ही क्षपकश्रेणिवाले आठवें आदि तीनों गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयके क्षयका आरम्भ या कुछ प्रकृतियोंका क्षय होनेके कारण क्षायिकचारित्र माननेमें कोई विरोध नहीं दीख पड़ता।

गोम्मटसारमें उपशमश्रेणिवाले आठवें आदि चारों गुणस्थानमें चारित्र औपशमिक ही माना है और क्षायोपशमिकका स्पष्ट निषेध किया है। इसी तरह क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थानोंमें क्षायिकचारित्र ही मानकर क्षायोपशमिकका निषेध किया है। यह बात कर्मकाण्ड की ८४५ और ८४६वीं गाथाओंके देखनेसे स्पष्ट हो जाती है।

= = =

## परिशिष्ट "ब"।

पृष्ठ २०७, पंक्ति ३ के 'भावार्थ' शब्द पर—

यह विचार एक जीवमें किसी विवक्षित समय में पाये जानेवाले भावोंका है।

एक जीवमें भिन्न-भिन्न समयमें पाये जानेवाले भाव और अनेक जीव में एक समयमें या भिन्न भिन्न समयमें पाये जानेवाले भाव प्रसङ्ग-वश लिखे जाते हैं। पहले तीन गुणस्थानोंमें औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक, ये तीन भाव चौथेसे ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानोंमें पाँचो भाव बारहवें गुणस्थानमें औपशमिकके सिवाय चार भाव और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें औपशमिक-क्षायोपशमिकके सिवाय तीन भाव होते हैं।

अनेक जीवोंकी अपेक्षासे गुणस्थानोंमें भावों के उत्तर भेद—

क्षायोपशमिक—पहले दो गुणस्थानोंमें तीन अज्ञान चक्षु आदि दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ, ये १०; तीसरेमें तीन ज्ञान, तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ, ये १२; चौथेमें तीसरे गुणस्थान वाले १२ किन्तु मिश्रदृष्टिके स्थानमें सम्यक्त्व; पाँचवेंमें चौथे गुणस्थानवाले बारह तथा देशविरति, कुल १३; छठे, सातवेंमें उक्त तेरह में से देश-विरतिको घटाकर उनमें सर्वविरति और मनःपर्यवज्ञान मिलानेसे १४; आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें उक्त चौदहमेंसे सम्यक्त्वके सिवाय शेष १३; ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानमें उक्त तेरह में से चारित्रको छोड़कर शेष १२ क्षयोपशमिक भाव हैं। तेरहवें और चौदहवेंमें क्षायोपशमिकभाव नहीं है।

औदयिक—पहले गुणस्थानमें अज्ञान आदि २१; दूसरे में मिथ्यात्वके सिवाय २०; तीसरे-चौथेमें अज्ञानको छोड़ १९; पाँचवेंमें देवगति, नारकगति के सिवाय उक्त उभीसमेंसे शेष १७, छठेमें तिर्यञ्चगति और असंयम घटाकर १५; सातवेंमें कृष्ण आदि तीन लेश्याओंको छोड़कर उक्त पन्द्रहमेंसे शेष १२; आठवें नौवेंमें तेजः और पद्म-लेश्याके सिवाय १०; दसवेंमें क्रोध मान, माया और तीन वेदके सिवाय उक्त दसमेंसे शेष ४; ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें सञ्वलनलोभको छोड़ शेष ३ और चौदहवें गुणस्थानमें शुक्ललेश्याके सिवाय तीनमेंसे मनुष्यगति और असिद्धत्व, ये दो औदायिकभाव है।

क्षायिक—पहले तीन गुणस्थानोंमें क्षायिकभाव नहीं है। चौथेसे ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व, बारहवेंमें सम्यक्त्व और चारित्र दो और तेरहवें चौदहवें दो गुणस्थानोंमें नौ क्षायिकभाव हैं।

औपशमिक—पहले तीन और बारहवें आदि तीन, इन छह गुणस्थानों में औपशमिकभाव नहींहै।। चौथेसे आठवें तक पाँच गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व,

नौवेंसे ग्यारहवें तक तीन गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो औपशमिकभाव हैं।

पारिणामिक—पहले गुणस्थानमें जीवत्व आदि तीनों; दूसरेसे बारहवें तक ग्यारह गुणस्थानोंमें जीवत्व भव्यत्व, दो और तेरहवें-चौदहवेंमें जीवत्व ही पारिणामिकभाव है। भव्यत्व अनादि-सान्त है। क्योंकि सिद्ध-अवस्थामें उसका अभाव हो जाता है। घातिकर्मक्षय होनेके बाद सिद्ध-अवस्था प्राप्त होनेमें बहुत विलम्ब नहीं लगता; इस अपेक्षासे तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानमें भव्यत्व पूर्वाचार्योंने नहीं माना है।

गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की ८२० से ८७५ तककी गाथाओंमें स्थान-गत तथा पद-गत भङ्गद्वारा भावोंका बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

एक-जीवाश्रित भावोंके उत्तर भेद:—

क्षायोपशमिक—पहले दो गुणस्थानमें मति-श्रुत दो या विभङ्गसहित तीन अज्ञान, अचक्षु एक या चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ तीसरेमें दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ; चौथे में दो या तीन ज्ञान, अपर्याप्त-अवस्था में अचक्षु एक या अवधि सहित दो दर्शन और पर्याप्त-अवस्थामें दो तीन दर्शन, सम्यक्त्व, पाँच लब्धियाँ पाँचवेंमें दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन- सम्यक्तव- देश-विरति: पाँच लब्धियाँ; छठे सातवें में दो तीन या मनःपर्यायपर्यन्त चार ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, पाँच लब्धियाँ; आठवें नौवें और दसवें में सम्यक्त्वको छोड़ छठे और सातवें गुणस्थानवाले सब क्षायोपशमिक भाव। ग्यारहवें-बारहवेंमें चारित्रको छोड दसवें गुणस्थानवाले सब भाव।

औदयिक:—पहले गुणस्थानमें अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, एक लेश्या एक कषाय, एक गति, एक वेद और मिथ्यात्व; दूसरेमें मिथ्यात्वको छोड़ पहले गुणस्थानवाले सब औदयिक; तीसरे, चौथे और पाँचवें में अज्ञान को छोड़ दूसरेवाले सब छठेसे लेकर नौवें तकमें असंयमके सिवाय पाँचवेंवाले सब; दसवेंमें वेदके सिवाय नौवेंवाले सब; ग्यारहवें-बारहवेंमें कषायके सिवाय दसवेंवाले सब; तेरहवेंमें असिद्धत्व, लेश्या और गति; चौदहवें में गति और असिद्धत्व।

क्षायिक—चौथेसे ग्यारहवें गुणस्थान तक में सम्यक्त्व; और चारित्र दो और तेरहवें चौदहवें में—नौ क्षायिकभाव।

औपशमिक—चौथेसे आठवें तक सम्यक्त्व; नौवेंसे ग्यारहवें तक सम्यक्त्व और चारित्र।

पारिणामिक—पहलेमें तीनों; दूसरेसे बारहवें तक में जीवत्व और भव्यत्व दो; तेरहवें और चौदहवेंमें एक जीवत्व।

# परिशिष्ट न० १।

## श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय संप्रदाय के [कुछ] समान तथा असमान मन्तव्य।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

( क )

निश्चय और व्यवहार-दृष्टि से जीव शब्द की व्याख्या दोनों संप्रदाय में तुल्य है। पृष्ठ-४। इस सम्बन्ध में जीवकाण्ड का 'प्राणाधिकार' प्रकरण और उसकी टीका देखने योग्य है।

मार्गणास्थान शब्द की व्याख्या दोनों संप्रदाय में समान है। पृष्ठ-४।

गुणस्थान शब्द की व्याख्या-शैली कर्मग्रन्थ और जीवकाण्ड में भिन्नसी है, पर उसमें तात्त्विक अर्थ-भेद नहीं है। पृ०-४।

उपयोग का स्वरूप दोनों सम्प्रदायों में समान माना गया है। पृ०-५।

कर्मग्रन्थ में अपर्याप्त संज्ञी को तीन गुणस्थान माने हैं, किन्तु गोम्मटसार में पाँच माने हैं। इस प्रकार दोनों का संख्याविषयक मतभेद है, तथापि वह अपेक्षाकृत है, इसलिये वास्तविक दृष्टि से उसमें समानता ही है। पृ०-१२।

केवलज्ञानी के विषय में संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व का व्यवहार दोनों संप्रदाय के शास्त्रों में समान है। पृ०-१३।

वायुकाय के शरीर की ध्वजाकारता दोनों संप्रदाय को मान्य है। पृ०-२०।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

छाद्मस्थिक उपयोगों का काल-मान अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण दोनों संप्रदायों को मान्य है। पृ०–२०, नोट।

भावलेश्या के सम्बन्ध की स्वरूप, दृष्टान्त आदि अनेक बातें दोनों सम्प्रदाय में तुल्य हैं। पृ०–३३।

चौदह मार्गणाओं का अर्थ दोनों सम्प्रदाय में समान है तथा उनकी मूल गाथाएँ भी एकसी हैं। पृ०–४७, नोट।

सम्यक्त्व की व्याख्या दोनों सम्प्रदाय में तुल्य है। पृ०–५०, नोट।

व्याख्या कुछ भिन्नसी होने पर भी आहार के स्वरूप में दोनों सम्प्रदाय का तात्त्विक भेद नहीं है। श्वेताम्बर-ग्रन्थों में सर्वत्र आहारके तीन भेद हैं और दिगम्बर-ग्रन्थों में कहीं छह भेद भी मिलते हैं। पृ०–५०, नोट।

परिहारविशुद्धसंयम का अधिकारी कितनी उम्रका होना चाहिये, उसमें कितना ज्ञान आवश्यक है और वह संयम किसके समीप ग्रहण किया जा सकता और उसमें विहार आदि का कालनियम कैसा है, इत्यादि उसके सम्बन्ध की बातें दोनों सम्प्रदाय में बहुत अंशों में समान हैं। पृ०–५९, नोट।

क्षायिकसम्यक्त्व जिनकालिक मनुष्यों को होता है, यह बात दोनों सम्प्रदाय को इष्ट है। पृ०–६६, नोट।

केवली में द्रव्यमन का सम्बन्ध दोनों सम्प्रदायों में इष्ट है। पृ०–१०१, नोट।

मिश्रसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में मति आदि उपयोगों की ज्ञान-अज्ञान उभयरूपता गोम्मटसार में भी है। पृ०–१०९, नोट।

गर्भज मनुष्यों की संख्या के सूचक उन्तीस अङ्क दोनों सम्प्रदाय में तुल्य हैं। पृ०–११७, नोट।

इन्द्रियमार्गणा में द्वीन्द्रिय आदि का और कायमार्गणा में तेजः-काय आदि का विशेषाधिकत्व दोनों सम्प्रदाय में समान इष्ट है। पृ०-१२२, नोट ।

वक्रगति में विग्रहों की संख्या दोनों सम्प्रदाय में समान है। फिर भी श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में कहीं-कहीं जो चार विग्रहों का मतान्तर पाया जाता है, वह दिगम्बरीय ग्रन्थों में देखने में नहीं आया। तथा वक्रगति का काल-मान दोनों सम्प्रदाय में तुल्य है। वक्रगति में अनाहारकत्व का काल-मान, व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियों से विचारा जाता है। इसमें से व्यवहार-दृष्टि के अनुसार श्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-में विचार है और निश्चय-दृष्टि के अनुसार दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ में विचार है। अत एव इस विषय में भी दोनों सम्प्रदाय का वास्तविक मत-भेद नहीं है। पृ०-१४३ ।

अवधिदर्शन में गुणस्थानों की संख्या के विषय में सैद्धान्तिक एक और कार्मग्रन्थिक दो, ऐसे जो तीन पक्ष हैं, उनमें से कार्मग्रन्थिक दोनों ही पक्ष दिगम्बरीय ग्रन्थों में मिलते हैं। पृ०-१४६ ।

केवलज्ञानी में आहारकत्व, आहारका कारण असातवेदनीय का उदय और औदारिक पुद्गलों का ग्रहण, ये तीनों बातें दोनों सम्प्रदाय में समान मान्य हैं। पृ०-१४८ ।

गुणस्थान में जीवस्थान का विचार गोम्मटसार में कर्मग्रन्थ की अपेक्षा कुछ भिन्न जान पड़ता है। पर वह अपेक्षाकृत होने से वस्तुतः कर्मग्रन्थ के समान ही है। पृ०-१६१, नोट ।

गुणस्थान में उपयोग की संख्या कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार में तुल्य है। पृ०-१६७, नोट ।

एकेन्द्रिय में सासादनभाव मानने और न मानने वाले, ऐसे जो

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, दिगम्बर-ग्रन्थों में भी हैं। पृ०-१७१, नोट।

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में जो कहीं कर्मबन्ध के चार हेतु, कहीं दो हेतु और कहीं पाँच हेतु कहे हुए हैं; दिगम्बर-ग्रन्थों में भी वे सब वर्णित हैं। पृ०-१७४, नोट।

बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद आदि दोन संप्रदाय में समान हैं। पृ०-१७५, नोट।

सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओं का विचार दोनों संप्रदाय के ग्रन्थों में है। पृ०-१८१, नोट।

एक संख्या के अर्थ में रूप शब्द दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलता है। पृ०—२१८, नोट।

कर्मग्रन्थ में वर्णित दस तथा छह क्षेत्र त्रिलोकसार में भी हैं। पृ०-२२१, नोट।

उत्तर प्रकृतियों के मूल बन्ध-हेतु का विचार जो सर्वार्थसिद्धि में है, वह पञ्चसंग्रह में किये हुए विचार से कुछ भिन्नता होने पर भी वस्तुतः उसके समान ही है। पृ०-२२७।

कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसंग्रह में एक-जीवाश्रित भावों का जो विचार है, गोम्मटसार में बहुत अंशो में उसके समान ही वर्णन है। पृ०- २२९।

( ख )

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में तेजःकाय को वैक्रिय शरीर का कथन नहीं है, पर दिगम्बर-ग्रन्थों में है। पृ०—१९, नोट

श्वेताम्बर संप्रदाय की अपेक्षा दिगम्बर संप्रदाय में संज्ञि-असंज्ञी का व्यवहार कुछ भिन्न है। तथा श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हेतुवादोपदेशिकी

आदि संज्ञाओं का विस्तृत वर्णन है, पर दिगम्बर-ग्रन्थों में नहीं है। पृ०—३९।

श्वेताम्बर-शास्त्र-प्रसिद्ध करणपर्याप्त शब्द के स्थान में दिगम्बर-शास्त्र में निर्वृत्यपर्याप्त शब्द है। व्याख्या भी दोनो शब्दो की कुछ भिन्न है। पृ०—४१।

श्वेताम्बर-ग्रन्थो में केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का क्रमभावित्व, सहभावित्व और अभेद, ये तीन पक्ष हैं, परन्तु दिगम्बर-ग्रन्थो में सहभावित्व का एक ही पक्ष है। पृ०—४३।

लेश्या तथा आयु के बन्धाबन्ध की अपेक्षा से कषाय के जो चौदह और बीस भेद गोम्मटसार में हैं, वे श्वेताम्बर-ग्रन्थो में नहीं देखे गये। पृ —५५, नोट।

अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व पाये जाने और न पाये जाने के सम्बन्ध में दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थो में हैं, परन्तु गोम्मटसार में उक्त दो में से पहिला पक्ष ही है। पृ०—७०, नोट।

अज्ञान-त्रिक में गुणस्थानो की संख्या के सम्बन्ध में दो पक्ष कर्मग्रन्थ में मिलते हैं, परन्तु गोम्मटसार में एक ही पक्ष है। पृ०—८२, नोट

गोम्मटसार में नारको की संख्या कर्मग्रन्थ-वर्णित संख्या से भिन्न है। पृ०—११९, नोट।

द्रव्यमन का आकार तथा स्थान दिगम्बर संप्रदाय में श्वेताम्बर की अपेक्षा भिन्न प्रकार का माना है और तीन योगो के बाह्याभ्यन्तर कारणो का वर्णन राजवार्तिक में बहुत स्पष्ट किया है। पृ०—१३४।

मनःपर्यायज्ञान के योगो की संख्या दोनो सम्प्रदाय में तुल्य नहीं है। पृ०—१५४।

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में जिस अर्थ के लिये आयोजिकाकरण, आवर्जितकरण और आवश्यककरण, ऐसी तीन संज्ञाएँ मिलती हैं, दिगम्बर-ग्रन्थों में उस अर्थ के लिये सिर्फ आवर्जितकरण, यह एक संज्ञा है। पृ०–१५५।

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में काल को स्वतन्त्र द्रव्य भी माना है और उपचरित भी। किन्तु दिगम्बर-ग्रन्थों में उसको स्वतन्त्र ही माना है। स्वतन्त्र पक्ष में भी काल का स्वरूप दोनों संप्रदाय के ग्रन्थों में एकसा नहीं है। पृ०–१५७।

किसी-किसी गुणस्थानों में योगों की संख्या गोम्मटसार में कर्म-ग्रन्थ की अपेक्षा भिन्न है। पृ०–१६३, नोट।

दूसरे गुणस्थान के समय ज्ञान तथा अज्ञान मानने वाले ऐसे दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, परन्तु गोम्मटसार में सिर्फ दूसरा पक्ष है। पृ०–१६६, नोट।

गुणस्थानों में लेश्या की संख्या के संबन्ध में श्वेताम्बर-ग्रन्थों में दो पक्ष हैं और दिगम्बर-ग्रन्थों में सिर्फ एक पक्ष है। पृ०—१७२, नोट।

[ जीव सम्यक्त्वसहित मरकर स्त्रीरूप में पैदा नहीं होता, यह बात दिगम्बर संप्रदाय को मान्य है, परन्तु श्वेताम्बर संप्रदाय को यह मन्तव्य इष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें भगवान् मल्लिनाथ का स्त्रीवेद तथा सम्यक्त्वसहित उत्पन्न होना माना गया है। ]

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

---

# परिशिष्ट नं० २ ।

मार्गदर्शक : आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

कार्मग्रन्थिकों और सैद्धान्तिकों का मत-भेद ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि दस जीवस्थानों में तीन उपयोगों का कथन कार्मग्रन्थिक मत का फलित है। सैद्धान्तिक मत के अनुसार तो छह जीवस्थानों में ही तीन उपयोग फलित होते हैं और द्वीन्द्रिय आदि शेष चार जीवस्थानों में पाँच उपयोग फलित होते हैं। पृ०-२२, नोट।

अवधिदर्शन में गुणस्थानों की संख्या के संबन्ध में कार्मग्रन्थिकों तथा सैद्धान्तिकों का मत-भेद है। कार्मग्रन्थिक उसमें नौ तथा दस गुणस्थान मानते हैं और सैद्धान्तिक उसमें बारह गुणस्थान मानते हैं। पृ०-१४६।

सैद्धान्तिक दूसरे गुणस्थान में ज्ञान मानते हैं, पर कार्मग्रन्थिक उसमें अज्ञान मानते हैं। पृ०-१६९, नोट।

वैक्रिय तथा आहारक-शरीर बनाते और त्यागते समय कौन सा योग मानना चाहिये, इस विषय में कार्मग्रन्थिकों का और सैद्धान्तिकों का मत-भेद है। पृ०—१७०, नोट।

सिद्धान्ती एकेन्द्रिय में सासादनभाव नहीं मानते, पर कार्मग्रन्थिक मानते हैं। पृ०—१७१, नोट।

ग्रन्थिभेद के अनन्तर कौन सा सम्यक्त्व होता है, इस विषय में सिद्धान्त तथा कर्मग्रन्थ का मत-भेद है। पृ०—१७१।

# परिशिष्ट नं० ३।

## चौथा कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसंग्रह।

जीवस्थानो में योग का विचार पञ्चसंग्रह में भी है। पृ०—१५, नोट।

अपर्याप्त जीवस्थान के योगो के संबन्ध का मत-भेद जो इस कर्म ग्रन्थ में है, वह पञ्चसंग्रह की टीका में विस्तारपूर्वक है। पृ०—१६।

जीवस्थान में उपयोगों का विचार पञ्चसग्रह में भी है। पृ०—२०, नोट।

कर्मग्रन्थ कारने विभङ्गज्ञान में दो जीवस्थानो का और पञ्चसंग्रह कारने एक जीवस्थान का उल्लेख किया है। पृ०—६८, नोट।

अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व पाया जा सकता है, यह बात पञ्चसंग्रह में भी है। पृ०—७० नोट।

पुरुषो से स्त्रियो की संख्या अधिक होने का वर्णन पञ्चसंग्रह में है। पृ०—१२५, नोट।

पञ्चसंग्रह में भी गुणस्थानो को लेकर लेकर योगो का विचार है। पृ० १६३, नोट।

गुणस्थान में उपयोग का वर्णन पञ्चसंग्रह में है। पृ०—१६७, नोट।

बन्ध-हेतुओ के उत्तर भेद तथा गुणस्थानो में मूल बन्ध-हेतुओका विचार पञ्चसंग्रह मे है। पृ०—१७५, नोट।

सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओ का वर्णन पञ्चसंग्रह में विस्तृत है। पृ०—१८१, नोट।

गुणस्थानों में बन्ध, उदय आदि का विचार पञ्चसंग्रह में है। पृ०–१८७, नोट।

गुणस्थानों में अल्प-बहुत्व का विचार पञ्चसंग्रह में है। पृ०–१९२, नोट।

कर्म के भाव पञ्चसंग्रह में हैं। पृ० २०४, नोट।

उत्तर प्रकृतियों के मूल बन्ध-हेतु का विचार कर्मग्रन्थ और पञ्चसंग्रह में भिन्न-भिन्न शैली का है। पृ०२२७।

एक जीवाश्रित भावों की संख्या मूल कर्मग्रन्थ तथा मूल पञ्चसंग्रह में भिन्न नहीं है, किन्तु दोनों व्याख्याओं में देखने योग्य थोड़ा सा विचार-भेद है। पृ०–२२९।

# परिशिष्ट नं० ४ ।

ध्यान देने योग्य कुछ विशेष-विशेष स्थल ।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान का पारस्परिक अन्तर । पृ०—४ ।

परभव की आयु बाँधने का समय-विभाग अधिकारी-भेद के अनुसार किस-किस प्रकार का है ? इसका खुलासा । पृ०—२४, नोट ।

उदीरणा किस प्रकार के कर्म की होती है और वह कब तक हो सकती है ? इस विषय का नियम । पृ०—२६, नोट ।

द्रव्य-लेश्या के स्वरूप के सम्बन्ध में कितने पक्ष हैं ? उन सबका आशय क्या है ? भावलेश्या क्या वस्तु है और महाभारत में, योग, दर्शन में तथा गोशालक के मत में लेश्या के स्थान में कैसी कल्पना है ? इत्यादि का विचार । पृ०—३३

शास्त्र में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जो इन्द्रिय-सापेक्ष प्राणियों का विभाग है वह किस अपेक्षा से ? तथा इन्द्रिय के कितने भेद-प्रभेद हैं और उनका क्या स्वरूप है ? इत्यादि का विचार । पृ० —३६ ।

संज्ञा का तथा उसके भेद-प्रभेदों का स्वरूप और संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व के व्यवहार का नियामक क्या है ? इत्यादि पर विचार पृ०—३८ ।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त और उसके भेद आदि का स्वरूप तथा पर्याप्ति का स्वरूप ।पृ०—४० ।

केवल ज्ञान तथा केवलदर्शन के क्रमभावित्व, सहभावित्व और अभेद, इन तीन पक्षों की मुख्य-मुख्य दलीलें तथा उक्त तीन पक्ष किस-किस नयकी अपेक्षा से हैं ? इत्यादि का वर्णन । पृ०—४३

बोलने तथा सुनने की शक्ति नहोने पर भी एकेन्द्रिय में श्रुत-उपयोग स्वीकार किया जाता है, सो किस तरह ? इस पर विचार। पृ०-४५।

पुरुष व्यक्ति में स्त्री-योग्य और स्त्री व्यक्ति में पुरुष-योग्य भाव पाये जाते हैं और कभी तो किसी एक ही व्यक्ति में स्त्री-पुरुष दोनों के बाह्याभ्यन्तर लक्षण होते हैं। इसके विश्वस्त सबूत। पृ०-५३, नोट।

श्रावकों की वह जो [illegible] दिशा रही जाती है, उसका खुलासा। पृ०—६१, नोट।

मनःपर्याय-उपयोग को कोई आचार्य दर्शनरूप भी मानते हैं, इसका प्रमाण। पृ० ६२, नोट।

जातिभव्य किसको कहते हैं ? इसका खुलासा। पृ०-६५, नोट।

औपशमिकसम्यक्तव में दो जीवस्थान मानने वाले और एक जीवस्थान मानने वाले आचार्य अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिये अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्तव पाये जाने और न पाये जाने के विषय में क्या-क्या युक्ति देते हैं ? इसका सविस्तर वर्णन। पृ०—७०, नोट।

संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति के क्षेत्र और स्थान तथा उनकी आयु और योग्यता जानने के लिये आगमिक-प्रमाण। पृ०—७२, नोट।

स्वर्ग से च्युत होकर देव किन स्थानों में पैदा होते हैं ? इसका कथन। पृ०—७३, नोट।

चक्षुर्दर्शन में कोई तीन ही जीवस्थान मानते हैं और कोई छह। यह मत-भेद इन्द्रियपर्याप्ति की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं पर निर्भर है। इसका सप्रमाण कथन। पृ०—७६, नोट।

कर्मग्रन्थ में असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय को स्त्री और पुरुष, ये दो वेद

माने हैं और सिद्धान्त में एक नपुंसक, सो किस अपेक्षा से ? इसका प्रमाण। पृ०—७८, नोट।

मार्गदर्शिका – आचार्य श्री सुविधिसागर जी

अज्ञान-त्रिक में दो गुणस्थान मानने वालों का तथा तीन गुणस्थान मानने वालों का आशय क्या है ? इसका खुलासा। पृ० ८२।

कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं में छह गुणस्थान इस कर्मग्रन्थ में माने हुए और पञ्चसंग्रह आदि ग्रन्थों में उक्त तीन लेश्याओंमें चार गुणस्थान माने हैं। सो किस अपेक्षा से ? इसका प्रमाणपूर्वक खुलासा। पृ०—८८।

जब मरण के समय ग्यारह गुणस्थान पाये जाने का कथन है, तब विग्रहगति में तीन ही गुणस्थान कैसे माने गये ? इसका खुलासा। पृ०—८९।

स्त्रीवेद में तेरह योगों का तथा वेद सामान्य में बारह उपयोगों का और नौ गुणस्थानों का जो कथन है, सो द्रव्य और भाव में से किस-किस प्रकार के वेद को लेने से घट सकता है ? इसका खुलासा। पृ०—९७, नोट।

उपशमसम्यक्त्व के योगो में औदारिकमिश्रयोग का परिगणन है, सो किस तरह सम्भव है ? इसका खुलासा। पृ०—९८।

मार्गणाओं में जो अल्पाबहुत्व का विचार कर्मग्रन्थ में है, वह आगम आदि किन प्राचीन ग्रन्थो में है ? इसकी सूचना। पृ०—११५, नोट।

काल की अपेक्षा क्षेत्र की की सूक्ष्मता का सप्रमाण कथन। पृ०—१७७ नोट

शुल्क, पद्म और तेजो-लेश्यावालों के संख्यातगुण अल्प-बहुत्व पर शङ्का-समाधान तथा उस विषय में टबाकार का, मन्तव्य। पृ०—१३०, नोट

तीन योगों का स्वरूप तथा उनके बाह्य-आभ्यन्तर कारणो का स्पष्ट कथन और योगों की संख्या के विषय में शङ्का-समाधान तथा द्रव्यमन, द्रव्यवचन और शरीर का स्वरूप। पृ०—१३४।

सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक ? क्षायोपशमिक आदि भेदों का आधार, औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व का आपस में अन्तर, क्षायिक सम्यक्त्वीकी उन दोनों से विशेषता, कुछ शङ्का-समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदय का स्वरुप, क्षयोपशम तथा उपशम-शब्द की व्याख्या, एवं अन्य प्रासङ्गिक विचार ।पृ०–१३६ ।

अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रियपर्याप्त पूर्ण होने के पहिले चक्षुर्दर्शन नहीं माने जाने और चक्षुर्दर्शन माने जाने पर प्रमाण पूर्वक विचार । पृ०–१४१ ।

वक्रगति के सम्बन्ध में तीन बातों पर सविस्तार:–(१) वक्रगति-के विग्रहों की संख्या, (२) वक्रगति का काल-मान और (३) वक्रगति में अनाहारकत्व काल-मान । पृ०–१४३ ।

अवधिदर्शन में गुणस्थानों की संख्या के विषय में पक्ष-भेद तथा प्रत्येक पक्ष का तात्पर्य अर्थात् विभङ्गज्ञान से अवधिदर्शन का भेदाभेद । पृ०–१४६ ।

श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदाय में कवलाहार-विषयक मत-भेद का समन्वय । पृ०–१४८ ।

केवल ज्ञान प्राप्त कर सकने वाली स्त्रीजाति के लिये श्रुतज्ञान-विशेष का अर्थात् दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध करना, यह एक प्रकार से विरोध है । इस सम्बन्ध में विचार तथा नय-दृष्टि से विरोध का परिहार । पृ०—१४९ ।

चक्षुर्दर्शन के योगों में से औदारिकमिश्रयोग का वर्जन किया है, सो किस तरह सम्भव है ? इस विषय पर विचार । पृ०–१६४ ।

केवलिसमुद्घात सम्बन्धी अनेक विषयों का वर्णन उपनिषदों में तथा गीता में जो आत्मा की व्यापकता का वर्णन है, उसका जैन-दृष्टि से मिलान और केवलिसमुद्घात-जैसी क्रिया का वर्णन अन्य किस दर्शन में हैं ? इसकी सूचना ।पृ०–१५८ ।

जैन दर्शन में तथा जैनेतर-दर्शन में कालका स्वरूप किस-किस प्रकार का माना है ? तथा उसका वास्तविक स्वरूप कैसा मानना चाहिये ? इसका प्रमाण पूर्वक विचार । पृ०—१२७ ।

छह लेश्या का सम्बन्ध चार गुणस्थान तक मानना चाहिये या छह गुणस्थान तक ? इस सम्बन्ध में जो पक्ष हैं, उनका आशय तथा शुभ भाव लेश्या के अशुभ द्रव्यलेश्या और अशुभ द्रव्य लेश्या के समय शुभ भावलेश्या, इस प्रकार लेश्याओं की विषमता किन जीवों में होती है ? इत्यादि विचार । पृ०—१७२- नोट ।

कर्मबन्ध के हेतुओं की भिन्न-भिन्न संख्या तथा उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष ऊहापोह । पृ०—१७४, नोट ।

आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक और आभिनिवेशिक-मिथ्यात्व का शास्त्रीय खुलासा । पृ०—१७६, नोट ।

तीर्थंकरनामकर्म और आहारक-द्विक, इन तीन प्रकृतियों के बन्ध को कहीं कषाय-हेतुक कहा है और कहीं तीर्थंकरनामकर्म के बन्ध को सम्यक्त्वहेतुक तथा आहारक-द्विकके बन्ध को संयम-हेतुक, सो किस अपेक्षा से ? इसका खुलासा पृ०—१८१, नोट ।

छह भाव और उनके भेदों का वर्णन अन्यत्र कहां-कहां मिलता है ? इसकी सूचना । पृ०—१९६, नोट ।

मति आदि अज्ञानों को कहीं क्षायोपशमिक और कहीं औदयिक कहा है, सो किस अपेक्षा से ? इसका खुलासा । पृ०—१९९, नोट ।

संख्या का विचार अन्यत्र कहां-कहां किस-किस प्रकार है ? इसका निर्देश । पृ०—२०८, नोट ।

युगपद् तथा भिन्न-भिन्न समय में एक या अनेक जीवाश्रित पाये जाने वाले भाव और अनेक जीवों की अपेक्षा से गुणस्थानों में भावों के उत्तर भेद । पृ०—२३१ ।

# अनुवादगत पारिभाषिकशब्दोंका कोष


| शब्द । | पृष्ठ । | पङ्क्ति । |
|---|---|---|
| **अ** | | |
| अछाद्यस्थिकयथाख्यात | ६१ | २० |
| [अध्यवसाय] | २२३ | १३ |
| अनुभवसंज्ञा | ३८ | ६ |
| [अनुभाग] | २२३ | १३ |
| [अनुभागबन्धस्थान] | ,, | १६ |
| अन्तरकरण | १४० | ४ |
| [अन्तर्मुहूर्त] | २८ | १ |
| [अपवर्तनाकरण] | ६ | २ |
| [अबाधाकाल] | ६ | १ |
| अभवस्थ-अयोगी | १९४ | २५ |
| असत्कल्पना | २१० | १७ |
| **आ ।** | | |
| [आदेश] | ४ | ९ |
| आयोजिकाकरण | १५५ | ४ |
| [आयंबिल] | ६० | १ |
| आवर्जितकरण | १५५ | ६ |
| [आवलिका] | ३१ | १ |
| आवश्यककरण | १५५ | ७ |
| **इ ।** | | |
| इत्वरसामायिक | ५७ | २३ |

| शब्द । | पृ० । | पङ्क्ति । |
|---|---|---|
| **उ ।** | | |
| उत्कृष्ट अनन्तानन्त | २२५ | ११ |
| उत्कृष्ट असंख्याता— | | |
| संख्यात | २२० | ७ |
| उत्कृष्ट परीत्तानन्त | २२० | १५ |
| उत्कृष्ट परीतासंख्यात | २१९ | ३ |
| उत्कृष्ट युक्तानन्त | २२० | १९ |
| उत्कृष्ट युक्तासंख्यात | २२० | ३ |
| उत्कृष्ट संख्यात | २१७ | १६ |
| उदयस्थान | २८ | १ |
| उदीरणास्थान | २८ | ३ |
| उपकरणेन्द्रिय | ३७ | १२ |
| उपशम | १३९ | २७ |
| उपशमश्रेणिभावीओ-पशमिकसम्यक्त्व | ६६ | ३ |
| **ऊ ।** | | |
| [ऊर्ध्वतासामान्य] | ३ | १४ |
| ऊर्ध्वप्रचय | १५८ | २५ |
| **ओ ।** | | |
| [ओघ] | ४ | १६ |
| ओघसंज्ञा | ३६ | १५ |


मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

| शब्द । | पृष्ठ । | पङ्क्ति । |
|---|---|---|
| **औ ।** | | |
| औपपातिकशरीर | ६२ | १३ |
| औपशमिक | १३८ | १ |
| औपशमिकचारित्र | १६७ | १४ |
| **क ।** | | |
| करण | ४१ | १० |
| करण-अपर्याप्त | ४० | ८ |
| करणपर्याप्त | ४१ | १३ |
| [कषायिक-परिणाम] | २२३ | १३ |
| क्षायोपशम | १३८ | ४ |
| क्षायोपशमिक | १३६ | १ |
| **ग ।** | | |
| ग्रन्थिभेदजन्य औपशमिकसम्यक्त्व | ६५ | १३ |
| गतित्रस | ८१ | १० |
| **घ ।** | | |
| [घन] | १२६ | १ |
| [घनीकृत लोक] | ११८ | ४ |
| **छ ।** | | |
| छाद्मस्थिकयथाख्यात | ६१ | १५ |
| **ज ।** | | |
| जघन्य अनन्तानन्त | २२० | १८ |
| जघन्य असंख्यात—संख्यात | २२० | १ |
| जघन्य परीतानन्त | २२० | ७ |
| जघन्य परीतासंख्यात | २१८ | ११ |
| जघन्य युक्तानन्त | २२० | १३ |
| जघन्ययुक्तासंख्यात्र | २१८ | १५ |
| जघन्य संख्यात | २०६ | २४ |
| [जाति भव्य] | ६५ | २ |
| [जीवसमास] | ३ | ५ |
| | ३ | १५ |
| ज्ञानसंज्ञा | ३८ | ५ |
| **त ।** | | |
| तिर्यक्प्रचय | १५८ | २३ |
| [तिर्यक्सामान्य] | ३ | १६ |
| **द ।** | | |
| दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञा | ३८ | २२ |
| दृष्टिवादोपदेशिकीसंज्ञा | ३८ | २६ |
| द्रव्यप्राण | ३ | ४ |
| द्रव्यमन | १३५ | १३ |
| द्रव्यलेश्या | ३३ | ४ |
| द्रव्यवचन | १३५ | १६ |
| [द्रव्यवेद] | ५३ | १ |
| [द्रव्यसम्यक्त्व] | १७३ | १६ |
| द्रव्येन्द्रिय | ३६ | २० |


आगमरत्न - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

| शब्द । | पृष्ठ । | पंक्ति |
|---|---|---|
| **न ।** | | |
| [निगोदशरीर] | २२३ | २८ |
| निरतिचारछेदोपस्थापनीयसंयम | ५८ | २१ |
| [निर्जरा] | ६ | ७ |
| [निर्विभाग अंश] | २२२ | २२ |
| निर्विशमानकपरिहारविशुद्धसंयम | ६० | २० |
| निर्विष्टकायिकपरिहार विशुद्धसंयम | ६० | २१ |
| निर्वृत्ति-अपर्याप्त | ४१ | २ |
| निर्वृत्तीन्द्रिय | ३६ | २४ |
| निश्चयमरण | ८९ | १७ |
| नोकषाय | १७८ | १७ |
| **न ।** | | |
| पर्याप्ति | ४१ | २१ |
| [पल्योपम] | २८ | ६ |
| [पूर्व] | २९ | ४ |
| पूर्वप्रतिपन्न | १९३ | १३ |
| [प्रतर] | ११८ | ४ |
| प्रतिपद्यमान | १९३ | १२ |
| [प्रत्येकशरीर] | २२३ | २५ |
| प्रथमोपशमसम्यक्त्व | ६६ | १ |
| प्रदेशोदय | १३७ | १६ |
| **ब ।** | | |
| [बन्धनकरण] | ६ | ४ |
| बन्धस्थान | २७ | २४ |
| **भ ।** | | |
| भवप्रत्यय | ११४ | १७ |
| भवस्थ-अयोगी | १९४ | २४ |
| भाव | १९६ | ११ |
| भावप्राण | ३ | ५ |
| भावलेश्या | ३३ | १८ |
| [भाववेद] | ५३ | १ |
| [भावसम्यक्त्व] | १३७ | १७ |
| भावेन्द्रिय | ३६ | २१ |
| **म ।** | | |
| मध्यम अनन्तानन्त | २२० | २२ |
| मध्यम असंख्याता संख्यात | २२० | १० |
| मध्यम परीत्तानन्त | २२० | १५ |
| मध्यम परीत्तासंख्यात | २१९ | ४ |
| मध्यम युक्तानन्त | २२० | २० |
| मध्यमयुक्तासंख्यात | २२० | ५ |
| मध्यम संख्यात | २१७ | २२ |
| **य ।** | | |
| यावत्कथितसामायिक | ५८ | ६ |

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज




| शब्द । | पृष्ठ । | पंक्ति । |
|---|---|---|
| **र ।** | | |
| [रज्जु] | ११८ | ४ |
| **ल ।** | | |
| लब्धि-अपर्याप्त | ४० | ५ |
| लब्धित्रस | ८१ | १० |
| लब्धिपर्याप्त | ४० | १० |
| लब्धिप्रत्ययशरीर | ९२ | १५ |
| लब्धीन्द्रिय | ३७ | १४ |
| [लवसत्तम देव] | ७१ | ११ |
| लिङ्गशरीर | ९४ | ४ |
| **व ।** | | |
| वक्रगति | १४४ | १५ |
| [वर्ग] | ११७ | १ |
| [वर्गमूल] | ११८ | ६ |
| विग्रह | १४३ | १० |
| विपाकोदय | १३७ | १५ |
| विशुद्ध्यमानसूक्ष्म-संपरायसंयम | ६१ | ९ |
| [विशेष] | ४ | ९ |
| [विशेष बन्ध-हेतु] | १८१ | १४ |
| [विशेषाधिक] | १२२ | ६ |
| [विस्तार] | ४ | ९ |
| [विस्वा] | ६२ | ३ |
| वैभाविक | ७ | ५ |
| व्यावहारिकमरण | ८९ | १५ |

| शब्द । | पृष्ठ । | पंक्ति |
|---|---|---|
| **श ।** | | |
| शतपृथक्त्व | १९३ | १६ |
| शरीर | १३५ | २१ |
| **स ।** | | |
| सत्कल्पना | २१० | १५ |
| सत्तास्थान | २७ | २५ |
| [समय] | २९ | १ |
| सरागसंयम | ९४ | २४ |
| [सागरोपम] | २८ | ६ |
| सातिचारछेदोपस्थापनीयसंयम | ५८ | १८ |
| [सामान्य] | ४ | १६ |
| [सामान्य बन्ध-हेतु] | १८१ | १३ |
| सूक्ष्मशरीर | ९४ | ४ |
| [सूचिश्रेणि] | ११८ | ५ |
| [संक्रम] | ६ | ८ |
| [संक्रमणकरण] | ६ | ५ |
| संक्लिश्यमानकसूक्ष्म-संपरायसंयम | ६१ | ५ |
| [संक्षेप] | ४ | १५ |
| संज्ञा | ३८ | १ |
| [स्थितकल्पी] | ५८ | २ |
| [स्थितास्थितकल्पी] | " | ३ |
| **ह ।** | | |
| हेतुवादोपदेशिकीसंज्ञा | ३८ | १८ |

# चौथे कर्मग्रन्थ का कोष ।

---

## अ

| गाथाङ्क । प्राकृत । | संस्कृत । | हिन्दी । |
|---|---|---|
| ७२—अओपर | अतःपर | इससे अगाड़ी। |
| ४८—अंतदुग | अन्तद्विक | 'सांयोगकेवली' और 'अयोग-केवली' नामके अन्तके दो-तेरहवां और चौदहवां गुणस्थान। |
| ४७—अंताइम | अन्ताद्विम | अखीरका और शुरूका । |
| २३, २८—अंतिम | अन्तिम | अखीरका। |
| ७३—अक्खा | आख्या | नाम । |
| ३६, ३८—अग्गि | अग्नि | अग्निकायिका'-नामक जीव-विशेष |
| १२,१६,२०,२५, ३२,४२ —अचक्खु | अचक्षुष् | 'अचक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष [६२-६][1] |
| ४८—अछहास | अषट्हास | छह हास्यादि को छोड़कर । |

१—[ ]इस कोष्ठ के अन्दरके अङ्क, पृष्ठ और पंक्तियोंके अङ्क हैं, उस जगह उन शब्दोंका विशेष अर्थ उल्लिखित है।

| गा० । | प्रा० । | सं० । | हि० । |
|---|---|---|---|
| ३,१२,१६,२०,२१,२३ २६,३०,४२,४६,४८,५६ | अजय | अयत | 'अयत' -नामक चौथा गुणस्थान तथा उत्तर मार्गणा-विशेष [६२-१] |
| ४७,५०,५४,५६, ६२, ६३ | —अजो(यो गिन्) | अयोगिन् | चौदहवें गुणस्थानवाला जीव । |
| | ८२—अज्झवसाय | अध्यवसाय | परिणामों के दर्जे । |
| ७-२,८-३२,२,३५, ५६,६०-२,६१ २ | —अट्ठ (ड) | अष्ट | आठ । |
| | ६६—अट्ठकम्म | अष्टकर्म | आठ कर्म । |
| | ६४—अट्ठार | अष्टादश | अठारह । |
| | ५५—अण | अन | 'अनन्तानुबन्धी'-नामक कषाय-विशेष । |
| | ७३—अणवट्ठिय | अनवस्थित | 'अनवस्थित'-नामक पल्य-विशेष । [२११-४] |
| १८,२३,२४,३४,४४ | —अणहार | अनाहार | 'अनाहारक'-नामक उत्तर मार्गणा विशेष । |
| | १२—अणागार | अनाकार | विशेषता-रहित । [६३-५] |
| | ५१—अणभिगहिय | अनाभिग्रहिक | 'अनाभिग्रहिक'-नामक मिथ्यात्व-विशेष । [१७६-६] |

| गा० । | प्रा० । | सं० । | हि० । |
|---|---|---|---|
| ५१ | अणाभोग | अनाभोग | 'अनाभोग'-नामक मिथ्यात्व-विशेष । [१७७-२] |
| ८२ | अणुभाग | अनुभाग | 'अनुभाग' नामक बन्ध-विशेष । |
| ३८,४२,४३-२, ४४-२,६३,७१, ७९,८३,८४ | अणंत | अनन्त | 'अनन्त'-नामक संख्या-विशेष । |
| ३७,३८,३९-२, ४१-३, ४२ | अणंतगुण | अनन्तगुण | अनन्तगुना । |
| ८४,८६ | अणंताणंत | अनन्तानन्त | 'अनन्तानन्त'-नामक संख्या-विशेष । |
| ८१ | अधम्मदेस | अधर्म-देश | 'अधर्म'-नामक द्रव्यके प्रदेश । |
| ६,११,२६,३०,६६ | अना (न्ना)ण | अज्ञान | मिथ्या ज्ञान । |
| २०,३२ | अनाणतिग | अज्ञान त्रिक | 'कुमति','कुश्रुति' और 'विभङ्ग'-नामक तीन अज्ञान । |
| ६२ | अनियट्टि | अनिवृत्ति | 'अनिवृत्तिबादरसंपराय'-नामक नौवाँ गुणस्थान । |
| १०,३८ | अनिल | अनिल | 'वायुकायिक'-नामक जीव-विशेष । [५२-१६] |

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



| गा० । प्रा० । | सं० । | हिं० । |
|---|---|---|
| ६२—अनुवीरगु | अनुदीरक | 'उदीरणा'न करनेवाला जीव । |
| ४,३५,८०—अन्न | अन्य | और दूसरे । |
| ३३—अन्नाणमीस | अज्ञानमिश्र | अज्ञान-मिश्रित ज्ञान । |
| २, ३, ४—अपजत्त | अपर्याप्त | 'अपर्याप्त'-नामक जीव-विशेष । [११-२] |
| ३,४,६,७,१५-८ १८-२,४५ —अपज्ज | अपर्याप्त | " |
| ५७,६१,६३—अपमत | अप्रमत्त | अप्रमत्त'-नामक सातवाँ गुणस्थान । |
| ५६—अपमत्त | अप्रमत्तान्त | 'अप्रमत्त'-नामक सातवाँ गुणस्थान तक । |
| ५७,५६,६२,७०—अपुव्व | अपूर्व | 'अपूर्वकरण'-नामक आठवाँ गुण-स्थान । |
| ४६—अपुव्वपणग | अपूर्वपञ्चक | 'अपूर्वकरण-नामक आठवेंसे लेकर बारहवें तक पाँच गुणस्थान |

| | | |
|---|---|---|
| १—अप्पबहू | अल्पबहु | कम और ज्यादा: [७-४] । |
| ५६—अबंधग | अबन्धक | बन्धन करनेवाला जीव-विशेष । |
| ७८,८३—अब्भास | अभ्यास | 'अभ्यास'-नामक गणितका संकेत-विशेष [२१८-१८] । |
| १६,२६,३२—अभव(व्व) | अभव्य | सिद्ध न होनेवाला जीव-विशेष |
| ४३—अभवियर | अभव्येतर | 'अभव्य' और 'भव्य' -नामक जीव विशेष । |
| ८३—अभव्वजिय | अभव्यजीव | 'अभव्य'-नामक जीव-विशेष । |
| ६६—अभव्वत्त | अभव्यत्व | 'अभव्यत्व'-नामक मार्गणा विशेष । |
| ५१—अभिगहिय | आभिग्रहिक | 'आभिग्रहिक,-नामक मिथ्यात्व-विशेष [१७६-४] । |
| ५१—अभिनिवेसिय | आभिनिवेशिक | 'आभिनिवेशिक'-नामक मिथ्यात्व-विशेष [१७६-७] । |
| ८४—अलोगनह | अलोकनभस् | अलोकाकाश । |
| ८५—अलोभ | अलोभ | लोभको छोड़कर । |
| ५०—अल्लेसा | अलेश्य | लेश्या-रहित । |

| गा० । | प्रा० । | सं० । | हि० । |
|---|---|---|---|
| | ११—अवहि | अवधि | 'अवधिज्ञान'-नामक ज्ञान-विशेष । [५६-११] |
| ३७,८३ | - अवि | अपि | भी |
| | ५७—अविउव्वियाहार | अवैक्रियाहार | 'वैक्रिय' और 'आहारक'-नामक काययोग विशेषको छोड़कर । |
| ५०,५१,५६,५७ | —अविरइ | अविरति | पापों से विरक्त न होना । |
| | ६३—अविरय | अविरत | चौथे गुणस्थानवाला जीव । |
| | २४—असच्चमोस | असत्यमृष | 'असत्यमृष'-नामक मन तथा वचनयोग-विशेष [९१–३] । |
| | ६६—असिद्धत्त | असिद्धत्व | 'असिद्धत्व'-नामक औदयिक भाव विशेष [१९९–१७] । |
| २,३,१५-२,२३, २७,३२,३६ | —अस(स्स)न्नि | असंज्ञी | मनरहित जीव [१०–१९] । |
| ३८,४०-२,४२, ४४,६३,७१,८० | – असंख | असंख्य | 'असंख्य'-नामक गणना-विशेष । |
| | ८०—असंखासंख | असंख्यासंख्य | 'असंख्यासंख्य'-नामक गणना-विशेष । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ३७,३६,४२,४४ | असंखगुण | असंख्यगुण | असंख्यात गुना । |
| ६६ | असंजम [२००-१] | असंयम | 'असंयम'-नामक औदयिक भाव विशेष । |
| ६८ | असंभविन् | असंभविन् | न हो सकनेवाली बात । |
| ५५ | अह | अथ | प्रारम्भमें । |
| १२,२०,२६,३३,३७,४१ | अहखाय [६१-१२] | यथाख्यात | 'यथाख्यात'-नामक चरित्र विशेष । |
| ४६ | अहिगय | अधिकृत | अधिकार में आया हुआ । |
| ३८,२,४०-६२ | अहिय | अधिक | ज्यादा । |
| | **आ** | | |
| १,२१-२,६१,६६,७० | आइ (ई) | आदि | प्रथम |
| ८१ | आइमा | आदिम | प्राथमिक । |
| ४८ | आइमदुग | आदिमद्विक | पहिले दो—पहिला और दूसरा गुणस्थान । |
| ६१ | आउ | आयुष् | 'आयुष्'-नामक कर्म-विशेष । |
| ७८ | आवलिया | आवलिका | 'आवलिका'-नामक कालका भाग विशेष । |

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



| गा० | प्र० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ६०—आसुहुम | आसूक्ष्म | 'सूक्ष्मसंपण्य' नामक दसवें गुणस्थान तक । |
| ६,१६,२२,२४, ७५,३१,४६,५३ | आहार (ग) [५०-६,६२-२५] | आहार (-क) | 'आहारक' नामक मार्गणा, शरीर तथा कर्म-विशेष । |
| २६,४६,४७ ५५,५६ | आहार (-ग) दु (-ग) | आहार (-क) द्वि (-क) | 'आहारक' और 'आहारक मिश्र' नामक योग-विशेष । |
| | ४७—आहारमीस | आहारकमिश्र | 'आहारक मिश्र'-नामक काययोग-विशेष । |
| | १४—आहारेयर [६८-१३] | आहारेतर | 'आहारक' और 'अनाहारक' नामक दो मार्गणा विशेष । |
| | ६—इंदिय [४८-१] | इन्द्रिय | 'इन्द्रिय'-नामक मार्गणा-विशेष । |
| | ८०—इक्कसि | सकृत् | एक बार । |
| २२,५७ | —इक्का(गा)र | एकादश | ग्यारह । |
| | ७४—इक्किक्क | एकैक | एक-एक । |
| १०,१६,२७, ३२,५०, | —इग [५२-१] | एक | एक तथा 'एकेन्द्रिय'-नामक जीवजाति विशेष । |

| गा० | प्र० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ५२— | इगगुण | एकगुण | पहिला गुणस्थान । |
| ५२— | इगपच्चअ | एकप्रत्ययक | एक कारणसे होनेवाला बन्ध-विशेष । |
| ६४— | इगबीस | एकविंशति | इक्कीस । |
| १८— | इत्तो | इत | यहाँ से । |
| ११,२६,३९— | इत्थि [५३-१५] | स्त्री | 'स्त्रीवेद' नामक वेद-विशेष । |
| ७२— | इदम् इमं | इदम् | यह |
| ८१,८४— | इदम् इम | इमान् | इनको |
| ७८— | इदम् अस्स | अस्य | इसका |
| ४— | इदम् एसु | एषु | इनमें |
| २४,५२,६८, ७५,८०,८६ | —इय | इति | समाप्त और इस प्रकार । |
| ४४,४७,६३, | —इयर | इतर | उल्टा-प्रतिपक्षी । |
| २,४९— | इह | इह | यहाँ । |

## उ

| | | | |
|---|---|---|---|
| २९,३६,४६,५२, ५४,६०, | —उ | तु | तो |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ६१ –उइरंति[1] | उदीरयन्ति | उदित होते हैं । |
| | ७१—उक्कस्स | उत्कृष्ट | सबसे बड़ा । |
| | ५२—उत्तर | उत्तर | अवान्तर विशेष तथा 'औदयिक'-नामक भाव विशेष । |
| ७,८,६०-२,६७-२, ६६, | उदय (इक) —[६-१,१६७-६, २०५-२] | उदय | 'उदय' नामक कर्मोंकी अवस्था-विशेष । |
| | ७,८,—उदीरणा [६-५] | उदीरणा | 'उदीरणा'- नामक कर्मोंकी अवस्था विशेष । |
| | ७५,७७—उद्धरिअ | उद्धरित | निकाल लेना । |
| ४,५,२४,२६, ४६,४७, | —तरल[६३-८] | औदारिक | 'औदारिक' नामक काय योग विशेष । |
| | २६,२७,२८ –उरलदुग | औदारिक द्विक | 'औदारिक'-और 'औदारिकमिश्र'-नामक काययोग विशेष । |
| ४,२८,२६, ४६,५६, | उरलमीस (मिस्स) —(-जोग) | औदारिकमिश्र (-योग) | 'औदारिकमिश्रयोग'-नामक काय योग-विशेष । |
| | १,५,३०,३५,६५,—उपओग [५-८] | उपयोग | 'उपयोग'–नामक मार्गणा-विशेष |

१—क्रियापद शब्द विभक्ति-सहित रक्खे गये हैं ।

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ५६,७० | —उवरिम | उपरिम | ऊपर का । |
| १३,२२,२६,३४ ४६,६४,६७, | —उवशम [६५-६, १६६-२४,२०५-१] | उपशम | उपशम-नामक सम्यक्त्व तथा भाव-विशेष । |
| ६८ | —उपसमसेढी | उपशम श्रेणी | 'उपशम श्रेणि'-नामक श्रेणि-विशेष । |
| ७० | —उवसामग | उपशामक | ग्यारहवाँ और इससे गुणस्थान । |
| ५८,६०,६१, ६२, ७०, | —उवसंत | उपशान्त | 'उपशान्त मोह' नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान । |
| | | **ऊ** | |
| २६-२,२७,३१,४६, ५५,७७,७६,८१, | —ऊण | ऊन | कम |
| | | **ए** | |
| ८,५६,७०,७१,७५ | —एग | एक | एक । |
| ८१ | —एगजियदेस | एकजीवदेश | एक जीवके प्रदेश । |
| ७७ | —एगरासी | एकराशि | एक समुदाय । |
| २,१५,३६,३८,४६, | —ए(इ)गिंदि १०-११] | एकेन्द्रिय | एक इन्द्रियवाला जीव-विशेष । |
| ६६,८५ | —एव | एव | ही । |
| ७१,७६ | —एवं | एवम् | इस प्रकार । |

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | | **ओ** | |
| ७३ | —ओगाढ | अवगाढ | गहराई |
| १४,२१,२५ | —ओहिदुग | अवधिद्विक | 'अवधिज्ञान' और 'अवधिदर्शन' नामक दो उपमार्गणा-विशेष । |
| ३४ | —ओहिदंस | अवधिदर्शन | 'अवधिदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष । |
| १२,४०,४२ | —ओही [६३-१] | अवधि | 'अवधिदर्शन' तथा 'अवधिज्ञान' । |
| | | **क** | |
| २,३५,७६ | —कम | क्रम | बारी-बारी । |
| २४-२,२७,२८-२, २६,४७,५५, ५६-२ | —कम्म(-ण) | कार्मण | 'कार्मणशरीर'-नामक योग तथा शरीर विशेष । |
| ६,११,१६,२५, ३१,५०,२०,५७, ५२,६६ | —कसाय [४६-१२] | कषाय | 'कषाय'-नामक मार्गणा-विशेष तथा कषाय |
| १३ | —काऊ [६४-६] | कापोत | 'कापोत' नामक लेश्या-विशेष । |
| ६,३५,३६ | —काय [४६-३] | काय | 'काय'-नामक मार्ग तथा योग । विशेष । |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८५—काल | काल | 'काल'-नामक द्रव्य-विशेष । |
| १३—किण्हा [६३-१६] | कृष्णा | 'कृष्णा'-नामक लेश्या-विशेष । |
| १—किम् | किम् | कुछ । |
| ७६—किर | किल | पादपूर्त्यर्थ । |
| ३६—कीव | क्लीब | 'नपुंसकवेद'-नामक उपमार्गणा-विशेष । |
| ११,४२—केवल [५६-१६] | केवल | 'केवलज्ञान'-नामक ज्ञान दिशेष-तथा 'केवलदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष । |
| ६५—केवल जुयल | केवल युगल | " |
| ६,१७,११,२८,३१,३३,३७,४८,८५—केवलदु(-ग) | केवलद्विक | " |
| १२—केवलदंसण[६३-३] | केवलदर्शन | 'केवलदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष । |
| ४१,६७—केवलिन् | केवलिन् | केवलज्ञानी-भगवान् । |
| ११—कोह [५५-२] | क्रोध | 'क्रोध' नामक कषाय विशेष । |
| ४०—कोहिन् | क्रोधिन् | क्रोधवाला जीव । |

## ख

| | | | |
|---|---|---|---|
| १३ | —खइग [६६-१२] | क्षायिक | 'क्षायिक'-नामक सम्यक्त्व विशेष । |
| २२,३३,४४,६७-२, ६४,६८ | —ख(-इ)य[१६६-१६,५०५-२] | क्षायिक | 'क्षायिक'-नामक सम्यक्त्व तथा भाव-विशेष । |
| ७५ | —खवण | क्षपण | डालना । |
| ८६ | —खित्त | क्षिप्त | डाला हुआ । |
| ७५ | —खिप्पइ | क्षिप्यते | डाला जाता है । |
| ७४ | —खिविय | क्षिप्त्वा | डालकर । |
| ८१,८४ | —खिवसु | क्षिप | डालो । |
| ५८,६०,६२२-, ७०,७४,७५,७६ | —खीण | क्षीण | 'क्षीणमोह'-नामक बारहवां गुण-स्थान तथा नष्ट । |
| ८१,८४ | —खे(-क्खे)व | क्षेप | 'क्षेप'-नामक संख्या-विशेष । |
| ६६ | —खंध | स्कन्ध | पुद्गलों का समूह । |

## ग

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६,६६ | —गइ [४७-११] | गति | गति नामक मार्गणा-विशेष । |
| १६ | —गइतस | गतित्रस | 'तेजःकाय' और 'वायुकाय'-नामक स्थावर-विशेष । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ३,१८,२३,३५,५२— | गुण | गुण | गुणस्थान । |
| ५४,५६— | गुणचत्त | एकोनचत्वारिंशत | उन्तालीस । |
| १,७०— | गुणठा(ट्ठा)ण(-ण) | गुणस्थान(-क) | गुणस्थान । |

[४७] मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

| | | | |
|---|---|---|---|
| ७६— | गुणण | गुनन | गुणा करना । |
| ७२,७६,८१— | गुरु(-अ) | गुरु(क) | उत्कृष्ट । |

## च

| | | | |
|---|---|---|---|
| २३,६६,८४,८५— | च | च | और, फिर । |
| २,५,७,१०,१५, १८,१६,२०-२, २१,२७,३०,३४- २,३५-३,३८,५०, ५२,६०,६७-३, ७०-४,७७,७६-२ | —चऊ | चतुर | चार । |
| ६६— | चउगइ | चतुर्गति | 'मनुष्यगति', 'देवगति', 'तिर्यग्गति' और 'नरकगति'-नामक चार गतियाँ । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ६६—चउघाइन् | चतुर्घातिन् | 'ज्ञानावरण', 'दर्शनावरण', 'मोहनीय' और 'अन्तराय'-नामक चार कर्म । |
| | ८०—चउत्थत | चतुर्थक | चौथा । |
| | २—चउदस | चतुर्दश | चौदह । |
| ५२,५३ | —चउपच्चअ | चतुःप्रत्ययक | चार कारणों से होनेवाला बन्ध-विशेष । |
| | ७२—चऊपल्लपरुवणा | चतुष्पल्यप्ररूपणा | चार 'पल्यों' का वर्णन । |
| ८,३६,६३,७६ | —चऊर् | चतुर् | चार । |
| | ६,३२—चतुरिंदि | चतुरिन्द्रिय | चार इन्द्रियोंवाला जीव-विशेष । |
| | ५४,५७—चऊवीस | चतुर्विंशति | चौबीस । |
| ६-२,१२,१७,<br>२०,२८,३४ | —चक्खु [६२-४] | चक्षुष् | 'चक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष । |
| | ६४ ६५—चरण | चरित्र | 'चारित्र' । |
| १६ १७,१८,२०,<br>२१,२२,२७ | —चरम | चरिम | अखीरका । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ६०—चरिमदुग | चरिमद्विक | अन्तके दो (तेरहवां और चौदहवां गुणस्थान ।) |
| | ७४—चिय | एव | ही । |

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

## छ

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४,८-२,१७,१८, २३,२७,३६,३७, ४६,६१,५०-२, ६१ | —छ (क्क,ग) | षट् (-क) | छह |
| | १०—छक्काय [५१-१] | षट्काय | पांच 'स्थावर' और एक 'त्रस', इस तरह छह काय । |
| | ५५—छचत्त | षट्चत्वारिंशत् | छयालीस । |
| | ५१—छजियवह [१७७-१०] | षड्जीववध | पांच 'स्थावर' और एक 'त्रस' इस तरह छह प्रकार के जीवों का वध । |
| ७,२४ | —छलेस | षड्लेश्या | कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल'-नामक छह लेश्याएं । |
| | ५४-५६—छवीस | षड्विंशति | छब्बीस । |
| | ५४—छहिअचत्त | षडधिकचत्वारिंशत | छयालीस । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| १२,२१,२८,४२ | छेअ [५८-१२] | छेद | 'छेदोपस्थानीय'-नामक संयम-विशेष । |

## ज

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४८ | जय | यत | छठा गुणस्थान । |
| १०,३८ | जल [५२-१३] | जल | 'जलकाय'-नामक स्थावर जीव-विशेष । |
| १० | जलण [५२-१६] | ज्वलन | अग्निकाय'-नामक स्थावर जीव-विशेष । |
| ७१ | जहन्न | जघन्य | सबसे छोटा । |
| ७२,७६ | जा | यावत् | जबतक । |
| ८४ | जायइ | जायते | होता है । |
| ३५,७० | जिअ (य) | जीव | जीव । |
| १,२,४५ | जिअ(य)ठाण]३-१] | जीवस्थान | 'जीवस्थान' । |
| ३० | जिअलक्खण | जीवलक्षण | जीव का लक्षण । |
| ८६ | जिट्ठ | ज्येष्ठ | बड़ा । |
| १,५३ | जिण | जित | राग-द्वेष को जीतनेवाला । |

६६—जियत्त[२०० १४] जीवत्व 'जीवत्व'-नामक पारिणामिक भाव विशेष ।

३,१५,२७ ६७,
७८,७९,८०—जुअ(य) युत सहित ।

७१,८३—जुत्त युक्त सहित ।

७८—जुत्तासंखिज्ज [२१८-१५] युक्तासंख्यात 'युक्तासंख्यात'-नामक संख्या-विशेष ।

१,९ २२,२४,३१,
३९,४६,५०,५२,
५३,५८,६८—जोग (अ) (य) [५-११,४९-६] योग 'योग'-नामक मार्गणा-विशेष ।

८२—जोगछेय योगच्छेद योग के निर्विभाग अंश ।

६२ ६३—जोगिन योगिन् तेरहवें गुणस्थानवाला जीव ।

७३—जोयणसहस योचनसहस्र हजार योजन ।

७२—जंबूद्दीवपमाणय जम्बूद्वीपप्रमाणक 'जम्बू'-नामक द्वीपके बराबर ।

## ठ

३७—ठान स्थान गुणस्थान या मार्गणास्थान ।

८२—ठिइबंध स्थितिबन्ध कर्म-बन्धकी काल-मर्यादा ।

| गा० | प्रा० | सं | हि० |
|---|---|---|---|
| | | **त** | |
| ६५,७६-२ | —तइय | तृतीय | तीसरा । |
| ७४,७५,८३ | —तस्मि | तस्मिन् | उसमें । |
| ८३ | —तस्स | तस्य | उसका । |
| १८,२६,२७-२, २९,४७,४८,७९ | —तद् ते | ते | वे |
| ७६-२ | —तेहिं (हि) | तैः | उनके द्वारा । |
| ५,३३,८०,८१, ८४-२ | —तं | तत् | यह |
| ६१,७५ | —तओ | ततः | उससे |
| ७४ | —तदंत | तदन्त | उसके आखिर में । |
| १०,१६,२५, | तणु (-जोग) —[५३-४-१६४-१३,] | तनु (-योग) | 'काय-योग'-नामक योग-विशेष । |
| ४ | —तणुपज्ज | तनुपर्याप्त | 'पर्याप्त' शरीर । |
| ८४ | —तव्वग्ग | तद्वर्ग | उसका वर्ग । |
| १०,१६,१९,२५, ३१,३८ | —तस [५२-२०] | त्रस | 'त्रस'-नामक जीव-विशेष |

| गा० प० | सं० | हि० |
|---|---|---|
| ७४,८४—तह | तथा | उसी प्रकार । |
| ७४—ता | तावत् | तबतक । |
| २,७,१० २१,३०, ३२,३३,३८,४८, ५२,५७,७०,७७, ७९,३४,३५,३६, ३८,७० —ति (-ग) | त्रि (-क) | तीन । |
| ३२,३३,४८,—त्रिअनाण | त्र्यज्ञान | 'कुमति', 'कुश्रुत' और 'विभङ्ग'-नामक अज्ञान । |
| ८४—तिक्खुत्तो | त्रिकृत्व | तीन बार । |
| ५५—तिचत्त | त्रिचत्वारिंशत् | तेंतालीस । |
| ५२,५३ तिपच्चअ | त्रिप्रत्ययक | तीन कारणों से होनेवाला बन्ध-विशेष । |
| १०,१७,६४—तिय गइ)[५२-६] | त्रिक | तीन, तीन इन्द्रियोंवाला जीव-विशेष । |
| ५४—तियहिअचत्त | त्रिकाधिकचत्वारिंशत् | तेंतालीस । |

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| १०,१६,१९,२६, ३०,३७) | तिरि (-य) (गई) [५१-१७] | तिर्यञ्च (-गति) | 'तिर्यग्गति'-नामक गति-विशेष । |
| ८१,८५ | —तिवग्गिउं | त्रिर्वग्गितुम् | तीन बार वर्ग करने के लिये । |
| ८३ | —तिवग्गिय | त्रिर्वग्गित | तीन बार वग किया हुआ । |
| ७१ | —तिविह | त्रिविध | तीन प्रकार । |
| ७१ | —तिहा | त्रिधा | तीन प्रकार । |
| ७२,८०,८६ | —तु | तु | तो |
| ६६,७६ | —तुरिय | तुरीय | चौथा । |
| ४१ | —तुल्ल | तुल्य | बराबर । |
| ५० | —तेउतिग | तेजस्त्रिक | 'तेजः', 'पद्म' और शुक्ल' ये तीन लेश्याएं । |
| १३,१५ | —तेऊ [६४-१२] | तेजः | 'तेजः'-नामक लेश्या-विशेष । |
| २६,३५-२,७,२२ | —तेर (-स) | त्रयोदशन् | तेरह । |
| ११,५० | —त्ति | इति | समाप्त तथा इस प्रकार । |

## थ

| | | | |
|---|---|---|---|
| १५,२७,३२ | —थावर | स्थावर | 'स्थावर' नामक जीवों की जाति विशेष |
| १८ | —थी | स्त्री | 'स्त्री वेद,-नामक मार्गणा-विशेष । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ३७,३८-२,३९-२,४०,४१,४२,४३-३,४४-२,६३ | —थोव | स्तोक | थोड़ा |

## द

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९,३६ | —दग | दक | 'जलकाय'-नामक स्थावरजीव-विशेष। |
| ६,१६,२०,३१,५४,५८,८१ | —दस | दश | दस |
| ६५ | —दाणाइलद्धि | दानादिलब्धि | दान आदि पांच लब्धियां। |
| ७४,७७ | —दीवुदही | द्वीपोदधि | द्वीप और समुद्र। |
| ६-२,८,१५-२,१८,१९-२,२०,२१,२३-२,३५-२,३७,३८,४२,४४,४७,६२-२,६४,८२ | —दु(-ग) | द्वि | दो। |
| १६,३२ | —दुअनाण | व्यज्ञान | 'मत्यज्ञान' और 'श्रुताज्ञान' नामक दो अज्ञान। |

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ५२—दुपच्चअ | द्विप्रत्ययक | दो कारणों से होनेवाला बन्ध-विशेष । |
| | ३०—दुकेवल | द्विकेवल | 'केवलज्ञान' और 'केवलदर्शन'-नामक उपयोग-विशेष । |
| | ५४,५७—दु(-गा)वीस | द्वाविंशति | बाईस । |
| | ७२—दुच्चिय | द्वावेव | दो ही । |
| | ५६—दुमिस्स | द्विमिश्र | 'औदारिकमिश्र' और 'वैक्रियमिश्र,-नामक योग-विशेष । |
| | ४५—दुविह | द्विविध | दो तरह से । |
| | ३२,४८—दुदंस(-ण) | द्विदर्श(न) | 'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष । |
| | ३७ - देव | देव | देवगति । |
| | ८६—देविंदसूरि | देवेन्द्रसूरि | देवेन्द्रसूरि (इस ग्रन्थ के कर्त्ता) । |
| १२,१७,२२,२६,३३,४२,४६,४८,५६,६३ | —देस(-जय) | देश | देशविरति'-नामक पाँचवाँ गुण-स्थान । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ४२—नयण | नयन | 'चक्षुर्दर्शन'-नामक उपयोग-विशेष । |
| २१,३५,४३-२,६२ | —दो | द्वि | दो । |
| ६,९,३०,३४,४८-२ | —दस(-ण)[४९-२०] | दर्शन | 'दर्शन'-नामक उपयोग-विशेष । |
| | ३२—दसणदुग | 'दर्शनद्विक | ,चक्षुर्दर्शन' और अचक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष । |
| | ३३,४८—दंस(-ण)तिग | दर्शनत्रिक | 'चक्षुर्दर्शन और 'अचक्षुर्दर्शन' और अवधिदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष । |
| | | **ध** | |
| | ८१—धम्मदेस | धर्म्मदेश | 'धर्म'-नामक द्रव्यके प्रदेश । |
| | ६९—धम्म | धर्मादि | 'धर्म'-नामक अजीव द्रव्य-विशेष । |
| | | **न** | |
| ४७,४९-२,५४,८४ | —न | न | नहीं । |
| | ११,१६,२५—नपु (पुं) (-स) [५३-१६] | नपुंसक | नपुंसक । |
| | नमिय | नत्वा | नमस्कार करके । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ३१ | —नयणेयर | नयनेतर | 'चक्षुर्दर्शन' और अचक्षुर्दर्शन'-नामक उपयोग-विशेष । |
| ११,१५,१८,१९,२५,३१,३७,६८ | —नर[५३-१५] | नर | 'पुरुषवेद' और 'मनुष्यगति'-नामक मार्गणा-विशेष तथा मनुष्य । |
| १०,२५ | —नरगइ[५१-१५] | नरगति | 'मनुष्यगति'-नामक उपमार्गणा-विशेष । |
| १४,१९,२६ | —नरय | नरक | 'नरकगति' नामक उपमार्गणा-विशेष । |
| २०,२१,२९,३०,३३,५२,५४-२,६४ | —नव | नव | नौ । |
| ९,३०,३४,२,४९ | —नाण[४९-१६] | ज्ञान | ज्ञान और सम्यग्ज्ञान , |
| ३३-४८ | —नाणतिग | ज्ञानत्रिक | 'मतिज्ञान', 'श्रुतज्ञान' और 'अवधि-ज्ञान'-नामक तीन ज्ञान विशेष । |
| ८५ | —निगोयजोव | निगोदजीव | 'निगोद'-नामक जीव-विशेष । |
| ७४ | —निट्ठिय | निष्ठित | पूरा हो जाना । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ३३—नियदुग | निजद्विक | अपने दो। |
| | ७१—नियपयजुय | निजपदयुत | अपने पदसे युक्त। |
| १०,३०,३६,३७ | नि(ना)रय(-गइ) [५१-१८] | निरयगति | 'नरकगति'-नामक गति-विशेष। |
| | ११—नीला [६४-१] | नीला | 'नीला'-नामक लेश्या-विशेष। |
| | | प | |
| | ७९—पच्छा | पश्चात् | फिर। |
| | ४३—पच्छाणुपुव्वि | पश्चानुपूर्वी | पीछेके क्रमसे। |
| २,३,५-२,६,८, १७-२,४५ | पज्ज(ज)(-त्त) [११-३] | पर्याप्त | 'पर्याप्त'-नामक जीव-विशेष। |
| | १७—पज्जियर | पर्याप्तेतर | 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त'-नामक जीव-विशेष। |
| | ७३—पडिसलागा [२१२-१६] | प्रतिशलाका | 'प्रतिशलाका'-नामक पल्य-विशेष। |
| ३,७,१५,२०, २१-२,२८,३६, ७४-२,७६,७७, ७९ | —पढम | प्रथम | पहिला। |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| १६,२३ | —पढमतिलेसा | प्रथमत्रिलेश्या | पहिली तीन (कृष्ण, नील और कापोत) लेश्याएँ। |
| ६४ | —पढमभाव | प्रथमभाव | पहिला (औपशमिक) भाव। |
| १७,१९,३०.३१, ३५,३८,४५,५१, ५२,६१,६२,६५-२,६८,७० | —पण | पञ्च | पाँच। |
| ५३ | —पणतीस | पञ्चत्रिंशत् | पैंतीस। |
| ५४,५५ | —पणपन्न | पञ्चपञ्चाशत् | पचपन। |
| १०,१८,१९,२५,३१ | —पणिंदि [५२-१०] | पञ्चेन्द्रिय | पाँच इन्द्रियोंवाला जीव। |
| ८२ | —पत्तेयनिगोयअ | प्रत्येकनिगोदक | 'प्रत्येकनिगोद'-नामक जीव-विशेष। |
| ५२,६८ | —पनर | पञ्चदश | पन्द्रह। |
| ५४ | —पन्न | पञ्चाशत् | पचास। |
| ४७,५६ | —पमत्त | प्रमत्त | 'प्रमत्त'-नामक छठा गुणस्थान। |
| ६१ | —पमत्तंत | प्रमत्तान्त | 'प्रमत्त'-नामक छठे गुणस्थान तक। |
| ८३ | —पमाण | प्रमाण | प्रमाण। |
| १३,१४ | —पम्हा [६४-१७] | पद्मा | 'पद्मा'-नामक लेश्या-विशेष। |

| गा० | शा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ७७—परमसंखिज्ज [२१७-१६] | परमसंख्येय | 'उत्कृष्टसंख्यात'-नामक संख्या-विशेष। |
| ६४,६६,६७-२,६८ | —परिणाम [१९७-३, २०५-३] | परिणाम | 'पारिणामिक'-नामक भाव-विशेष। |
| ७१,८३ | —परित्तणंत | परित्तानन्त | 'परित्तानन्त'-नामक संख्या-विशेष। |
| ७१,७८ | —परित्तासंख [२१८-११] | परित्तासंख्यात | 'परित्तासंख्य'-नामक संख्या-विशेष। |
| १२.२१.२९,४१ | —परिहार [५९-७] | परिहार | 'परिहारविशुद्ध'-नामक संयम-विशेष। |
| | ८२—पलिभाग | परिभाग | निर्विभागी अंश। |
| ७२,७७-२ | —पल्ल | पल्य | 'पल्य'-नामक प्रमाण-विशेष। |
| २७,३६ | —पवण | पवन | 'वायुकाय'-नामक जीव-विशेष। |
| | ६९—पारिणामियभाव | पारिणामिकभाव | 'पारिणामिक'-नामक भाव-विशेष। |
| ४९,७१,७५ | —पि | अपि | भी। |
| | ८५—पुग्गल | पुद्गल | 'पुद्गल'-नामक द्रव्य-विशेष। |
| ५७,७४;८३,८४,८५ | —पुण | पुनः | फिर। |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ७४—पुन्न | पूर्ण | पूरा । |
| | ३९—पुरिस | पुरुष | 'पुरुषवेद'-नामक उपमार्गणा-विशेष |
| | ७५—पुव्वि | पूर्व | पहिला । |
| | ५८—पुव्वुत्त | पूर्वोक्त | पहिले कहा हुआ । |
| | ८,२७,६१—पंच | पञ्च | पाँच । |
| | ७९—पंचम | पञ्चम | पाँचवाँ । |
| | २—पंचिंदि [१०-१७] | पञ्चेन्द्रिय | पाँच इन्द्रियोंवाला जीव । |
| | | फ | |
| | ७६—फुड | स्फुट | स्पष्ट । |
| | | ब | |
| २,३,५,७,१५, ५८,५९ | —बायर [१०-३] | बादर | स्थूल और 'अनिवृत्तिबादर'-नामक नौवाँ गुणस्थान । |
| ५,१५,२०,३०, ३५,५१ | —बार(-स) | द्वादश | बारह । |
| | २,१०,३२,७९—बि(-य) | द्वि, द्वितीय | दो (द्वीन्द्रिय जीव) और दूसरा । |

| गा० | मा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ५६—बिकसाय | द्वितीयकषाय | 'अप्रत्याख्यानावरण'-नामक कषाय-विशेष। |
| | ६५,७५,७६—बीय(·य) | द्वितीय | दूसरा। |
| | १,१८,८०=५,१[illegible]·बंध [५·१६] | बन्ध | कर्मबन्ध। |
| | ५९—बंधइ | बध्नाति | बाँधता है। |

भ

| | | | |
|---|---|---|---|
| | ७६—भरसु | भर | भरो। |
| | ७४—भरिय | भरित | मरा हुआ। |
| | ९,२५,७४—भव(ब्व) [४९·२४] | भव्य | 'भव्य'-नामक जीवोंका वर्ग-विशेष। |
| | १३,१६—भवि(ब्वि)यर [६५·४] | भव्येतर | 'भव्य' और 'अभव्य'-नामक जीवोंके वर्ग-विशेष। |
| | १,७०—भाव [७·५] | भाव | जीवोंके परिणाम। |
| | ५—भास | भाषा | 'असत्यामृष'-नामक वचन-योग-विशेष। |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| १०,१९,३६,३८— | भू [५२-१४] | भू | पृथ्वीकाय । |
| १४,६४,६८— | भेय | भेद | प्रकार । |
| | | म | |
| ११,१४,२१, १ २५,४० । | —मइ(-णाण) [५२-३] | मति (-ज्ञान) | 'मति'-नामक ज्ञान-विशेष । |
| ४१— | मइअन्नाण | मत्यज्ञान | 'मत्यज्ञान'-नामक अज्ञान-विशेष । |
| १— | मग्गणठाण[४-३] | मार्गणास्थान | 'मार्गणास्थान' । |
| २३— | मग्गणा | मार्गणा | 'मार्गणास्थान' । |
| ७१,७९,८०,८६— | मज्झ | मध्य | मध्यम । |
| ७२— | मज्झिम | मध्यम | मध्यम । |
| १०,१७,२४,२८-२,२९,३५,३९,४६,४७ | —मण(-जोग) [५२-२४,५६-१४,१३४-६] | मन:(-योग) | 'मनोयोग'-नामक योग-विशेष । |
| ५१— | मणकरणाानियम [१७७-८] | मन:करणानियम | 'मन' और 'इन्द्रियों'को मर्यादाके अन्दर न रखना । |
| ११,६,१७,२१, २८,३०,४८,३४ | —मणनाण | मनोज्ञान | 'मन:पर्यय'-नामक ज्ञान-विशेष । |

| गा० | सं० | हि० |
|---|---|---|
| ४०—मणनाणिन् | मनोज्ञानिन् | 'मनःपर्यवज्ञान'वाला जीव । |
| ११,४९—मय [५५-३] | मद, मत | 'मानकषाय' और मानी हुई बात। |
| ७३—महासलागा [२१२-२०] | महाशलाका | 'महाशलाका'-नामक पल्य-विशेष। |
| ४०—माइन् | मायिन् | मायाकषायवाले जीव । |
| ४०—माणिन् | मानिन् | मानकषायवाले जीव । |
| ११—माय [५६-१] | माया | 'मायाकषाय' । |
| ३,११,१६,२६, ४४,४५,५०,५१, ५५-२,६३,६६ —मिच्छ [६७-११] | मिथ्यात्व | 'मिथ्यात्व' नामक पहिला गुणस्थान |
| ५३—मिच्छअविरइपच्चइअ | मिथ्यात्वाविरति-प्रत्ययक | 'मिथ्यात्व' और 'अविरति'से उत्पन्न होनेवाला बन्ध-विशेष । |
| ३२,४४—मिच्छदुग | मिथ्यात्वद्विक | 'मिथ्यात्व' और 'सास्वादन'-नामक पहिला और दूसरा गुणस्थान । |
| २२—मिच्छतिग | मिथ्यात्वत्रिक | 'मिथ्यात्व' 'सास्वादन' और 'मिश्र-दृष्टि'-नामक तीन गुणस्थान । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ५३ मिच्छपच्चइय | मिथ्यात्वप्रत्ययक | 'मिथ्यात्व'-से होनेवाला बन्ध-विशेष। |
| ५५,५७ | —मिस्स(मीस)दुग | मिश्रद्विक | 'औदारिकमिश्र' और 'वैक्रियमिश्र' नामक योग-विशेष। |
| १३,१७,२४-२, २९,३३,४४,४६, ४८-२,५५,५९, ६१,६३,६४,६७, ६९ | — मीस(-ग) [६७-८, ९०-२०,९१-२२, ९३-१,१९७-१, २०५-२] | मिश्र(-क) | तीसरा गुणस्थान, योग-विशेष, अज्ञान, सम्यक्त्व-विशेष और भाव-विशेष। |
| ५६ | —मुत्तु | मुक्त्वा | छोड़कर। |
| ६०,६९ | —मोह | मोह | 'मोहनीय'-नामक कर्म-विशेष। |
| | | य | |
| ९,१०,१३,२२, ३४,७५,७६,७७, ८२ | —य | च | और। |
| | | र | |
| ५७ | —रहिय | रहित | रहित। |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ७८,८३ | —रासि | राशि | समूह । |
| ७७,७८,७९-२, ८०,८१ | —रूव(प) [२१८-१६] | रूप | एक । |

ल

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६५ | —लद्धी | लब्धि | पाँच लब्धियाँ । |
| ७८-२,८०,८३-२,८४ | —लहु | लघु | जघन्य । |
| ७२ | —लहुसंखिज्ज [२०९-२४] | लघुसंख्येय | 'जघन्य संख्यात'-नामक संख्या-विशेष । |
| ८६ | —लिहिज | लिखित | लिखा । |
| १,९,३१,३६,४३,६६ | —लेसा [५-१३, ४९-२२] | लेश्या | छह लेश्याएँ । |
| ८१ | —लोगागासपएस | लोकाकाशप्रदेश | लोक-आकाशके प्रदेश । |
| ११,२० | —लोभ [५६-२] | लोभ | 'लोभकषाय' । |
| ४० | —लोभिन् | लोभिन् | लोभकषायवाले जीव । |

| | | |
|---|---|---|
| १७,६७,७४,७५—व(वा) | वा, इव | अथवा और जैसे। |
| २४,२७,२८-२, २९,४६ —वइ | वचस् | वचन। |
| ८४—वग्गसु | वर्गयस्व | वर्ग करो। |
| ८०—वग्गिय | वर्गित | वर्ग किया हुआ। |
| ३४,५३,५७—वज्ज | वर्ज | छोड़कर। |
| १०,१९,३६,३८—वण [५२-१७] | वन | वनस्पतिकाय। |
| ८५—वणस्सइ | वनस्पति | वनस्पतिकाय। |
| १०,१७,३५,३९,४०—वयण [५३-२, १३४-१०] | वचन | शब्द। |
| ८६—ववहरइ | व्यवहरति | कहा जाता है। |
| १६,६०,६९,७७,८४—वि | अपि | ही और भी। |
| २९,४६,४९—विउव्व(-ग) | वैक्रिय(-क) | 'वैक्रिय'-नामक शरीर तथा योग-विशेष। |
| ५,२७-२,२९,४६—विउव्व(व)दुग | वैक्रियद्विक | 'वैक्रिय' और 'वैक्रियमिश्र'-नामक योग-विशेष। |

| गा० | मा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ४,४७ | —विउव्व(व)मीस [९२-१८] | वैक्रियमिश्र | 'वैक्रियमिश्र'-नामक योग-विशेष। |
| २४ | —विउव्विय | वैक्रिय | 'वैक्रिय'-नामक योग-विशेष। |
| ३,१५,१९,२७,३६ | —विगल | विकल | दो, तीन और चार इन्द्रियवाले जीव। |
| ६,१८,५५,५८,६१ | —विणा | विना | सिवाय। |
| २८,३०,३३,४७, ५३,५५,६० | —विणु | विना | सिवाय। |
| १४,४० | —विभं(ब्भं)ग | विभङ्ग | मिथ्या अवधिज्ञान। |
| ३५ | —विरइदुग | विरतिद्विक | 'देशविरति' और 'सर्वविरति'-नामक पाँचवें और छठे गुणस्थान। |
| ६ | —विहुण | विहीन | रहित। |
| ६८ | —वीस | विंशति | बीस। |
| १,१८ | —वुच्छं | वक्ष्ये | कहूँगा। |
| ९,११,२०,३१, ६१,६६ | —वेअ(य) [४९ १०] | वेद | 'वेद'-नामक मार्गणा-विशेष। |
| ७३ | —वेउव्वंग | वैक्रियाङ्ग | वैक्रिय शरीर। |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| १३,२२,३४,४४ | --वेयग [६६-१०] | वेदक | क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि जीव । |
| ५८ | --वेयति | वेदन्ति | स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। |

## स

| | | | |
|---|---|---|---|
| २१,४५,५८,६१ | --सग | सप्त | सात । |
| ५२ | --सगवन्न | सप्तपञ्चाशत् | सत्तावन । |
| ७९ | --सगासंख | सप्तमासंख्यं | सातवाँ असंख्यात । |
| २४ | --सच्चेयर [९०-१४, १७, ९१-१६, १९] | सत्येतर | सत्य और असत्य । |
| २२,३६ | —सठाण | स्वस्थान | अपना-अपना गुणस्थान । |
| ७,८-३,२३,५४, ५९-२,६०-२,७९ | —सत्त | सप्तन् | सात । |
| २,३-२,४,५,६, ८,९,१४,१७, १८,१९,२५,३१, ४५-२ | —सन्नि [१०-१९, ५०-४] | संज्ञिन् | मनवाला प्राणी । |
| ७,१४,४५ | --सन्निदुग | संज्ञिद्विक | पर्याप्त और अपर्याप्तसंज्ञी । |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| १३,४५ | सन्नियर [६७-१६] | संज्ञीतर | मनवाला और बे-मन प्राणी। |
| ६४,६८ | सन्निवाइय [१९७-९] | सान्निपातिक | 'सान्निपातिक'-नामक एक भाव-विशेष। |
| ४०,६२,६९,८२ | सम | सम | बराबर। |
| २१,२८,४२ | समइ(ई)य | सामायिक | 'सामायिक'-नामक संयम-विशेष। |
| ८२ | समय | समय | कालका निर्विभागी अंश। |
| ७८ | समयपरिमाण | समयपरिमाण | समयोंकी मिक़दार। |
| ९,४५,६४,६५-२,७० | सम्म [४९-२५] | सम्यग् | 'सम्यग्दर्शन'। |
| १४ | सम्मत्ततिग | सम्यक्त्वत्रिक | 'औपशमिक', 'क्षायिक' और 'क्षायोपशमिक'-नामक तीन सम्यक्त्व विशेष। |
| २५ | सम्मदुग | सम्यक्त्वद्विक | 'क्षायिक' और 'क्षायोपशमिक'। |
| ४७,५८ | सयो(जो)गि | सयोगिन् | 'सयोगी'-नामक तेरहवाँ गुणस्थान। |
| ७४,७५,७७ | सरिसव | सर्षप | सरसों। |
| ७३,७५,७६ | सलाग [२१२-१२] | शलाका | 'शलाका'-नामक पल्य-विशेष। |
| ७५ | सलागपल्ल | शलाकापल्य | शलाकापल्य। |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ३,५,१६,१९,२५, ४५,५०,७१, ७७,८५ | —सव्व | सर्व | सब। |
| ७३ | —ससिहभरिय | सशिखभृत | शिखा—ऊपर तक भरा हुआ। |
| ११ | —सागार [५७-८] | साकार | आकारवाले-विशेष उपयोग। |
| १२ | —सामाइय[५७-२०] | सामायिक | 'सामायिक'-नामक संयम-विशेष। |
| ५१ | —साय | सात | सातवेदनीय कर्म। |
| १३,१८,२६,४३, ४५,४९,५५,६३ | —सासा(स)ण [६७-१] | सासादन | 'सासादन'-नामक दूसरा गुणस्थान। |
| ४९ | —सासणभाव | सासादनभाव | 'सासादन'की अवस्था। |
| ६८,८५ | —सिद्ध | सिद्ध | मुक्त जीव। |
| ११-२,१४,२१, २५,४०,४९ | —सुअ(य) [५६-६] | श्रुत | शास्त्र। |
| १३,१४,२२,३१, ३७,५० | —सुक्का [६४-२२] | शुक्ला | 'शुक्ला'-नामक लेश्या-विशेष। |
| ८० | —सुत्तत्त | सूत्रोक्त | सूत्रोंमें कहा हुआ। |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| | ४१--सुयअन्नाण | श्रुताज्ञान | 'श्रुताज्ञान'-नामक मिथ्याज्ञान-विशेष। |
| १०,१४,१८,२६,३०- | सुरगइ [५१-१३] | सुरगति | देवगति। |
| २,५,१२,१८,२२, २९,३७,४१,५८, ५९,६१,६२ | --सुहुम[९-१८, ६०-२३] | सूक्ष्म | 'सूक्ष्म'-नामक वनस्पतिकायके जीव-विशेष। |
| | ८६—सुहुमत्थवियार | सूक्ष्मार्थविचार | 'सूक्ष्मार्थविचार' अपर-नामक यह ग्रन्थ। |
| ३,७,३७,४५,५३, ६५,६९,७० | -सेस | शेष | बाकी। |
| | ५२,५३,५४,५८—सोल(-स) | षोडश | सोलह। |
| | ४१,४२,४३-२,४४—संख | संख्य | संख्यातगुना। |
| | ३९,४१,६२,६३—संखगुण | संख्यगुण | संख्यातगुना। |
| | १,७१—संखिज्ज | संख्येय | संख्या। |
| | ९,३४—संजम [४९-१८] | संयम | 'संयम'। |
| | ५८—संजलणत्ति | संज्वलनत्रिक | संज्वलन क्रोध, मान और माया। |

| गा० | प्रा० | सं० | हि० |
|---|---|---|---|
| ७,८,६० | संत [६·८] | सत्ता | 'सत्ता'। |
| ६० | संतुदय | सत्तोदय | 'सत्ता' और 'उदय'। |
| ५१ | संसइय [१७६·९] | सांशयिक | 'सांशयिक'-नामक मिथ्यात्व-विशेष। |

ह

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८६ | हवेइ | भवति | होता है। |
| ५०,५४ | हेउ | हेतु | सबब। |
| ८०,८४ | होइ | भवति | होता है। |

* समाप्त *